"भारतीय दर्शन में आत्मा की अमरता के सम्प्रत्यय के सन्दर्भ में मोक्ष की अवधारणा का समीक्षात्मक अध्ययन"

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की डी०फिल्०डिग्री के लिये प्रस्तुत 'शोध-प्रबन्ध'

शोधार्थिनी

कंचन गुप्ता (एम०ए०)

शोध-निर्देशिका

डॉ० मृदुला रवि प्रकाश (डी० फिल्)

विभागाध्यक्ष

दर्शनशास्त्र विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

दर्शनशास्त्र विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

२००२ - २००३

आत्म-निवेदन

भारत मे दर्शन का अध्ययन मात्र ज्ञान प्राप्ति के लिये नही, वरन् जीवन के चरम उद्देश्य की प्राप्ति के लिये किया गया है, और जीवन का यह चरम उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति है। मोक्ष से तात्पर्य जहॉ भारतीय दर्शन मे 'दु खो की आत्यन्तिक निवृत्ति है वही पाश्चात्य–दर्शन पूरी तरह सैद्धान्तिक है। वहॉ के दर्शन की उत्पत्ति आश्चर्य एव उत्सुकता से हुई है। अपनी जिज्ञासा को तृप्त और शान्त करने के लिये पश्चिमी दार्शनिक ईश्वर आत्मा एव जगत् सम्बन्धी विचारो के विश्लेषण एव अन्वेषण मे प्रवृत्त हुआ। पाश्चात्य दर्शन का उद्देश्य है– ज्ञान, ज्ञान के लिये। इस प्रकार पश्चिम मे दर्शन को साध्य के रूप मे स्वीकार किया गया है।

भारतीय दर्शन मे आत्मा परम–ज्ञेय है। "आत्मावाऽरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च।" बृहदारण्यकोपनिषद् के मैत्रेयी ब्राह्मण का यह वाक्य भारतीय दर्शन और धर्म का मूल–मत्र है। इसका अर्थ है आत्मा साक्षात् अनुभव करने योग्य है और यह अनुभव श्रवण, मनन एव निदिध्यासन से प्राप्य है। चार्वाक मत को छोडकर सभी भारतीय दर्शनो ने इसे न्यूनाधिक रूप से स्वीकार किया है।

"भारतीय दर्शन मे आत्मा की अमरता के सम्प्रत्यय के सन्दर्भ मे मोक्ष की अवधारणा का समीक्षात्मक अध्ययन" पर शोध करने की प्रेरणा मुझे समाराधनीया डॉ० मृदुला रवि प्रकाश, अध्यक्ष दर्शनशास्त्र विभाग से मिली, जो हमारी स्नातक स्तर की भी गुरु रही है, यह हमारे बडे सौभाग्य की बात है। मैने इन्ही की प्रेरणा से यह विषय शोध के लिये चयनित किया है। मै जो कुछ भी शोध–प्रबन्ध मे प्रस्तुत कर सकी हूँ उन्ही के पथ–प्रदर्शन एव आशीर्वाद का परिणाम है।

आत्मा के स्वरूप एव मोक्ष की अवधारणा पर प्राप्त सामग्री का सम्पूर्ण रूप से अध्ययन करना अत्यन्त कठिन है, क्योकि आत्मा व मोक्ष ही भारतीय दर्शनो का मूल है, किन्तु फिर भी प्रमुख भारतीय प्राचीन एव समकालीन दर्शनो जैसे– वेद, उपनिषद् गीता, चार्वाक, जैन, बौद्ध, साख्य, न्याय, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, दयानन्द,

टैगोर तथा अरविन्द आदि के अध्ययन के उपरान्त मैने उनके विचारो का अपने शोध–प्रबन्ध मे समावेश किया है।

जहॉ तक शोध–प्रबन्ध के सन्दर्भ मे मेरी मौलिकता का प्रश्न है तो मै यह कहना चाहूँगी कि इस निबन्ध मे मैने जो कुछ भी लिखा है, वह सब पूर्व के मनीषियो एव महान् पुरुषो के चिन्तन का फल है। इस दृष्टि से इसमे कुछ नया नही है, किन्तु आत्मा की अमरता के सम्प्रत्यय के सन्दर्भ मे मोक्ष प्राप्ति के विषय मे दार्शनिक तत्त्वो का जो निरूपण प्रकृत शोध–प्रबन्ध मे किया गया है, वह सब मौलिक है। मैने इस निबन्ध मे उक्त सभी दार्शनिक मतो मे आत्मा एव मोक्ष सम्बन्धी विचारो के अध्यनोपरान्त मोक्ष के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

सर्वप्रथम शोध–प्रबन्ध की निर्विध्न परिसमाप्ति के लिये मै देवाधिदेव महादेव एव महादेवी, वाग्देवी तथा पूज्य पिता स्व० श्री हरिश्चन्द्र जी के चरणो मे सादर नमन करती हूँ। तत्पश्चात् मै अपनी शोध निर्देशिका विद्वद्वरेण्या, श्रद्धेया डॉ० मृदुला रवि प्रकाश, अध्यक्ष दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, जिनका जीवन दर्शन के प्रति समर्पित है के प्रति कुछ भी कह पाने का साहस नही कर पा रही हूँ । उन्होने अपना अमूल्य सुझाव एव समय देकर मुझे कृतार्थ ही नही किया बल्कि मेरी उन त्रुटियों को भी परिष्कृत किया जो मेरी समझ से परे थी। अत मै कृतज्ञतावश आजीवन उनकी ऋणी रहूँगी।

पुन मै अपने पूज्य गुरुजनो, परिजनो एव मित्रो की आभारी हूँ जिन्होने शोध– प्रबन्ध मे मेरी मदद् की है। इस शोध प्रबन्ध महामाला के लिये मोतियो को सचित करने की क्रिया मे श्रद्धेया, माननीया डॉ० मृदुला रवि प्रकाश के अतिरिक्त पूजनीय गुरुदेव प्रो० सगल लाल पाण्डेय, प्रो० रामलाल सिह एव प्रो० देवकी नन्दन द्विवेदी जी का भी आशीर्वादात्मक सहयोग रहा है। यहॉ पर श्रद्धेय बाबू श्री रामलखन जी गुप्त, सम्मानीय मामी एव मामा श्रीमती एव श्री महेश प्रसाद जी गुप्त

एव पूजनीय मम्मी श्रीमती रामजानकी जी गुप्ता के प्रति आभार प्रदर्शन करना मेरी लघुता होगी जिन्होने प्रीतिवश मुझे गृहस्थ जीवन के दायित्वो से निश्चिन्त कर मेरे शोध–प्रबन्ध को पूर्ण करने मे सहयोग प्रदान किया । मेरे शोध प्रबन्ध को पूर्ण करने मे मेरी प्रेरणा का स्रोत रहे मेरे पति श्री विनोद कुमार गुप्त (प्रवक्ता सस्कृत) उन्होने शोध प्रबन्ध लेखन के मार्ग मे आने वाली समस्त कठिनाइयो मे मुझे सम्बल प्रदान किया। मेरा यह लघु प्रयास उन्ही के अपार स्नेह और सहयोग का प्रतिफल है। मेरे नवजात पुत्र चि० चन्द्रमौलि का स्मरण भी यहॉ आवश्यक है जिसकी शैशवकालिक सुलभ चचलताओ ने मुझमे नवीन स्फूर्ति का सचार किया।

मेरी परममित्र कु० पद्मजा श्रीवास्तव एव श्रीमती अनीता देवी ने अध्यापन कार्य मे व्यस्त रहते हुए भी शोध–प्रबन्ध को पूर्ण करने मे सहयोग प्रदान किया । श्री सूर्य प्रकाश जी गुप्त जिन्होने प्रकृत शोध–प्रबन्ध को मुद्रित करने मे बडी तत्परता दिखाई, वे भी धन्यवाद के पात्र है।

अन्तत मेरे समस्त प्रयत्नो के बावजूद यदि मेरे शोध–प्रबन्ध मे कुछ त्रुटियॉ रह गयी हो तो उसके विषय मे मै यह कहना चाहूँगी कि–

गच्छत स्खलन क्वापि भवत्येव प्रमादत ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जना ।।

अत मानवीय बुद्धि के कारण यहॉ पर मैने प्रमाण एव सिद्धान्त के विरुद्ध यदि कुछ कह दिया हो तो इसके लिये मै क्षमाप्रार्थिनी हूँ।

धन्यवाद ।

दिनाक १५ ०६ ०२

विनयावनता

Kanchan

कंचन गुप्ता

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

भूमिका

भारतीय दर्शन मूल्यो का दर्शन है। भारतीय ऋषियो के लिये दार्शनिक चिन्तन का मुख्य लक्ष्य बन्धन के कारणो का पता लगाकर उससे मुक्ति पाना था, तात्त्विक विवेचन तो केवल साधन रूप है। अत विविध भारतीय सम्प्रदाय केवल विचार प्रणाली ही नही वरन् जीवन प्रणाली भी है।

'आत्मा' अत् धातु से 'मनिण्' प्रत्यय करके निष्पन्न 'आत्मन्' शब्द का एक वचनान्त रूप है जो पुल्लिग मे प्रयुक्त होता है। जिसका अर्थ है– 'सातत्यगमन।'[1] शब्दकल्पद्रुम[2] मे 'सतत्गमनशील' का अर्थ जो जाग्रत स्वप्न एव सुषुप्ति सभी अवस्थाओ मे रहता है– ऐसा किया गया है। गमन का अर्थ ज्ञान भी है, अत जो नित्य ज्ञान का विषय है, आश्रय है या ज्ञान रूप है, आदि अर्थो मे आत्मा शब्द का प्रयोग होता है। अत आत्मा ज्ञानरूप है, उसे अपने ज्ञान के लिये अन्य ज्ञान की आवश्यकता नही है। उसमे ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय का भेद नही है, चिदानन्दैकस्वरूप होने से, वह स्वत प्रकाशमान है।

यास्क[3] ने इसकी व्युत्पत्ति दो धातुओ 'अत्गमन करना' अर्थ मे, और 'अप–व्याप्त होना' अर्थ मे, से दी है। उन्होने 'आत्मा' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है– "आत्मा अततेर्वा आप्तेर्वा अपि वाप्त इव स्याद् यवाद् व्याप्ति भूत।" अर्थात् जो सतत् गमन करता है, वह आत्मा है या जो सर्वत्र व्याप्त है वह आत्मा है या जो व्याप्त सा प्रतीत होता है, वह आत्मा है।

आत्मा के स्वरूप एव मोक्ष के प्रति विभिन्न दार्शनिक अवधारणाओ पर विचार करने के पूर्व यह प्रश्न उपस्थित होता है कि 'आत्मा जैसे तत्त्व के दार्शनिक चिन्तन की आवश्यकता क्यो पडी ? दर्शनशास्त्र मे इस प्रश्न का समावेश क्यो किया गया ?

---

[1] अतसातत्यगमने, पाणिनीय धातुपाठ –१/३८

[2] आत्मा–अतीत सततमावेन जग्रदादि सर्वास्वस्थासु अनुक्तते, अत् सातत्यगमने + मनिन् — शब्दकल्पद्रुम

[3] निरुक्त ३/१५

इस प्रश्न पर विचार करने पर हम देखते है कि आत्मा का विषय चिन्तन मे लाने के लिये सबसे अधिक उत्तरदायी वस्तु है मनुष्य की अपने प्रति मोह की भावना। हम अपने अस्तित्व की वास्तविकता समझने की ओर उन्मुख होते है। अहम् प्रतीति के विषय का अन्वेषण– कि जिसे हम 'मै' शब्द के द्वारा व्यजित करते है वह वास्तव मे क्या है? क्या शरीर, मन, इन्द्रियॉ एव बुद्धि आदि अह का विषय है अथवा इनसे परे या भिन्न कोई स्वतन्त्र सत्ता 'अह' का द्योतक है? इन प्रश्नो ने दार्शनिको को आत्मा–विषयक चिन्तन के लिये प्रेरित किया। अलग–अलग सम्प्रदाय वाले दार्शनिको ने भिन्न–भिन्न प्रकार से इस प्रश्न का समाधान करने की चेष्टा की जिस दार्शनिक को जो कुछ भी 'अह' का विषय समझ मे आया उसने उसी को आत्मा का नाम दे दिया।

आत्म–विश्लेषण के अतिरिक्त विश्व–विश्लेषण ने भी इस विषय को सामने ला दिया। विश्व की वस्तुओ का विश्लेषण करते समय दार्शनिको ने विश्व मे दो प्रकार के तत्त्वो को पाया– चेतन एव अचेतन। जिनमे से चेतन तत्त्व ने उनके सम्मुख एक बडी समस्या पैदा कर दी और इस चेतन तत्त्व के स्वरूप को जानने का प्रयास किया जाने लगा।

आत्मा के स्वरूप का सभी भारतीय दर्शनो मे सूक्ष्म एव भव्य विवेचन किया गया है। केवल चार्वाक दर्शन मे ही चैतन्य विशिष्ट देह को आत्मा माना गया है, इसके अतिरिक्त अन्य दर्शनो मे किसी न किसी रुप मे नित्य एव शाश्वत आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते हुए मोक्ष की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है।

मोक्ष शब्द 'मोक्ष' धातु से धञ् प्रत्यय करके निष्पन्न होता है। जिसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है– 'छुटकारा या मुक्ति प्राप्त करना।' इस व्युत्पत्ति के आधार पर कहा जा सकता है कि आत्म–बोध होने पर अध्यास से उत्पन्न बन्धन से छुटकारा पाने का नाम ही मुक्ति है। अत इस आधार पर हम यह कह सकते है कि आवागमन के बन्धन से या ससरण चक्र से छुटकारा पा जाना ही मोक्ष है। मोक्ष को अन्य दर्शनो मे

निर्वाण, कैवल्य, अपवर्ग, नि श्रेयस श्रेयस, अमृत एव मुक्ति भी कहा गया है
आत्मा सदा ही विकारो से रहित होने के कारण बन्धन एव मोक्ष के प्रश्न व
किन्तु अज्ञानवश जीव के वर्ग मे आने पर उसमे 'अहकार' 'ममकार यह मेर
तुम्हारा है आदि बन्धन उत्पन्न होने के कारण जीव अपने वास्तविक स्वरूप व
मे असमर्थ हो जाता है। वह अविद्या के कारण ससार की वस्तुओ से मिथ्य
स्थापित कर लेता है। यही मिथ्या सम्बन्ध ही जीव के बन्धन का कारण है। ज
के नष्ट हो जाने पर जीव अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है
मुक्त कहलाता है। मोक्ष की प्राप्ति भारतीय दर्शन मे कर्म, ज्ञान एव भक्ति
माध्यम से सभव बताई गयी है।

उपनिषद्, गीता, साख्य–योग, पूर्व एव उत्तर मीमासा मे आत्मा के स
विस्तृत विवेचन किया गया है। आत्मा का विश्लेषण करते हुये कहा गया है वि
स्वप्न एव सुषुप्ति आत्मा की विभिन्न अवस्थाये है। शुद्ध आत्मा 'तुरीय' अव
जागृत अवस्था मे आत्मा बाह्य वस्तुओ का अनुभव करता है, स्वप्नावस्था मे
जगत् का तथा सुषुप्ति अवस्था मे यह केवल आनन्द का अनुभव करता है। य
का आशिक ज्ञान है। पूर्ण आत्मा समस्त अनुभवो से परे है वही शुद्ध अद्वैत
तथा इसका ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है।

भारतीय दर्शन मे आत्मा को दो वर्गो जीवात्मा एव परमात्मा के अर्न्त
गया है। आत्मा का सूक्ष्म विश्लेषण करके यह माना गया है कि शरीर, मन, प्र
ये सब परिवर्तनशील बाह्य रूप है, आत्मा के वास्तविक रूप नही, यद्यपि इन स
आधार आत्म तत्त्व ही है। जीव अज्ञानवश सुख–दु ख आदि बन्धनो से ग्रस्त
होने पर इन बन्धनो से छुटकारा पाया जा सकता है। आत्मज्ञान होने पर

---

[1] मुक्ति कैवल्यनिर्वाणश्रेयोनि श्रेयसामृतम्।
मोक्षोऽपवर्ग ।। —अमरकोष प्रथमकाण्ड धीवर्ग–पॉच, श्लोक सख्या, छ ।

समाप्ति हो जाती है, क्योकि आत्मा एक ही है। वह सच्चिदानन्द स्वरूप है। वस्तुत आत्मा एव परमात्मा एक ही है। आत्मा सर्वव्यापी होने के कारण प्रकट नही दिखलाई पडता है, किन्तु जो सूक्ष्मदर्शी है वे अपनी बुद्धि से उसे देख लेते है। अत जो ब्रह्म का साक्षात्कार करता है, वह ब्रह्म के साथ तादात्म्यीकरण कर मुक्ति पाता है।

आत्मा और मोक्ष की अवधारणा भिन्न–भिन्न दर्शनो मे पायी जाती है एव उनका समाधान भी परस्पर भिन्न है कुछ मे थोडा विभेद है तो कुछ मे अधिक। आत्मा की अमरता का प्रश्न प्रत्येक दर्शन मे किया गया है तथा उसका समाधान भी समझाने की चेष्टा की गयी है। आत्मा की अमरता का सम्प्रत्यय मोक्ष के लिये ही स्वीकार किया गया है, क्योकि यदि आत्मा को भी मरणशील मान लिया जाये तो मोक्ष की व्याख्या करना कठिन होगा। इसके अतिरिक्त कर्मफल सम्बन्ध के मूल मे कर्त्ता–आत्मा की नित्यता विद्यमान है। कर्म की अवस्था और फल की अवस्था के अन्तराल को मिटाया नही जा सकता। यदि कर्म की अवस्था मे कर्त्ता, फल की अवस्था के भोक्ता से भिन्न हो तो कर्म के कर्त्ता को फल नही मिल सकता। वस्तुत कर्त्ता एव भोक्ता दोनो एक ही है। यह तभी सभव है जब आत्मा को नित्य माना जाये। यदि आत्मा को प्रतिक्षण परिवर्तनशील माना जाये तो नैतिकता असभव हो जायेगी एव सभी जगहो पर कृतप्रणाश और अकृताभ्युपगम होगा। वास्तविकता यह है कि कर्त्ता एव भोक्ता दोनो एक है, क्योकि आत्मा अमर है।

इसाई धर्म तथा इस्लाम धर्म मे जहॉ ईश्वर को आत्मा का सृष्टा बताया गया है, वही भारतीय दर्शन मे आत्मा को असग, अजर, अमर, अनादि, स्वप्रकाश एव सुख स्वरूप कहा गया है। आत्मा एव ब्रह्म मे वस्तुत अभेद है। आत्मा की सत्ता स्वत सिद्ध एव प्रमाणिक है। सभी व्यक्तियो को आत्मा के अस्तित्व मे विश्वास है, क्योकि यदि आत्मा का अस्तित्व न होता तो किसी को अपने अस्तित्व मे विश्वास न होता। अत आत्मा का अस्तित्व है। जगत् अचेतन अथवा जड है जबकि आत्मा चैतन्य स्वरूप है।

चार पुरुषार्थो मे मोक्ष को अन्तिम पुरुषार्थ के रूप मे स्वीकार किया गया है। इसे मूल्य के रूप मे भारतीय दर्शन मे सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। भारतीय दर्शन की यही विशेषता इस दर्शन को पश्चिमी दर्शनो से पृथक् करती है। पाश्चात्य दर्शनो मे मानव जीवन का लक्ष्य मानवता की सेवा तथा नैतिक व धार्मिक जीवन है वही भारतीय ऋषियो का मानना है कि ये केवल साधन मूल्य है, साध्य मूल्य तो सभी दु खो की आत्यन्तिक निवृत्ति तथा जन्म–मरण के चक्र से छुटकारा पाना है। इन ऋषियो के चिन्तन का मुख्य लक्ष्य जीवन के दु खो को दूर करना है, तात्त्विक प्रश्नो का विवेचन तो केवल साधन रूप ही है।

आत्मा के सम्बन्ध मे भारतीय दर्शनो मे पर्याप्त मतभेद विद्यमान है। चार्वाक दर्शन के अनुसार चैतन्य–विशिष्ट देह ही आत्मा है। उनका मानना है कि शरीर ही आत्मा है बशर्ते कि उसमे चैतन्य हो। कर्त्ता एव भोक्ता भी वही है। बौद्धमतानुसार जीवात्मा विज्ञान के रूप मे है यह विज्ञानो का प्रवाह है अत इसका कोई परिमाण नही हो सकता ये नित्य आत्मा को स्वीकार नही करते है। वही जैन दर्शन की मान्यता है कि जीवात्मा देह से भिन्न है, किन्तु वह शरीर या देह के ही परिमाण वाला है। शरीर या देह के बढने एव घटने पर जीवात्मा भी घटता–बढता रहता है। इनके अनुसार जीवात्मा नित्य तो है, किन्तु उसमे विकार होते रहते है। नैयायिको एव वैशेषिको का कहना है कि जीवात्मा के गुण बुद्धि, सुख, दु ख आदि जब अनित्य है तो जीवात्मा भी विकारी है, क्योकि धर्मी मे आने–जाने वाले धर्म–धर्मी को भी विकारशील बना देते है। अद्वैत–वेदान्त मे एव साख्य–योग मे आत्मा को निर्गुण माना गया है जबकि द्वैत एव विशिष्टाद्वैत वेदान्त मे आत्मा को सगुण माना गया है।

आत्मा की भॉति ही मोक्ष की अवधारणा भी अलग–अलग दर्शनो मे भिन्न–भिन्न है लेकिन सभी भारतीय दर्शनो मे मोक्ष दार्शनिक चिन्तन की चरम परिणति है। इन दर्शनो मे माना गया है कि मनुष्य का जीवन दु खो से परिपूर्ण है इसलिये भारतीय दर्शनो का मुख्य लक्ष्य जीवन के क्लेशो को दूर करने का उपाय खोजना है। सभी

दु खो, क्लेशो एव बुराइयो को दूर करने का उपाय मोक्ष–प्राप्ति है। मोक्षावस्था मे समस्त दु ख एव क्लेश स्वत समाप्त हो जाते है। पाश्चात्य दर्शन मोक्ष के प्रश्न पर मौन है इसी कारण वे इस सम्बन्ध मे भारतीय दर्शन से एक नई दिशा का निर्देश पाते है। यद्यपि हीगेल के दर्शन मे भौतिकवाद के तुच्छ धरातल से ऊपर उठकर पूर्ण प्रत्ययवाद मे प्रवेश करने की चेष्टा हुई है, किन्तु भारतीय दर्शनो के तारतम्य तथा गम्भीरता का उन दर्शनो मे लेशमात्र नही है।

उपनिषदो मे मोक्ष को परम–पुरुषार्थ के रूप मे स्वीकार किया गया है। मोक्ष ही बन्धन का अन्त है, ससार का विनाश एव दु खो का उच्छेद है। षड्दर्शनो (बौद्ध थोडा भिन्न है) मे मोक्ष की अवस्था आत्मा की स्वाभाविक अवस्था है। यह आत्मा के निजस्वरूप की प्राप्ति है। न्याय दर्शन के अनुसार चैतन्य आत्मा का स्वाभाविक गुण न होकर आगन्तुक गुण है जो शरीर, मन आदि के सयोग से उत्पन्न होता है मोक्षावस्था मे मुक्त जीव मे चैतन्य का अभाव पाया जाता है। इस कारण मुक्त आत्मा का अन्य आत्माओ या ईश्वर से कोई सम्बन्ध नही रहता है वह पाषाणवत् शून्य हो जाती है। वही चार्वाक दर्शन मे देह नाश को ही मुक्ति कहा गया है। जबकि शून्यवादी आत्मा का उच्छेद होना ही मोक्ष मानते है। साख्य योग मे कैवल्य का अर्थ है– पुरुष का प्रकृति से पूर्णतया सम्बन्ध विच्छेद। पुरुष की अपने स्वरुप मे अवस्थिति को ही मोक्ष कहा गया है। अद्वैत–वेदान्त मे आत्मा व ब्रह्म मे तादात्म्य स्थापित किया गया है, इसलिये मोक्ष की अवस्था मे आत्मा को स्वरुप लाभ या ब्रह्म से तादात्म्य की प्राप्ति होती है। अद्वैत–वेदान्त के अनुसार अनात्मा को मायामय जानकर उसमे आत्मा के अध्यास का परित्याग कर मुमुक्षु अपने निज या वास्तविक आत्मा को पहचानकर मोक्ष को प्राप्त करता है। वैष्णव वेदान्त मे दु ख से भिन्न पूर्ण सुख या आनन्द की प्राप्ति होना ही मुक्ति कहा गया है। इस अवस्था मे अश (जीव) अशी (परमात्मा) के साथ सायुज्य प्राप्त करता है। इस प्रकार चार्वाक के द्वारा प्रतिपादित मोक्ष की विचारधारा से प्रारम्भ करके हम आगे बढते है और शकराचार्य के अद्वैत–वेदान्त मे जिज्ञासा की पूर्णत शान्ति पाते है।

इस प्रकार मोक्ष ही बधन का अन्त है। आत्मा अपने कर्मो के अनुसार फल प्राप्त करता है तथा अपने कर्मो के फलानुसार जन्म लेकर इस ससार मे भ्रमण करता है। वह आत्मा अज्ञानवश स्वय को कर्त्ता एव भोक्ता समझ लेता है, किन्तु ज्ञान के द्वारा वह जब अपने नित्य व मुक्त स्वरूप को पहचान लेता है तो वह मोक्ष की अवस्था को प्राप्त होता है। मुक्त आत्मा आवागमन के चक्र को तथा ससार जन्य क्लेशो को नही सहता है। मोक्ष का साधन ज्ञान है। ब्रह्म ही शुद्ध चैतन्य स्वरूप है तथा जीवात्मा एव परमात्मा का तादात्म्य ही मोक्ष है। भारतीय चिन्तन परम्परा मे दार्शनिको ने मोक्ष प्राप्ति के लिये ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग एव भक्तिमार्ग को अलग–अलग महत्त्व दिया है। किन्तु गीता मे इन तीनो मार्गो का बहुत–ही सुन्दर समन्वय मिलता है।

Kanchan

-कचन गुप्ता

इलाहाबाद

दिनाक– १५ 06 02

प्रथम अध्याय
वेद एवं उपनिषद्

वेदो का भारतीय साहित्य एव सस्कृति मे महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये भारतीय साहित्य के ही नही, अपितु विश्व–साहित्य के प्राचीनतम ग्रथ है। भारतीय दर्शनो के प्रमुख विचारो को वैदिक वाङ्मय मे खोजा जा सकता है, किन्तु वेदो के विषय मे हमारा ज्ञान अल्प और अपूर्ण है। वेद का अर्थ है– 'ज्ञान', जिसे ऋषियो ने तपस्या के द्वारा 'अभय–ज्योति' के रूप मे साक्षात्कार किया था। ऋषि मत्रो के निर्माता नहीं अपितु द्रष्टा थे।[1] ऋषियो ने इस ज्ञान को शब्दो के द्वारा मत्र रूप मे प्रकाशित किया था। ऋषियो के द्वारा प्रकाशित ये मन्त्र परमात्मा के स्वरूप है और नित्य 'अभय–ज्योति' के रूप मे अभिव्यक्त होने के कारण 'अपौरुषेय' कहे जाते है।

मत्र और ब्राह्मण वेद के महत्त्वपूर्ण विभाग है। किसी देवता की स्तुति मे प्रयुक्त होने वाले अर्थ स्मारक वाक्य को 'मत्र' कहते है तथा यज्ञ आदि के अनुष्ठान का विस्तृत विवेचन करने वाला ग्रथ 'ब्राह्मण' कहलाता है। मत्र समूह को सहिता कहते है। ब्राह्मण ग्रथो के बाद उनसे सम्बद्ध 'आरण्यक' ग्रथ आते है। इनमे कर्म से ज्ञान की ओर सक्रमण है। आरण्यको के बाद उपनिषदो का स्थान आता है, जो कि ज्ञान प्रधान तथा दार्शनिक विचारो से भरे है। इन्हे वेदो का अतिम भाग होने के कारण वेदान्त भी कहते है। वेद वाक्य चिरन्तन सत्य का प्रतिनिधित्व करते है। ऋषियो ने सत्य व धर्म दोनो का साक्षात्कार किया था, जिन्हे वेदो मे सकलित किया गया है। नैयायिको का मत है कि वेदो का निर्माण ईश्वर ने किया है, इसके विपरीत मीमासक इस मत को स्वीकार नही करते है। उनका मानना है कि वेद अनादि काल से नित्य है। सायणाचार्य ने वेद की परिभाषा देते हुए कहा है कि जिसके द्वारा अलौकिक पुरुषार्थ का ज्ञान होता है वह वेद है।[2]

---

[1] ऋषयो मन्त्र द्रष्टार ।

[2] सायण, ऋग्वेद भाष्य पेज न० २२

वेदो की सख्या चार मानी गयी है। ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद एव अथर्ववेद। इनमे ऋग्वेद प्रधान है। ऋग्वेद मे ईश्वर की उपासना मे प्रयुक्त होने वाले गीतो का सग्रह है। सामवेद विशुद्ध कर्मकाण्ड सम्बन्धी सग्रह है। इसका बहुत सा भाग ऋग्वेद मे पाया जाता है। साम की भॉति यजुर्वेद मे भी कर्मकाण्ड सम्बन्धी वर्णन मिलता है। उपर्युक्त तीनो वेदो को 'वेदत्रयी' भी कहा जाता है। चतुर्थ वेद अथर्ववेद है। वेद के सहिता और ब्राह्मण भाग को 'कर्मकाण्ड', आरण्यक भाग को 'उपसना काण्ड' तथा उपनिषद् भाग को 'ज्ञानकाण्ड' कहा जाता है।

वेदो मे आत्मा एव मोक्ष सम्बन्धी विचार प्रारम्भिक अवस्था मे स्पष्ट नहीं है। ऋग्वेद मे आत्मा एव मोक्ष का कोई विशेष सिद्धान्त नहीं निर्धारित किया गया है, परन्तु ऋग्वेद के बाद जैसे–जैसे हम यजुर्वेद, सामवेद एव उपनिषद् ग्रथो की ओर बढते है वैसे ही आत्मा और मोक्ष की अवधारणा दार्शनिक सिद्धान्तो के रूप मे परिलक्षित होने लगती है। ब्राह्मण ग्रथो मे यद्यपि दार्शनिकता का काफी अधिक पुट आ जाता है, परन्तु अभी भी धार्मिकता ही ज्यादा थी। ब्राह्मण ग्रथो मे दर्शन के जो बीज दिखलाई पडते है वे उपनिषदो मे पुष्पित एव पल्लवित होकर सघन वृक्ष के रूप मे परिणत हुये है। उपनिषदो मे आत्मा एव मोक्ष की अवधारणा पूर्ण विकसित रूप मे प्राप्त होती है। इनमे स्पष्टत कहा गया है कि सच्चा आदर्श जन्म एव मृत्यु के बधन से हमेशा के लिये छुटकारा पाना है।

ऋग्वेद मे आत्मा व मोक्ष का कोई विशेष सिद्धान्त नही प्राप्त होता है, यद्यपि जीवात्मा एव परमात्मा के स्वरूप का परिचय ऋग्वेद के प्रसिद्ध 'द्वासुपर्णा सयुजा'[1] इत्यादि मत्रो मे स्पष्ट है। इसी परमात्मा का साक्षात्कार करना भारतीय दर्शन का चरम लक्ष्य है तथा इसी से दुख की निवृत्ति होती है। वही यजुर्वेद मे कहा गया है– 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति।'[2]

---

[1] ऋग्वेद १०/१६४/२०

[2] यजुर्वेद ३१/१८

यजुर्वेद मे अनेक मत्र है जिनमे परमेश्वर का वर्णन है, जो जगत् मे अनेक रूपो से अभिव्यक्त होते है तथा जिनके ज्ञान से जिज्ञासु को चरम लक्ष्य की प्राप्ति होती है और वह सर्वज्ञ हो जाता है।

डा० एस०एन०दास गुप्ता ने अपने ग्रथ 'भारतीय दर्शन का इतिहास' मे स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि ऋग्वेद मे तीन शब्दो का प्रयोग आत्मा के लिये हुआ प्रतीत होता है। ये शब्द मन, आत्मा और असु है। मन हमारे विचार और अनुभूति का केन्द्र स्थान है और मेक्डुनल के कथनानुसार हृदय मे निवास करता है। मृत्यु के पश्चात् आत्मा के ही शेष रहने का सकेत भी ऋग्वेद के एक मत्र मे मिलता है।[1] यही आत्मा विषयक विचार उत्तरोत्तर विकसित होकर नित्य एव कूटस्थ रूप मे स्वीकार किया गया है। आगे चलकर तैत्तिरीय आरण्यक मे इसे प्रजापति का अश बताया गया है। अध्यात्म तत्त्वो के मुख्य प्रतिपादक उपनिषद् ग्रथो के प्रारम्भ होने से पूर्व आत्मा शब्द का प्रयोग पहले प्राण बाद मे विश्व चेतना या समष्टि आत्मा और उसके बाद मनुष्यगत चेतनतत्त्व या व्यष्टि आत्मा के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार सभी मुख्य सिद्धान्तो का बीज और उनकी विकासमान परम्परा हमे ऋग्वेद तथा अन्य वेदो मे प्राप्त हो जाती है, इसमे सन्देह नही है।

आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुये अथर्ववेद मे कहा गया है कि इस जगत् का आत्मा निष्काम, आत्म-निर्भर, अमर, स्वय सिद्ध, आनन्दमय, सदैव युवा और शाश्वत है।[2] इसके ज्ञान से ही मृत्यु को जीता जा सकता है। वेदो मे इस प्रकार का विश्वास प्रकट किया गया है कि अचेतन अवस्था मे आत्मा शरीर से अलग हो सकती है और मृत्यु के पश्चात् आत्मा का अलग अस्तित्व होता है, लेकिन हमको इस सिद्धान्त का कोई विकसित स्वरूप प्राप्त नही होता कि मृत्यु के पश्चात् आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर मे प्रवेश कर जाता है।

---

[1] डा० एस०एन०दास गुप्ता पृष्ठ–२७ से उदधृत

[2] तमेव विद्वान न विभाय मृत्योरात्मान धीरमजर युवानम्। —अथर्ववेद १०/८/४४

ऋग्वेद मे महर्षि दीर्घतमा के (अस्यवामीय सूक्त) मे अमर्त्य तथा मर्त्य दो तत्त्वो का वर्णन है। एक तत्त्व तो मनुष्य है, दूसरा अदृश्य। इनमे आत्मा सत्त्वगुणी होने से धार्मिक, तमोगुणी होने से कामी और रजोगुणी होने से धार्मिक का विरोधी अर्थवान होता है। ऋग्वेद के एक मत्र मे 'आप्रड्' और 'प्राड्' ये दो शब्द क्रमश पुनर्जन्म एव मोक्ष के वाचक है। पुनर्जन्म एव मोक्ष दोनो ही स्थिति मे आत्मा को शरीर मे आना पडता है। पर जो आत्मा इस शरीर मे आकर प्रकृति के रजोगुण या तमोगुण से बध जाता है, वह 'अप्राड्' अर्थात् पीछे की तरफ लौटता है, यही वस्तुत पुनर्जन्म है। पर जो आत्मा इस शरीर मे आकर भी धार्मिक प्रवृत्ति का ही रहता है वह 'प्राड्' अर्थात् आगे बढता है, दूसरे शब्दो मे मोक्ष की तरफ अग्रसर होता चला जाता है।[1]

ऋग्वेद मे यद्यपि यह माना गया है कि मृत्यु जीवन का अन्त नही है, परतु पुनर्जन्म का सिद्धान्त अभी विकसित नही हो पाया था, किन्तु कही–कही पर पुनर्जन्म का सिद्धान्त दृष्टिगोचर होता है। पुनर्जन्म सम्बन्धी ये विवरण अत्यन्त न्यूनमात्रा मे ही लभ्य होते है। ऋग्वेद मे वशिष्ठ के जन्म के विषय मे वर्णन मिलता है। कर्म सिद्धान्त भी पुनर्जन्म के साथ सम्बद्ध है। अच्छे कर्म करने से पुण्य होता है और कालान्तर मे उससे सुख की प्राप्ति होती है तथा अनुचित कर्म करने से पाप और दुख मिलता है। इस जन्म के पूर्व और पश्चात् भी जीव का अस्तित्व रहता है और जीवन काल मे पूर्व जन्मो मे किये गये कर्मो के फलो को भोगने के लिए बार–बार इस ससार मे जीव का आना होता है, मरने पर जीव 'देवयान' तथा 'पितृयान' मार्ग से दूसरे लोको मे जाता है, इत्यादि सिद्धान्तो के मूल मे 'कर्म की गति' है। वैदिक काल मे सभी थोडा बहुत कर्म की गति को जानते थे, अन्यथा उपर्युक्त सिद्धान्त को वे नही स्वीकार कर सकते थे। दार्शनिक विचार मे कर्म की गति की बडी महिमा है। वास्तव मे ससार की सभी घटनाए जीवो की सभी चेष्टाए यहाँ तक कि स्वय यह जगत् कर्म की ही गति का फल है।

---

[1] ब्राह्मण तथा बौद्ध विचारधारा का तुलनात्मक अध्ययन। डा० जगदीश दत्त दीक्षित पृष्ठ १८६ से उद्घृत

देवता लोग भी कर्म के बधनो से परे नही हैं। अवतार लेने पर भगवान् भी कर्म के गति चक्र मे घूमने लगते है। कर्म की गति बडी विचित्र है। इसके आदि और अन्त को जानना सरल नही है।

कुछ लोगो की धारणा है कि वैदिक सहिता ग्रथो मे कर्मवाद का उल्लेख नही है। हो सकता है कि 'कर्मवाद' 'कर्मगति' आदि शब्द वेद मे न हो, परन्तु सहिताओ मे कर्मवाद का उल्लेख नही है। यह धारणा सर्वथा निर्मूल है। 'कर्मवाद' के सम्बन्ध मे ऋग्वेद सहिता के कुछ मत्रो मे सकेत मिलते है यथा 'शुभस्पति' (अच्छे कर्मो के रक्षक) धियस्पति, (अच्छे कर्मो के रक्षक) 'विचर्षणि तथा विश्वचर्षणि' (शुभ और अशुभ कर्मो के दृष्टा), 'विश्वस्य कर्मणो धर्ता' (सभी कर्मो के आधार) आदि पदो का देवता लोगो के विशेषण मे वेद मे प्रयोग हुआ है। यज्ञादि कर्मो का वेदो मे विशेष तथा यजुर्वेद मे, अनेक प्रकार से विधान है। कई मत्रो मे यह स्पष्ट कहा गया है कि शुभ कर्मो के करने से अमरत्व की प्राप्ति होती है। जीव अनेक बार इस ससार मे अपने कर्मो के अनुसार उत्पन्न होता है और मरण को प्राप्त करता है।[1] वामदेव ने पूर्व के अपने अनेक जन्मो का वर्णन किया है। पूर्व जन्म के दुष्ट कर्मो के कारण लोग पापकर्म करने मे प्रवृत्त होते हैं[2], इत्यादि वेदो के मत्र मे स्पष्ट है।

इन सभी प्रसगो से यह बात स्पष्ट होती है कि कर्म का फल होता है और एक जन्म मे जो कर्म किया जाता है उसका फल दूसरे जन्म मे अवश्य मिलता है तथा साधारणतया कर्म करने वाले जीव को ही अपने किये हुए उस कर्म के फल का भोग करना पडता है। इसी से आत्मा नित्य एव व्यापक है, यह भी प्रमाणित हो जाता है।

शतपथ ब्राह्मण मे इस प्रकार का उल्लेख आता है कि जो सम्यक् ज्ञान के साथ उचित कर्म नही करते वे मृत्यु के पश्चात् पुन जन्म लेते है और पुन मृत्यु को प्राप्त

---

[1] मण्डल ४ सूक्त– २७

[2] न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुति सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्ति ।
अस्ति ज्यायन्कनीयस् उपारे स्वप्नश्च नेदनृतस्य प्रयोता।। – ऋग्वेद ७/८६/६

होते है। ऋग्वेद के एक सूक्त (१०—५८) के मत्र के अनुसार मनुष्य की आत्मा अथवा मन का जो सभवत अचेतन है, पुन आह्वान सूर्य, आकाश एव वनस्पतियो से किया गया है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जो मृत्यु को प्राप्त हो गए है उनको दो अग्नियो को बीच से पार करना पडता है, जो पापियो को जला देती है और पुण्यात्मा को किसी प्रकार का कष्ट नही देती है।[1] मृत्यु के पश्चात् प्रत्येक व्यक्ति को फिर जन्म धारण करना पडता है और उसे पूर्व जन्म के शुभ या अशुभ कर्मो के अनुसार फल मिलता है। इस प्रकार पुनर्जन्म के द्वारा सुख अथवा दु ख प्राप्ति की कल्पना नैतिक अथवा धार्मिक सिद्धान्त के रूप मे प्रथम बार हमारे सामने प्रस्तुत होती है। भारतीय दर्शन के 'आत्मा' शब्द का अर्थ वेदो मे जीवन देने वाली प्राण शक्ति से है। ऋग्वेद मे एक स्थल पर कवि ने अन्तरतम रहस्य मे प्रवेश करते हुए क्रमश गहराई मे जाकर पहले 'असु' फिर रक्त तक पहुँचना बताया है। तदनन्तर 'आत्मा' को सबसे सूक्ष्म गहनतम तत्त्व बताया है एव उसे विश्व की अन्तरतम चेतन शक्ति के रूप मे देखा है।

निरुक्त मे कहा गया है कि— एक ईश्वर के रूप मे जो परम सत्ता है, वही विश्वात्मा है और समस्त देवगण उसी विश्वात्मा के शरीर के अग है।[2] अथर्ववेद मे भी ब्रह्म की सर्वव्यापकता तथा आत्मा से अभिन्नता सम्बन्धी विचार व्यक्त किये गये है। वैदिक सभ्यता के विकास क्रम मे इस प्रथम अवस्था को प्राकृतिक तथा मानवीकृत 'बहुदेववाद' की सज्ञा दी गयी है। कालान्तर मे इस बहुदेववाद का विकास मैक्समूलर के अनुसार 'एकदाएकएवदेववाद' (हिनोथीज्म) मे हुआ। जिसके अनुसार वैदिक आर्य जब किसी देवता की स्तुति करते थे तो उस समय उस देवता को ही एकमात्र सर्वोच्च देवता मान लेते थे। आगे चलकर यह 'एकदाएकएवदेववाद', 'एकेश्वरवाद', या 'एकदेववाद', के रूप मे परिणत हुआ । फिर इस एकेश्वरवाद के साथ 'सर्वेश्वरवाद' की भी मान्यता हुई। कालान्तर मे

---

[1] शतपथ ब्राह्मण — १,६,३ तथा मेक्डुनल कृत वैदिक माइथोलॉजी पृष्ठ १६६—६७

[2] महाभाग्याद् देवताया एकएव आत्मा बहुधा स्तूयते।
एकस्याऽत्मनोऽन्ये देवा प्रत्यङ्गानि भवन्ति। — निरुक्त ७/३
हिन्दी निरुक्त — डा० कपिलदेव शास्त्री, साहित्य भण्डार मेरठ।

इसका चरम विकास 'एकतत्त्ववाद' या 'अद्वैतवाद' के रूप मे उपनिषद् मे प्रतिष्ठित और विकसित हुआ।

यद्यपि अधिकाश पाश्चात्य विद्वान् तथा उनके अनुयायी कुछ भारतीय विद्वान् वैदिक देवतावाद की उत्पत्ति और विकास का पूर्वोक्त क्रम प्रतिपादित करते है, किन्तु यह क्रम निराधार है तथा देवता तत्त्व के अज्ञान का सूचक है। सहिता भाग से ब्राह्मण और आरण्यक भाग द्वारा उपनिषद् भाग तक वैदिक दर्शन का जो विकास हुआ वह निश्चित ही पाश्चात्य विद्वानो द्वारा कल्पित बहुदेववाद से एकदाएकएवदेववाद, एकदेववाद, सर्वेश्वरवाद तथा एकतत्त्ववाद के रूप मे नही हुआ। मत्र—द्रष्टा ऋषियो के द्वारा साक्षात्कृत आध्यात्मिक रहस्य मत्रो के रूप मे प्रकट हुए। सहिता भाग भी आध्यात्मिक अद्वैतवाद से अनुप्राणित है। सहिता से लेकर उपनिषद् तक वैदिक दर्शन का विकास इस केन्द्रीय आध्यात्मिक अद्वैतवाद का ही विकास है, जो अपने अन्तर्गत एकेश्वरवाद और सर्वेश्वरवाद, परात्परत्व और अन्तर्यामित्व को तथा भेद एव अभेद दोनो को समाहित किये है।

वेदो मे एकेश्वरवादी विचारो की अभिव्यक्ति की गयी है। एक ही सत् है, विप्रजन उसे अनेक मानते है।[1] एक परमतत्त्व को 'अभय—ज्योति' के रूप मे निरूपित किया गया है। इस अद्वैत वादी विचारधारा मे आत्मा और ब्रह्म का तादात्म्य ही स्थापित किया गया है।

अथर्ववेद मे भी ब्रह्म की सर्वव्यापकता तथा आत्मा की अभिन्नता सम्बन्धी विचार व्यक्त किये गये है। निरुक्त मे कहा गया है कि ईश्वर के रूप मे जो परम सत्ता है वही विश्वात्मा है और समस्त देवगण उस विश्वात्मा के शरीर के अग है।

ब्राह्मण विचारधारा की प्रारम्भिक अवस्था मे मोक्ष का विचार इतनी परिपक्वता को प्राप्त नही कर पाया था। यह तो आध्यात्मिक विकास की शनै—शनै ऊर्ध्वमुखी प्रगति है

---

[1] एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति। — ऋग्वेद १/१६४/४६

जिसको परम चूडान्त उपलब्धि के रूप मे आत्मा का ब्रह्मैक्य रूप प्राप्त होता है, अन्यथा वेदो मे यज्ञ द्वारा दीर्घायु, सुख, सन्तति, राज्य, साम्राज्य, शत्रुविनाश आदि कामनाओ से ओत–प्रोत वर्णन है।

जब ब्रह्म और आत्मा को एक मान लिया गया तो मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य ज्ञान द्वारा आत्मा एव ब्रह्म के तादात्म्य की प्राप्ति हो गया और यही अवस्था मुक्ति या मोक्ष की अवस्था कहलायी।

मुक्ति के चार प्रकार माने गये है। सामीप्य, सालोक्य, सारुप्य, एव सायुज्य। मोक्ष परमात्म तत्त्व मे पूर्णरूपेण एकत्व की स्थिति है। वहॉ स्वर्ग जैसा भौतिक सुखो का स्वकेन्द्रित भण्डार न होकर अनन्त असीमित आनन्द व अवर्णननीय सुख है। ऐसा व्यक्ति जागतिक आनन्दो से मुक्ति पाकर अमिट आनन्द मे लीन हो जाता है। स्वार्गिक सुख ससीम व निश्चित समय के लिए रहता है। स्वर्ग व्यक्तित्व सहित प्रकृति का ही एक भाग है, जबकि मोक्ष आनद है। वह कालातीत है। इस प्रकार वेदो मे आत्मा एव मोक्ष सम्बन्धी विचारो का वर्णन मिलता है।

उत्तरकालीन आत्मा को एक स्थान पर विश्व की चेतन शक्ति के रूप मे बताया गया है और जब हम इस कल्पना को ब्राह्मणो और आरण्यको तक आकर देखते है तो प्रकट होता है कि वहॉ तक आते–आते आत्मा की धारणा विश्व और मनुष्य दोनो मे व्याप्त महान् चेतन शक्ति के रूप मे विकसित हो गयी। इस प्रकार उपनिषदो तथा उत्तरवर्ती दर्शनो मे महान् आत्मा का जो सिद्धान्त मिलता है, उसका प्रारभिक स्वरूप वेदो मे ही परिलक्षित हो जाता है।

उपनिषद् –

भारतीय तत्त्व ज्ञान के स्त्रोत उपनिषद् आध्यात्मिक मानसरोवर है तथा सारभूत सिद्धान्तो के प्रतिपादक होने के कारण उपनिषद् ही वेदान्त के नाम से विख्यात् हे। वैदिक धर्म की मूलतत्त्व प्रतिपादिका प्रस्थानत्रयी मे मुख्य उपनिषद् ही है तथा गीता एव ब्रह्म सूत्र का उपजीव्य है। भारतवर्ष मे उदित होने वाले समस्त दर्शनो के मौलिक तथ्यो की आधार शिलाये उपनिषद् ही है। उपनिषत्–सरित मानवमात्र के ऐहिक–कल्याण तथा आमुष्मिक–मङ्गलार्थ सर्वत्र पुण्यभूमि मे प्रवाहित होती है। विदेशी विद्वानो ने भी इनकी समुन्नत विचारधारा, उदात्तचिन्तन, धार्मिक अनुभूति तथा रहस्यात्मक अभिव्यक्तियो की भूरिश प्रशसा की है।

उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति मे ही विविध अर्थ समाहित है। धातु पाठ मे सदृलृ धातु विशरण, गति, अवसादन इन तीन अर्थो मे प्रयुक्त है। इस प्रकार उप नि उपसर्ग पूर्वक सद् धातु से निष्पन्न उपनिषद् शब्द का अर्थ है– 'जो विद्या समस्त अनर्थो के उत्पादक सासारिक क्रिया–कलापो का नाश करती है, ससार के कारणभूत माया–अविद्या के बन्धन को शिथिल करती है और ब्रह्म का साक्षात्कार कराती है।'[1] उपनिषद् वैदिक वाङ्मय के हीरकमणि है जिनके प्रकाश मे उस परब्रह्म–परमतत्त्व या आत्मस्वरूप का दर्शन किया जा सकता है। उपनिषदो मे अनेक बार कहा गया है कि गुरू-शिष्य के बार–बार अनुरोध करने पर कठोर परीक्षा के उपरान्त ही उन्हे अध्यात्म विद्या का उपदेश देता था। उप नि उपसर्ग पूर्वक सद् धातु से सिद्ध उपनिषद् शब्द का अर्थ भी गुरू के निकट विनम्रता पूर्वक बैठकर प्राप्त किया गया रहस्यमय ज्ञान है। उपनिषद् ब्रह्म विद्या का द्योतक है क्योकि इस विद्या के अनुशीलन से मुमुक्षुजनो की ससार बीजभूता अविद्या नष्ट हो जाती है तथा उन्हे अपने वास्तविक स्वरुप 'अह ब्रह्मास्मि' का साक्षात्कार हो जाता है।

---

[1] 'उपनिषादति सर्वानर्थकर ससार विनाशयति, ससारकारणभूतामविद्याञ्चशिथिलयति, ब्रह्म च गमयति इति उपनिषद्।।'

यद्यपि वेदो मे आत्मतत्त्व के बीज मिलते है, किन्तु आत्मा शब्द का विस्तृत रूप से प्रयोग उपनिषद् मे ही प्राप्त होता है। कठोपनिषद्, छान्दोग्य उपनिषद्, श्वेताश्वतर उपनिषद्, तैत्तीरीय उपनिषद्, केन उपनिषद्, ईशावास्योपनिषद् आदि मे आत्मा के स्वरूप एव मोक्ष का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है।

पूर्ववर्ती ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रथो मे आत्मा व ब्रह्म दो पृथक्–पृथक् सत्ताओ के रूप मे परिलक्षित होते है। आत्मा शब्द का प्रयोग कही भी देवता के लिये नही हुआ है। आरम्भिक अवस्था मे यह शब्द केवल जीवात्मा का द्योतक था, किन्तु उत्तरोत्तर इसके स्वरूप की विस्तृत विवेचना की जाने लगी। उपनिषदो मे भी आत्मा के वास्तविक स्वरूप के ज्ञान की जिज्ञासा प्रकट की गई है। साधारणतया आत्मा का अर्थ हम अपने शरीर एव इन्द्रियों से समझते है, किन्तु उपनिषदो मे आत्मा व देह की एकाकारिता का स्पष्ट रुप से खण्डन किया गया है तथा आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप को देह, इन्द्रिय, मन एव बुद्धि से परे एक विलक्षण तत्त्व के रुप मे पारिभाषित किया गया है।

आत्मा मन, शरीर, बुद्धि तथा प्राण से सम्बद्ध होते हुये भी इन सब से भिन्न और स्वतत्र है। यह अभौतिक सत्ता है, जो शरीर मन आदि के नष्ट हो जाने के पश्चात् भी बनी रहती है। अत इसे अविनाशी तथा अजर–अमर कहा गया है। यह आत्मा सभी प्राणियो मे व्याप्त है और यही उन्हे सुख–दुख, इच्छा आदि का अनुभव करने वाला चैतन्य युक्त प्राणी बनाता है। यह शरीर अमर एव अपार्थिव आत्मा का आधार है। शरीर धारण करने के पश्चात् आत्मा को सुख और दुख होता है। जब तक आत्मा और शरीर का सम्बन्ध है, तब तक सुख व दुख से आत्मा मुक्त नही हो सकती, किन्तु शरीर के बन्धन से मुक्त होने पर आत्मा को सुख एव दुख प्रभावित नही करते है।

उपनिषदो मे अन्वय व व्यतिरेक विधि के द्वारा आत्मतत्त्व का विवेचन किया गया है। अन्वयविधि के अनुसार आत्मा सर्वव्यापी, सर्वसाक्षी, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वान्तर सबका एकायन, वह अणु से भी अणु एव महान् से भी महान् है। व्यतिरेक विधि मे आत्मा की

व्याख्या नेति–नेति विधि से की जाती है। जो कुछ ज्ञेय है, जो कुछ मर्त्य है, जो कुछ अल्प है और जो कुछ चिन्त्य है वह सब आत्मा नही है। आत्मा न चल है, न अचल है, न दूर है, न पास है, न स्थायी है, न क्षणिक है, न सूक्ष्म है और न ही स्थूल है। वह इन सभी द्वन्द्वो व कोटियो से परे है।

चूँकि आत्मविचार उपनिषदो का केन्द्र बिन्दु है यही कारण है कि आत्मा का उपनिषदो मे विशद् विवेचन मिलता है। उपनिषदो के अनुसार आत्मा मूल चैतन्य है। वह ज्ञाता है, ज्ञेय नही । आत्मा नित्य और सर्वव्यापी है। विश्व के सभी पदार्थ इसी के गर्भ मे विलीन हो जाते है। श्रुति मे कहा गया है कि यह आत्मा–ब्रह्म विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुमय, श्रोतमय, पृथ्वीमय, जलमय, वायुमय, आकाशमय, तेजस् स्वरूप, अतेजस् स्वरूप, कामस्वरूप–अकामस्वरूप, क्रोधस्वरूप–अक्रोधस्वरूप, धर्मस्वरूप–अधर्मस्वरूप सभी तत्त्वो से युक्त है। इस प्रकार यहॉ पर आत्म–ब्रह्म तत्त्व की सर्वव्यापकता का वर्णन किया गया है। जिससे स्पष्ट होता है कि ससार के जितने भी स्थूल एव सूक्ष्म पदार्थ है वे सभी आत्मा के ही रुप है।[1]

कठोपनिषद् मे आत्म तत्त्व का वर्णन एक सुन्दर रूपक के द्वारा करते हुए कहा गया है कि– यह शरीर रथ है, बुद्धि सारथि है, मन लगाम है, इन्द्रियॉ घोडे है, जो विषयरूपी मार्ग पर चलते है तथा आत्मा रथ का स्वामी है।[2] उपनिषदो मे आत्मा के लिये अखण्ड, शुद्ध, नित्यानन्दैकरस, अर्न्तयामी आदि विशेषणो का प्रयोग किया गया है। आत्मा पापरहित, मृत्युहीन, शोकरहित, क्षुधारहित, सत्यकाम व सत्यसकल्प है। यह आत्मा प्रकृति–विकृति के विकारो से रहित असत्–सत् को प्रकाशित करता हुआ बुद्धि के साक्षी

---

[1] स व अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमय प्राणमयश्चर्क्षुमय श्रोतमय पृथिवीमय आपमयो, वायुमय, आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमय काममयोऽकाममय क्रोधमयोऽक्रोधमयो, धर्ममयोऽधर्ममय सर्वमय इत्यादि।
– बृहदारण्यक उपनिषद्।

[2] अ– आत्मान रथिन विद्धि शरीर रथमेव तु।
बुद्धि तु सारथि विद्धि मन प्रग्रहमेव च।। – कठोपनिषद् १/३/३
ब– इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषया स्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्त भोक्तेत्याहुर्मनीषिण ।। – कठोपनिषद् १/३/४

रूप मे साक्षात् विद्यमान है।[1] सनत्कुमार ने छान्दोग्य उपनिषद् मे आध्यात्मिक सुखवाद का प्रतिपादन किया है। उनका मत है कि आत्मा सम्पूर्ण वस्तुओ का मूल उद्गम हे। आत्मा से ही आशा और स्मृति का उद्भव होता है, आत्मा से ही आकाश तथा जल का उद्भव होता है। आत्मा से ही प्रत्येक वस्तु का उदय होता है और आत्मा मे ही सम्पूर्ण वस्तुओ का लय हो जाता है। आत्मा समस्त शक्ति, समस्त ज्ञान एव समस्त आनन्द का उद्गम है।[2]

बृहदारण्यक उपनिषद् मे याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी को आत्मतत्त्व का उपदेश देते हुये कहा है कि समस्त पदार्थ जगत् की स्थिति आत्मा के लिये ही है। उनका मत है कि समस्त पदार्थ आत्मा के लिये ही प्रिय है। आत्मा से बढकर कुछ भी प्रिय नही होता। मनुष्य किसी वस्तु या व्यक्ति को आत्मवत् जानकर ही प्रेम करता है। कोई वस्तु स्वय नही प्रिय होती सभी आत्मा के लिये ही प्रिय होते है।[3] आनन्द इसका गुण नही है परन्तु यह आनन्दमय है जो इस आनन्द को प्राप्त कर लेता है उसे किसी प्रकार का भय नही रहता है।

कठोपनिषद् मे यम ने नचिकेता को इस आत्मतत्त्व का वर्णन करते हुए बताया है कि–'यह आत्मा न तो उत्पन्न होता है, न मरता है, यह न तो किसी अन्य कारण से उत्पन्न हुआ है और न स्वत ही है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत एव पुरातन है। शरीर के नष्ट हो जाने पर भी यह स्वय नष्ट नही होता है।[4] पुन यम नचिकेता को बताते है कि यह आत्मा विषयो को ग्रहण करने वाला, इन्द्रियो से, मन से, विवेचनात्मक बुद्धि से

---

[1] य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोविजिघत्सोऽपिपास, सत्यकाम, सत्यसकल्प, सोऽन्वेष्टव्य स विजिज्ञासितव्य।

– छान्दोग्य उपनिषद् ७/८/१

[2] छान्दोग्य उपनिषद् – ७/२६

[3] आत्मनस्तु कामाय सर्व प्रियम्भवति – बृहदारण्यक ४/५/१५

[4] न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नाय कुतश्चिन्नबभूव कश्चित्।
अजो नित्य शाश्वतोऽय पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे।। – कठोपनिषद् १/२/१८

तथा प्राणो से परे व श्रेष्ठ है।[1] आत्मा से सूक्ष्म व श्रेष्ठ कुछ भी नही है। यही मनुष्य की गति या अन्तिम गन्तव्य है।[2]

कौषीतकि उपनिषद् मे आत्मा को शरीर का स्वामी तथा इन्द्रियो का अधिष्ठाता बताया गया है। आत्मा द्वैत रहित अद्वैत है। ज्ञान कर्तृत्व उसकी सत्तामात्र मे ही है आत्मा वह है जो पाप से मुक्त, वृद्धावस्था से रहित एव मृत्यु तथा शोक से रहित है। वह भूख–प्यास आदि से रहित है। स्थिरता, तारतम्यता एव नित्यक्रियाशीलता इसके विशेष लक्षण है।[3] आत्मा अज्ञेय है। वह मनुष्यो के लिये श्रवण शक्ति से भी गम्य नही है, किन्तु बहुत से उसे सुन लेने के बाद भी उसे जानने मे असमर्थ है। आत्मा महान् सत्ता है, जो समस्त अज्ञेय विषयो को जानता है। जो स्वय ज्ञाता है उसे कौन जान सकता है?[4] वह अश्रव्य होते हुये भी सनातन श्रोता है। आत्मा स्वय प्रकाश है, वह जड नही है।

इस प्रकार आत्मा या ब्रह्म का लक्षण देना एक प्रकार से असभव है, तथापि हमारे ऋषि–मुनियो ने अनेक प्रकार से आत्म–तत्त्व का वर्णन उपनिषदो मे किया है। उपनिषदो मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि आत्मा भूख, प्यास, शोक–मोह, जरा तथा मरण से हमारा उद्धार करता है। आत्मा पूर्ण और अखण्ड होने के कारण परस्पर विरोधी धर्मो सत्–असत्, छोटा–बडा, समीप–दूर आदि का आधार है। कठोपनिषद् मे आत्मा को अणु से भी अणुतर तथा महान से भी महत्तर बताते हुए कहा गया है कि यह आत्मा प्राणी (पुरुष) की हृदय रुप गुहा मे स्थित है।[5]

---

[1] इन्द्रियेभ्य पर ह्यर्था अर्थेभ्यश्च पर मन ।
मनस्तु पर बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्पर ।। — कठोपनिषद् १/३/१०

[2] महत परमव्यक्तमृव्यक्तात पुरुष पर ।
पुरुषान्न पर किचित्सा काष्ठा सा परागति ।। — कठोपनिषद् १/३/११

[3] डा० राधाकृष्णन भारतीय दर्शन भाग–२ पेज– १३८

[4] विज्ञातारमरे केन विजानीयात् । — बृहदारण्यक उपनिषद् २/४/१४

[5] अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।। — कठोपनिषद् १/२/२०

उपनिषद् काल मे ब्रह्म एव आत्मा पर्यायवाची हो गये। इसी ब्रह्मतत्त्व या आत्मा को सत्य कहा गया है। ब्रह्म ज्ञान के अनन्तर द्वैत का नाश हो जाने पर आत्मा एव परमात्मा कहलाने वाले दोनो तत्त्व एक हो जाते है। उपनिषदो के अनुसार जीव एव आत्मा मे भेद है। जीव एव आत्मा एक ही शरीर मे अधकार एव प्रकाश की भॉति निवास करते है। जीव वैयक्तिक आत्मा है एव आत्मा को परमात्मा कहा गया है। जीव कर्म–फल का भोक्ता एव सुख–दुख का अनुभवकर्त्ता है, जबकि आत्मा कूटस्थ है। श्रुतियो[1] मे देवयान एव पितृयान की चर्चा से उन्मुक्त केवल जीव के जन्मान्तर मे जाने का प्रसग प्राप्त होता है। वही छान्दोग्य उपनिषद्[2] के अनुसार श्रद्धा एव तप का अनुष्ठान करने वाले लोग देवयान और इष्टापूर्त्त एव दनादि कर्मो को करने वाले पितृयान से महाप्रयाण करने के अनन्तर भिन्न–भिन्न जन्म जन्मान्तर ग्रहण करते है। कर्म ही जीवन का आधार है। जैसा हमारा सकल्प होगा उसी प्रकार का कर्म करने की हमारी इच्छा होगी और जैसी इच्छा होगी वैसा ही कर्म होगा एव वैसे ही जन्म की उपलब्धि भी होगी।[3] जीव अज्ञानी होने के कारण बन्धन मे पडता है। वही अपने नित्य स्वरूप मे आत्मा बन्धन से मुक्त है जीव अपने कर्मो के अनुसार कर्त्ता एव भोक्ता होने के कारण पाप एव पुण्य का फल भोगता है।

आत्मा एव ब्रह्म मे एकता का प्रतिपादन करते हुये उद्दालक अरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को बताया कि जिस प्रकार बरगद का बीज एव बरगद का वृक्ष मूलत एक ही है या जैसे नमक व पानी मिल जाने पर दोनो एकमेव हो जाते है ठीक उसी प्रकार आत्मा एव परमात्मा एक ही है। आत्मा सभी विषयो मे व्याप्त है क्योकि सभी विषय आत्मा के द्वारा ही ज्ञात होते है। मै ब्रह्म हूँ,[4] वह तुम ही हो,[5] सब कुछ ब्रह्म ही है,[6] यह आत्म–तत्त्व अमृत

---

[1] बृहादारण्यकोपनिषद् – ४/४

[2] छान्दोग्योपनिषद् – ५/१० – सिह व शास्त्री– भारतीय दर्शन का इतिहास पृष्ठ स० ५१ से उद्धृत

[3] स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति, यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते।– बृहदारण्यक ४/१०/५

[4] अह ब्रह्मास्मि। बृहादारण्यक उपनिषद् – १/४/१०

[5] तत्त्वमसि। छान्दोग्य उपनिषद् ६/८/७

[6] सर्वखल्विद ब्रह्म। छान्दोग्य उपनिषद् ३/१४/१

स्वरूप है, यह सबकुछ ब्रह्म ही है।[1] आदि महावाक्यो द्वारा आत्मा एव ब्रह्म मे एकाकारिता स्थापित की गयी है। उपनिषदो के अनुसार शरीर मे रहने वाला आत्म–तत्त्व वास्तव मे ब्रह्म ही है और जैसे ही यह नश्वर बन्धन उतर जायेगा वह ब्रह्म मे लीन हो जायेगा। उपनिषदो के आरम्भ काल मे आत्मा एव ब्रह्म को भिन्न–भिन्न मानकर उन्हे पृथक्–पृथक् विश्व का आधार माना गया था, परन्तु आगे चलकर दोनो को अभिन्न मानकर कहा गया है कि– वह महान्, अजन्मा, अजर, अमर और अभय आत्मा ही ब्रह्म है।

वस्तुत ब्रह्म की अवधारणा वस्तुपरक है इसलिये अधिक से अधिक केवल किसी कल्पित वस्तु का ही निर्देश कर सकती है। उसमे निश्चयात्मकता का होना अनिवार्य नही है। इसी कारण वह वस्तु अचित्स्वरूप भी मानी जा सकती है। वही दूसरी ओर आत्मा की धारणा उपर्युक्त किसी भी दोष से युक्त नही है। परन्तु यदि हम साधारण अर्थो मे देखते है तो आत्मा परिच्छिन्न है और वह सम्पूर्ण सत्ता का प्रतिरूप नही हो सकता। विश्वात्मा के रूप मे भी वह जड प्रकृति से पृथक् बना रहता है और इसलिये उसके द्वारा परिछिन्न है, किन्तु जब ब्रह्म और आत्मा की ये दो धारणाये एक हो जाती है, तथा द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया से एक तीसरी धारणा प्राप्त होती है, जिसमे इन दो अलग–अलग धारणाओ के दोष नही रहते। तब परम तत्त्व आत्मा की तरह चित्स्वरूप हो जाता है और साथ ही उसके विपरीत अपरिच्छिन्न भी। उसका अस्तित्व असदिग्ध हो जाता है, क्योकि उसे हमारे अपरोक्षत ज्ञात आत्मा से मूलत एक माना जाता है। जब तक हम उस परम तत्त्व को अपने से अलग मात्र ब्रह्म रूप मे देखते है, तब तक वह न्यूनाधिक रूप से एक कल्पना एव विश्वास की वस्तु बना रहता है, किन्तु ज्यो ही हम उसे अपने आत्मा से अभिन्न समझ लेते है, त्यो ही वह एक बिल्कुल ही निश्चित चीज

---

[1] अ– आत्मेद अमृतमिद ब्रह्मेद सर्वम्। –बृहादारण्यक २/५/१ श्वेताश्वतर ४/६
ब– तद्ब्रह्म तदमृत स आत्मा। – छान्दोग्य उपनिषद् ८/१४/१
स– यो ह वै तत्परम ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति – मुण्डक उपनिषद् ३/२/९

बन जाता है, क्योकि अत प्रज्ञा के आधार पर हमे स्वय अपने अस्तित्व की सच्चाई को मानना ही पडता है, भले ही उसके स्वरूप के विषय मे कितना अज्ञान क्यो न हो।[1] यही उपनिषदो का परम सत्य है, जो न एक अर्थ मे ब्रह्म है, न एक अर्थ आत्मा, बल्कि दूसरे अर्थ मे दोनो ही है।

उपनिषदो मे आत्मा को पुरुष भी कहा गया है। पुरुष शब्द का प्रयोग उपनिषदो मे कही–कही जीवात्मा के लिये किया गया है तो कही–कही चैतन्य विश्वात्मा के लिये किया गया है। प्रश्नोपनिषद् के चतुर्थ प्रश्न[2] मे पुरुष शब्द जीवात्मा के अर्थ मे आया है। वही पुरुष का परमात्मा के अर्थ मे मुण्डक उपनिषद् मे वर्णन प्राप्त होता है। जिस प्रकार सुप्रज्जवलित अग्नि से चारो ओर चिनगारियॉ एक सी ही फैल जाती है। उसी प्रकार उस अक्षर से प्रपच की उत्पत्ति बताकर उसे सृष्टि के बाहर–भीतर व्यापक रहने वाला कहा गया है। इसी को आगे चलकर सर्वभूतान्तरात्मा कहा गया है।[3]

छान्दोग्य उपनिषद् मे जब इन्द्र एव विरोचन प्रजापति के पास आत्मज्ञान को प्राप्त करने के लिये आते है तब वे सबसे पहले जिस पुरुष[4] को आत्मा बताते है वह शरीर धारी जीव ही है। कठोपनिषद् मे यम ने कहा है कि अगुष्ठ के बराबर आकार वाला पुरुष रूपी अन्तरात्मा हमेशा लोगो के हृदय मे निवास करता है।[5] यहॉ पर भी पुरुष शब्द प्रयोग जीवात्मा के अर्थ मे किया गया है।

'पुरुष' शब्द की व्युत्पत्ति 'पुरिशेते इति पुरुष' से मानी जाती है जिसका शाब्दिक अर्थ 'पुर' अर्थात् नगर रूपी शरीर मे निवास करने वाला 'पुरुष' शब्द से वाच्य है। यहॉ पर

---

[1] एम० हिरियन्ना – भारतीय दर्शन की रूपरेखा पृष्ठ सख्या ५६ से उद्धृत

[2] तेन तर्ह्येष पुरुषो न न श्रृणोति न पश्यति न जिघ्रति – प्रश्नोपनिषद्

[3] दिव्यो ह्यमूर्त पुरुष स बाह्यम्यन्तरो ह्यज।
– मुण्डक उपनिषद् २/१ भारतीय दर्शन का इतिहास सिह एव शास्त्री पृष्ठ ४३ से उदधृत

[4] य एषोऽक्षिणी पुरुषो दृश्यते – छान्दोग्य उपनिषद्।

[5] अगुष्ठमात्र पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनाना हृदये सन्निविष्ट।
– कठोपनिषद् २/३/१७ प्रो० आद्या प्रसाद मिश्र पृष्ठ सख्या ७१ से उद्धृत।

पुर का अर्थ ब्रह्माण्ड या सम्पूर्ण जगत् भी लिया जा सकता है। इस अर्थ मे पुरुष परमात्म–तत्त्व का वाचक हो जायेगा। इस प्रकार पुरुष शब्द को जीवात्मा एव परमात्मा दोनो रूप मे विभिन्न दार्शनिको ने लिया है।

उपनिषदो मे आत्मा एव ब्रह्म को सत्य, ज्ञानम्, अनन्तम्, कहा गया है। इसके साथ ही सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् कहकर दोनो के आनन्दमय स्वरूप पर जोर दिया गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि परमतत्त्व एक ही है, जो आत्मनिष्ठ दृष्टि से आत्मा एव वस्तुनिष्ठ दृष्टि से ब्रह्म है।

छान्दोग्य उपनिषद् मे जब इन्द्र व विरोचन आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये प्रजापति के पास पहुँचते है तब प्रजापति इस रहस्य को उनके समक्ष प्रगट करते है। आत्मा का तादात्मय क्रमश शरीर चेतना, स्वप्न चेतना और सुषुप्ति चेतना से तब तक किया जाता है जब तक कि उसे आनुभविक रूप से गुजरने वाली एक वस्तु घोषित नहीं कर दिया जाता है।

आत्मा शरीर की तरह– मानव मे आत्मा का तादात्म्य सर्वप्रथम शरीर के साथ किया जाता है। इस तादात्म्यीकरण के अनुसार शरीर ही मानव का स्वरुप और सम्पूर्ण व्यक्तित्व है, किन्तु शीघ्र ही यह अनुभव कर लिया जाता है कि– शरीर जो कि मरणधर्मा होने के साथ सूक्ष्म नही है, इसलिये मानव मे निरपेक्ष रूप से श्रेष्ठतम नहीं हो सकता।

द्वितीय चरण मे प्राणो को आत्मा माना गया है। प्राण अपेक्षाकृत अल्प, विभाजनीय या अधिक सूक्ष्म हैं। वह शरीर को जीवन देता है और उसे निरन्तर गतिमय रखता है। इन्द्रियाँ प्राण के अभाव मे कार्य नही कर सकती है।[1]

विकास के तृतीय चरण मे आत्मा को प्रज्ञा की तरह माना गया है यह प्रज्ञा सर्वग्राहक उपकरणो के यान्त्रिक एकीकरण का केवल एक आश्रय स्थान मात्र है। चूँकि प्रज्ञा

[1] बृहदारण्यकोपनिषद् – ६/१/७।

का प्राण के साथ तादात्म्य है, इसलिये उसकी कल्पना समग्र ऐन्द्रिक क्रियाओ के केवल मिलन स्थल की तरह ही नहीं की जाती, बल्कि उसे सदैव उपस्थित भी माना जाता है।

विकास की चतुर्थ अवस्था मे आत्मा की कल्पना प्रत्यक्ष के सक्रिय विषयी और एक तात्त्विक दृष्टा के रूप मे की जाती है। आत्मा अब आतरिक विषयी बन जाता है जो कि स्वनिर्भर और स्वतत्र है। इस अवस्था मे किसी वस्तु को जानना उसके साथ तादात्म्य स्थापित करना है। पुन आत्मा को शुद्ध चित् की तरह मौलिक और आधारभूत यथार्थ माना गया है। शुद्ध चित्त का यहाँ स्वतन्त्र रूपेण एव स्वाधिकारिक अस्तित्व है।

माण्डूक्योपनिषद् मे आत्मा एव ब्रह्म की एकाकारिता स्थापित की गयी है। आत्मा ही पर ब्रह्म है और यह जो आत्मा है वह चार पाद वाला कहा जाता है।[1]

इस प्रकार आत्मा एव परमात्मा मे परमार्थ रूप से कोई भेद नही है। इस आत्मा के भाषा से भेद किये जाने पर इसके चार पाद वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ व सर्वप्रपञ्चोपशमस्थ माने गये है ।

आत्मा के चार पादो मे 'वैश्वानर' प्रथम पाद है। इसका सम्बन्ध केवल जागृतावस्था से है। इस अवस्था मे चेतना या ज्ञान का विषय बाह्य जगत् या भौतिक ससार है। इसका सम्बन्ध केवल जागने की अवस्था से ही है। जागृत अवस्था मे आत्मा सभी सासारिक विषयो का बाह्य इन्द्रियो द्वारा भोग करता हुआ सुख–दु ख प्राप्त करता है।

आत्मा का दूसरा पाद 'तैजस' है। इस अवस्था मे चेतना या ज्ञान के विषय आन्तरिक होते है। यह स्वप्न अवस्था कहलाती है। यह अवस्था जागृत व सुषुप्ति के बीच की अवस्था है। इस अवस्था मे आत्मा सूक्ष्म विषयो का उपभोग करता है। इसमे आत्मा को केवल अपने शरीर के भीतर का ही ज्ञान हो सकता है। वह बर्हिप्रज्ञ न होकर अन्त प्रज्ञ हो

---

[1] सर्वमहुयेतद् ब्रह्मायमात्मा, ब्रह्म सोऽययात्मा चतुष्पात्।

– अहिताग्नि यमुना प्रसाद त्रिपाठी – कठोपनिषद् पर टीका।

जाता है। इस अवस्था मे बाह्य जगत् का अभाव होने के कारण जागृत अवस्था मे सचित सस्कारो द्वारा वह स्वप्न जगत् की रचना एव उसका उपभोग करता है।

आत्मा का तृतीय पाद 'प्राज्ञ' है। इस अवस्था मे आत्मा बाह्य और आतरिक किसी विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान नही करता । यह उच्च कोटि की अभावात्मक अवस्था है जिसमे दुःख लेशमात्र भी नही रहता परन्तु इस अवस्था मे आत्मा के वास्तविक स्वरूप का बोध नही होता क्योकि आत्मा मे मात्र दुःखो का अभाव ही नही वरन् अपने भावात्मक रूप मे वह आनन्द स्वरूप है। इस अवस्था को सुषुप्ति अवस्था कहा गया है। इस अवस्था मे आत्मा मे सभी कामनाओ एव सामान्य चेतना का लोप हो जाता है। ये तीनो अवस्थाये परमार्थ दृष्टि से तुरीयावस्था से भिन्न है।

आत्मा का चतुर्थ पाद 'प्रपञ्चोपशमस्थ' कहा गया है। आत्मा का यह चौथा पाद अद्वैत भी है। यह तैजस, वैश्वानर से भिन्न है क्योकि तैजस एव वैश्वानर की भॉति यह न तो बहिर्मुखी है न ही अन्तर्मुखी है और न ही यह प्राज्ञ के समान है। इस अवस्था का वर्णन नही हो सकता है। इस अवस्था मे आत्म–तत्त्व की यथार्थ सत्ता है। परन्तु इस सत्ता के विषय मे जितनी धारणाये प्रस्तुत की जाती है वे सभी अपर्याप्त है, किन्तु फिर भी ये विवेचनाये इसलिये प्रस्तुत की जाती है, जिससे इस सत्ता के विषय मे मिथ्या विचारो का निराकरण हो सके। यह अवस्था साधारण मनुष्यो की पहुॅच के परे है। इस अवस्था की प्राप्ति को योग–साधना का चरम लक्ष्य माना गया है। इस अवस्था मे ही आत्म–तत्त्व परमात्म स्वरूप हो जाता है।

इस प्रकार यद्यपि जीव का पारमार्थिक स्वरूप ब्रह्म है तथापि उपनिषदो मे जीवात्मा स्वरूप से उसकी जागृत, स्वप्न एव सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओ तथा उसके आवागमन का वर्णन मिलता है। ये तीनो जीवात्मा की अवस्थाये है। जो परमार्थ दृष्टि से ब्रह्म अथवा तुरीयावस्था से भिन्न है।

उपनिषदो मे आत्मा के विषय मे पचकोशवाद का सिद्धान्त मिलता है। तैत्तिरीय उपनिषद् मे आत्मा के पचकोशो का वर्णन मिलता है। आत्मा अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एव आनन्दमय इन पचकोशो से युक्त है। शुद्ध आत्मा स्थूल देह, प्राण, मन, बुद्धि आदि से भिन्न है तथा यह शुद्ध आनदमय चेतन है और यही ब्रह्म है। शरीर के अन्नमय कोश से जीवन का प्राणमय कोश, प्राणमय कोष से इच्छाओ एव कामनाओ का मनोमय कोश, मनोमयकोश से बुद्धि का विज्ञानमय कोश, एव विज्ञानमय कोश से आनन्दमय कोश ऊपर है।

उपनिषदो मे स्थूल शरीर को अन्नमय कोश कहा गया है। अन्नमय कोश के अन्दर प्राणमय कोश है, यह शरीर मे गति देने वाली प्राणशक्तियो से निर्मित हुआ है। प्राणमय कोश के अन्दर मनोमय कोश है। यह मन पर निर्भर है। इसमे स्वार्थमय इच्छाये है। मनोमय कोश के अन्दर विज्ञानमय कोश है। विज्ञान या बुद्धि ही परम सत्य है। इसमे ज्ञाता व ज्ञेय का भेद करने वाला ज्ञान निहित है। विज्ञानमय कोश के अन्दर आनन्दमय कोश है। यह पूर्ण आनन्द की अवस्था है। इसमे ज्ञाता एव ज्ञेय का भेद समाप्त हो जाता है। यही आत्मा का सार है। इस अवस्था मे आत्मा को अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता है और वह समस्त बधनो से मुक्त हो जाता है। अत आत्मा का वास्तविक स्वरूप आनन्दमय है।

उपनिषदो मे आत्मा सम्बन्धी विरोधी वर्णन प्राप्त होते हैं परन्तु अन्त मे इन विरोधो का समाधान किया गया है। नेति–नेति विवेचन शैली से आत्मा का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि, आत्मा न तो स्त्री है, न पुरुष और न ही नपुसक है वह जिस शरीर को धारण करता है उसी मे निवास करता है।[1] उपनिषदो मे कहा गया है कि वह दूर भी है और निकट भी सभी वस्तुओ के भीतर भी है और बाहर भी।[2] कठोपनिषद् मे उसे अणु से भी अणुतर एव महान से भी महत्तर[3] कहा गया है। इस प्रकार इन वर्णनो मे विरोध स्पष्ट

---

[1] श्वेताश्वतर उपनिषद् ।

[2] तदेजति सन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्थ तदुसर्वस्यास्य बाह्यत ।। — ईशावास्योपनिषद् /१/५

[3] अणोरणीयन्महतो महीयान। — कठोपनिषद् १/२/२०

रूप से दिखाई देता है। इन विरोधो का समाधान करते हुए उपनिषदो मे बताया गया है कि आत्मा अदृश्य होते हुए भी शाश्वत दृष्टा, अविचार्य होते हुये भी एक मात्र विचारक, अश्रव्य होते हुए भी शाश्वत श्रोता है। उससे परे कोई ज्ञाता या श्रोता नही है और न ही उससे परे किसी की सत्ता है। वह एकमात्र ज्योति है। वह प्रकाशपुँज है। जब सूर्य व चन्द्रमा अस्त हो जाते है एव अग्नि बुझ जाती है तब आत्मा की एकमात्र ज्योति रहती है। इस ज्योति को शब्दो के सहारे व्यक्त नही किया जा सकता है। इसीलिये उपनिषदो मे आत्म–तत्त्व के विषय मे परस्पर विरोधी वर्णन प्राप्त होते है।

ससीम से असीम की प्राप्ति का नाम ही उपनिषदो मे मोक्ष है। मोक्ष कही से प्राप्त होने वाली वस्तु नही वरन् आत्मा की स्वाभाविक दशा है। उपनिषदो मे मोक्ष की अवस्था को 'प्राप्तस्व प्राप्ति' कहा गया है। उपनिषदो मे आत्मा व ब्रह्म का पूर्ण–रूपेण तादात्म्य स्थापित करते हुये बताया गया है कि ब्रह्म ही आत्मा या आत्मा ही ब्रह्म है और इसी अभेद के अज्ञान के कारण जीवात्मा बन्धन मे पड जाता है। आत्मा और ब्रह्म मे भेद की भावना के कारण ही जीव मृत्यु के पाश मे फॅसकर इस ससार चक्र मे भ्रमण करता है, किन्तु जीवात्मा को जब अपने पारमार्थिक स्वरूप 'ब्रह्म से एकाकारिता' का बोध हो जाता है तो वह जन्म–मृत्यु के चक्र से मुक्त होकर अपने वास्तविक स्वरूप 'मै ही ब्रह्म हूँ,'[१] का साक्षात्कार करता है। वास्तव मे आत्मा अपने पारमार्थिक स्वरूप मे सदैव मुक्त है, किन्तु बन्धन की अवस्था मे जीवात्मा को ब्रह्म या शुद्ध आत्मा व जड जगत् के वास्तविक स्वरूप का अज्ञान रहता है। अत बन्धन का कारण अज्ञान है इसीलिये सभी उपनिषदो मे प्रतिध्वनित होता है कि ज्ञान से ही मुक्ति सभव है।[२] आत्मा के वास्तविक स्वरूप को न पहचानने के कारण ही मनुष्य पुनर्जन्म आदि दु खो को भोगता है। शुद्ध ज्ञान के प्राप्त होते ही साधक जन्म–मरण के बन्धन से मुक्त होकर ब्रह्म स्वरूप हो जाता है।[३]

---

[१] अह ब्रह्मास्मि। — बृहादारण्यक उपनिषद् १/४/१०

[२] ऋते ज्ञानान्न मुक्ति ।

[३] ब्रह्मविद ब्रह्मैव भवति। — मुण्डकोपनिषद् ३/२/९

उपनिषदो मे बन्धन को ग्रथि कहा गया है। इन ग्रन्थि से विमुक्त होकर वह अमर हो जाता है।[1]

इस प्रकार बन्धन का कारण अज्ञान ही है और ज्ञान के द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति सभव है। इसीलिये श्रुतियो मे यह उद्घोष है कि ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति ही मोक्ष की अवस्था है। उपनिषदो मे ज्ञान के दो प्रकार माने गये है– 'परा विद्या' एव 'अपरा विद्या'। ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद आदि अपरा विद्या की कोटि मे आते है जबकि ब्रह्म का ज्ञान पराविद्या है। अपरा विद्या और परा विद्या को व्यावहारिक व पारमार्थिक ज्ञान कहा जा सकता है। जिस ज्ञान की प्राप्ति बुद्धि के द्वारा होती है वह व्यावहारिक ज्ञान तथा ब्रह्म ज्ञान या आत्मतत्त्व का ज्ञान पारमार्थिक ज्ञान है। व्यावहारिक ज्ञान मे ज्ञाता, ज्ञेय एव ज्ञान की त्रिपुटी विद्यमान रहती है, जबकि पारमार्थिक ज्ञान मे साधक स्वय ब्रह्म हो जाता है। पारमार्थिक ज्ञान होने पर सभी प्रकार के भेदो का निराकरण हो जाता है। तत्पश्चात् साधक को आत्मस्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है। परन्तु व्यावहारिक ज्ञान निरर्थक नहीं है। यह ज्ञान साधक को परा विद्या की ओर ले जाता है। उपनिषदो मे ज्ञान को ही मुक्ति का साधन मानते हुये कहा गया है कि अज्ञान के समाप्त हो जाने पर आत्मज्ञान से हृदय की सारी वासनाए, इच्छाये, विकार, शोक, मोह, बधन सशय आदि नष्ट हो जाते है तथा अनन्त एव असीम होकर हम बन्धन मुक्त हो जाते है।

मोक्ष प्राप्ति के लिये आत्मज्ञान आवश्यक है, किन्तु उपासना, तप, भक्ति, कर्म आदि भी मोक्ष की प्राप्ति मे सहायक बताये गये हैं। उपासना व्यक्ति मे ज्ञान प्राप्ति की योग्यता पैदा करती है। कर्म से चित्त की शुद्धि होती है, चित्त की शुद्धि से भक्ति एव भक्ति से ज्ञान उत्पन्न होता है। श्रुति मे कहा गया है कि केवल विविदिषा अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति मे ही कर्म, तप, भक्ति आदि सहायक है, ज्ञान की प्राप्ति के बाद नहीं।[2] क्योकि ब्रह्मात्मैक्य दर्शन

---

[1] गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति। – मुण्डकोपनिषद् – ३/२/८/९

[2] तमेत वदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा।
– बृहदारण्यकोपनिषद् आ०उ० ४/४/२२

के पश्चात् जीव के ज्ञातृत्व, कर्तृत्व एव भोक्तृत्व दूर हो जाते है, फिर सब कुछ ज्ञात होने पर कुछ जानने योग्य नहीं रह जाता है।

ज्ञान की प्राप्ति के तीन सोपान है– श्रवण, मनन एव निदिध्यासन। श्रवण, मनन एव निदिध्यासन से आत्म ज्ञान की प्राप्ति होती है।[1] औपनिषदिक पुरुष की जानकारी प्राप्त करना, गुरू के मुख से ब्रह्म एव आत्मा के अभेद का ज्ञान प्राप्त करना श्रवण कहलाता है। अपनी युक्तियो से इस श्रवण को सत्यापित करना, एक और अद्वितीय तत्त्व को सिद्ध करना तथा नानात्व को मिथ्या सिद्ध करना मनन है अर्थात् अभेद ज्ञान के ऊपर समस्त शकाओ की निवृत्ति के लिये मनन करना आवश्यक है। श्रवण एव मनन के प्रतिष्ठित होने पर भी जीव मे पूर्णज्ञान का अभाव हो सकता है, इसलिये श्रवण एव मनन के विषयभूत ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान का बारबार चिन्तन अथवा ध्यान निदिध्यासन कहलाता है। निदिध्यासन के पश्चात् समाधि की अवस्था है। जिसमे साधक को 'मै ब्रह्म हूँ' (अह ब्रह्मास्मि) का बोध हो जाता है। यही जीवन मुक्ति है। जीवन मुक्त को प्रिय और अप्रिय, लौकिक सुख तथा दु ख आदि स्पर्श नही करते है।[2] जिस प्रकार सर्प को केचुल उतार फेकने के बाद उससे कोई मोह नही रह जाता, ठीक उसी प्रकार जीवनमुक्त साधक को अपने शरीर से कोई मोह नही रहता। प्रारब्ध कर्मो के क्षय हो जाने पर जीवन्मुक्त का शरीर छूट जाता है और वह विदेह मुक्त हो जाता है। उपनिषदो मे कहा गया है कि आत्मा न तो प्रवचन से, न मेधा या धारणा शक्ति से और न बहुत श्रवण से ही प्राप्त होने योग्य है। जिस साधक को यह आत्मा वरण कर लेता है, उसी के द्वारा वह प्राप्त होने योग्य है अर्थात् साधक के प्रति यह आत्मा अपने स्वरूप को प्रकट कर देता है।[3]

---

[1] आत्मावाऽरे द्रष्टव्य, श्रोतव्यो, मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च। – बृहदारण्यकोपनिषद् – २/४/५

[2] अशरीर वावसन्त न प्रियाऽप्रिये स्पृशत। – छान्दोग्य उपनिषद्– ८/१२/१

[3] नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया न बहुनाश्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष, आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्।। – कठोपनिषद् १/२/२३

जो पापकर्मो से निवृत्त नही हुआ एव जिस साधक की इन्द्रियॉ शान्त नही है और जिसका चित्त चलायमान है वह आत्मा के स्वरूप का ज्ञान नही प्राप्त कर सकता, किन्तु ज्ञान की प्राप्ति के उपरान्त आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करने वाले साधक को आत्मा परमात्मा से भिन्न नही भाषित होता। श्रुति कहती है कि जिस प्रकार शुद्ध जल मे शुद्ध जल मिला देने से भेद भाषित नही होता उसी प्रकार मूल तत्त्व का साक्षात्कार करने वाले को आत्मा व परमात्मा मे भेद नही परिलक्षित होता है।[1] आत्म–स्वरूप के साक्षात्कार से ही मोक्ष सभव है।

यद्यपि श्रवण, मनन, निदिध्यासन से आत्मज्ञान और ब्रह्म का साक्षात्कार होता है, परन्तु श्रवण, मनन एव निदिध्यासन मे सफल होने के लिये साधक मे वैराग्य, श्रद्धा एव उपासना का होना आवश्यक है। श्रवणादि के लिये साधक मे उच्चकोटि के वैराग्य की आवश्यकता है। कठोपनिषद् के नचिकेतोपाख्यान से स्पष्ट होता है कि जब यमराज ने नचिकेता को ससार की सभी वस्तुओ धन, पुत्र, घोडे, यश आदि का प्रलोभन देकर उसकी परीक्षा ली और नचिकेता इन सब प्रलोभनो के बावजूद भी आत्मतत्त्व को जानने के लिये अडिग रहा, तभी यम ने उससे आत्मज्ञान सम्बन्धी रहस्य उद्घाटित किया। उपनिषदो के अनुसार मुमुक्षु को लोकैषणा, पुत्रैषणा एव वित्तैषणा से मुक्त रहना चाहिये। आत्मज्ञान के लिये साधक मे कायिक, वाचिक एव मानसिक सभी प्रकार का सयम आवश्यक है।

जीवात्मा मे उच्चकोटि का वैराग्य होने के बावजूद श्रद्धा के न रहने पर श्रवणादि का प्रभाव कुण्ठित हो जाता है। जिस व्यक्ति मे श्रद्धा नही है, वह श्रवण मे विश्वास नही करेगा एव हमेशा सदेह और शका से घिरा रहेगा। श्रद्धा के बिना तर्क शुष्क एव नीरस है। गुरु द्वारा बताये गये वचनो मे श्रद्धा का होना आवश्यक है। श्रद्धा से युक्त होने पर ही तर्क या मनन निदिध्यासन अर्थात् ध्यान का रूप ग्रहण करता है। तीसरा आधिकारिक

---

[1] यथोदक शुद्धे शुद्धमासिक्ततादृगेव भवति।
एव मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम।।
– कठोपनिषद् २/१/१५ षड्दर्शन रहस्य – रगनाथ पाठक से उद्धृत।

लक्षण उपासना है। वैराग्य और श्रद्धा को पाने के लिये शुद्ध अन्त करण आवश्यक है। अन्त करण की यह शुद्धि उपासना से ही सभव है। उपासना से जब तक अन्त करण को शुद्ध न कर लिया जाये तब तक अन्त करण मे श्रवण एव मनन का प्रभाव नही पडेगा। यह ऊसर भूमि मे बीज बोने के समान है।

इस प्रकार श्रुतियो मे ब्रह्म ज्ञान या आत्मसाक्षात्कार को ही मोक्ष माना गया है। इस आत्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर हृदय की घुँडी खुल जाती है, सम्पूर्ण सशय नष्ट हो जाते है और उसके अनन्तर सर्व–कर्म नष्ट हो जाते है।[1] इस प्रकार ज्ञान के द्वारा ही आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है और यही मोक्ष की अवस्था है।

केनोपनिषद् मे कहा गया है कि यदि मनुष्य इस ससार मे रहता हुआ मरने के पहले ही उस परमात्मा को ज्ञान स्वरूप मे जान लेता है तो उसे मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है, किन्तु यदि इस शरीर मे रहते हुये व मरने से पहले इस बात को नही जान पाता है तो वह बार–बार ससार चक्र मे अनेक योनियो मे भ्रमण करता रहता है। अत जो जिज्ञासु सभी चराचर जगत् एव पचभूतो मे परमात्मा को देखते है वे मरकर भी अमर हो जाते है अर्थात् मुक्ति को प्राप्त कर लेते है।[2]

इस प्रकार उपनिषद् दर्शन मे आत्म–तत्त्व एव परमात्म–तत्त्व मे ऐक्य प्रतिपादित करते हुए श्रवण, मनन एव निदिध्यासन द्वारा मोक्ष प्राप्ति का बडा ही स्पष्ट विवेचन किया गया है।

---

[1] भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसशया।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।।
– मुण्डक उपनिषद् २/२/८

[2] इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टि।
भूतेषु, भूतेषु विचित्य धीरा प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।
केनोपनिषद् – २/५

श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय दार्शनिक सिद्धान्तो का निश्चित रूप से एक श्रेष्ठ ग्रथ है। यह महाभारत के भीष्म–पर्व का एक अश है। महाभारत युद्ध के पूर्व युद्ध–स्थल पर अर्जुन ने जब अपने पितामह, बन्धु–बान्धवो एव पुत्र आदि को देखकर युद्ध न करने का निश्चय किया तब भगवान् श्रीकृष्ण ने उन्हे गीता का उपदेश दिया था। यह गोपालनन्दन श्री कृष्ण द्वारा अर्जुन को बछडा बनाकर उपनिषद् रूपी गायो का दुहा गया अमृतमय दूध है, जिसे सुधीजन पीते है।[1] श्रीमद्भगवद्गीता का महत्त्व उपनिषदो से कम नहीं है, बल्कि यह उपनिषद्गे का सार रूप है, क्योकि इसके अध्यनोपरान्त दार्शनिक सिद्धान्तो या अन्य ज्ञान के लिये किसी दूसरे शास्त्र की आवश्यकता नहीं पडती। यह साक्षात् भगवान् पद्मनाभ के मुख से नि सृत है।[2] गीता की गणना प्रस्थानत्रयी के द्वितीय स्मार्त प्रस्थान के रूप मे की जाती है। गीता को कामधेनु एव कल्पवृक्ष की उपमा दी गयी है।

गीता मे कुल सात सौ श्लोक है। जिनमे मोक्ष या नि श्रेयस की प्राप्ति का अत्यन्त सरल शब्दो मे वर्णन किया गया है। गीता ज्ञान, कर्म एव भक्ति तीनो का समन्वय करती है। अध्यात्म तत्त्व के निरूपण मे जितने भिन्न–भिन्न मतो का उस समय उद्भव हो चुका था, उन सभी दार्शनिक तत्त्वो का बडा ही मनोरम सामञ्जस्य गीता मे प्राप्त होता है।

गीता मे कर्मयोग, ज्ञानयोग एव भक्तियोग नामक तीनो योगो का प्रतिपादन किया गया है। शरीर (अपरा) को लेकर कर्मयोग है। शरीरी (परा) को लेकर ज्ञान योग है तथा शरीर एव शरीरी दोनो के नियन्ता भगवान् को लेकर भक्तियोग माना गया है। श्री कृष्ण ने गीता के आरम्भ मे पहले शरीरी को लेकर फिर शरीर को लेकर क्रमश ज्ञान योग एव कर्म योग का वर्णन किया है, फिर ध्यान योग का वर्णन किया, क्योकि वह भी

---

[1] सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दन ।
पार्थो वत्स सुधीर्भोक्ता दुग्ध गीतामृत महत् ।।

[2] गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यै शास्त्रविस्तरै ।
या स्वय पद्मनाभस्य मुखपद्मात् विनिस्सृता ।।

कल्याण करने का एक साधन है। गीता के सातवे अध्याय मे भक्ति का विशेषता से वर्णन किया है, जो भगवान् का खास ध्येय है। मनुष्य कर्मयोग से जगत् के लिये, ज्ञान योग से अपने लिये तथा भक्ति योग से भगवान् के लिये उपयोगी हो जाता है।

गीता मे अध्यात्म तत्त्व का बहुत ही सुन्दर एव गूढ विवेचन किया गया है। यद्यपि पूरी गीता मे परमतत्त्व ब्रह्म का वर्णन किया गया है, किन्तु तेरहवे एव आठवे अध्याय मे ब्रह्म का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। इसमे ब्रह्म के दो रूपो सगुण एव निर्गुण का वर्णन मिलता है। ब्रह्म सभी इन्द्रियो से रहित होने पर भी इन्द्रियो के मूल स्त्रोत है। वे समस्त जीवो के पालनकर्त्ता होकर भी अनासक्त है। वह गुणो से रहित होकर भी गुणो के भोक्ता है।[1] ब्रह्म के अतिरिक्त किसी की भी सत्ता नही है। सबसे रहित भी वही है और सबके सहित भी वही है। इसके अतिरिक्त उन्हे (ब्रह्म को) सत्, असत् एव दोनो से परे, अचर–चर, दूरस्थ तथा अन्तिकस्थ एव सूक्ष्मतत्त्व तथा अविज्ञेय कहा गया है।[2] किन्तु यहॉ पर विरोधो की कल्पना करना उचित नही है, क्योकि सभी प्रकार की उपाधियो से रहित परम तत्त्व समस्त विरोधो का अत है, यही विचारशास्त्र का गूढ सिद्धान्त है। इस प्रकार गीता मे वर्णित सगुण तथा निर्गुण दोनो प्रकार के ब्रह्म मे कोई विरोध नही है।

गीता मे भगवान् ने अपनी दो प्रकृतियो का वर्णन किया है–परा एव अपरा।[3] पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहकार इन आठ प्रकार के भेदो वाली 'अपराप्रकृति' है।और जिसने जगत् को धारण किया हुआ है, वह जीव रूप बनी हुयी 'परा प्रकृति' है। अपरा और परा दोनो ईश्वर की प्रकृति अर्थात् स्वभाव है। अपरा, परा

---

[1] सर्वेन्द्रियगुणाभास सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्।
असक्त सर्वभृच्चैव निर्गुण गुणभोक्तृ च ।। — गीता १३/१४

[2] बहिरन्तश्च भूतानामचर चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेय दूरस्थ चान्तिके च तत्। — वही १३/१५

[3] अ– भूमिरापोऽनलो वायु ख बुद्धिरेव च।
अहकार इतीय मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।। — वही ७/४

ब– अपरेयमितस्त्वन्या प्रकृति विद्धि मे पराम्।
जीवभूता महाबाहो ययेद धार्यते जगत्।। — वही ७/५

तथा ईश्वर तीनो का क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम नाम से पन्द्रहवे अध्याय मे वर्णन किया गया है।[1] सातवे अध्याय मे तो भगवान् ने अपरा और परा दोनो को प्रकृति अर्थात् अपने से अभिन्न बताया है–(इतीय मे, मे पराम्) परन्तु पन्द्रहवे अध्याय मे अपने को अपरा (क्षर) से अतीत और परा (अक्षर) से उत्तम बताया है। इसका तात्पर्य है कि जब तक साधक अपरा (ससार) एव परा (स्वय) दोनो की स्वतन्त्र सत्ता मानता हे, तब तक भगवान् अपरा से अतीत और परा से उत्तम है। परन्तु जब उसकी मान्यता मे अपरा एव परा की स्वतन्त्र सत्ता का अभाव हो जाता है तब अपरा, परा और भगवान् तीनो एक ही होते है।[2] इस प्रकार परा प्रकृति से तात्पर्य जीव से तथा अपरा प्रकृति का दूसरा नाम क्षर पुरुष या क्षेम है। समस्त भौतिक पदार्थो को क्षर पुरुष के रूप मे स्वीकार किया गया है।

जीव या आत्मा चैतन्य से युक्त होने के कारण ही भगवान् या परमात्मा की परा प्रकृति या उत्कृष्ट विभूति है। गीता मे जीव को क्षेत्रज्ञ तथा भोगायतन होने के कारण शरीर को क्षेम कहा गया है। जिसका ज्ञाता क्षेत्रज्ञ या आत्मा है।

गीता के भिन्न–भिन्न अध्यायो मे आत्म–तत्त्व का निरूपण किया गया है, किन्तु द्वितीय अध्याय मे विस्तृत रूप से चर्चा की गई है। उपनिषदो मे आत्म–विषयक जो चिन्तन किया गया है, गीता मे उसका चरमोत्कर्ष देखा जा सकता है। आत्मा का वर्णन करते हुए गीता मे कहा गया है कि यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत, त्रिकालबाध, अचल, अज, अविनाशी तथा सनातन है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता मे चार्वाक मत के देहात्मवाद के विपरीत कहा है कि आत्मा देह से अतिरिक्त है। आत्मा को देह की भॉति षड्विकारो (उत्पन्न होना, सत्ता वाला दीखना, बदलना, बढाना, घटना एव नष्ट होना) से रहित बताते हुये कहा गया है कि यह आत्मा न तो उत्पन्न होता है, न मरता है, यह न हुआ है, न होने वाला है। यह अजन्मा है, सदा एक रूप, शाश्वत और प्राचीन होने पर भी

---

[1] गीता – १५/१८

[2] वासुदेव सर्वम्। गीता ७/१६

नवीन है। यह शरीर के नष्ट होने पर भी नष्ट नही होता है।[1] कठोपनिषद् मे भी आत्मा के विषय मे इसी तरह कहा गया है।[2] किन्तु इस श्लोक मे एक विशिष्ट शब्द विपश्चित् का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ है– विद्वान या ज्ञानमय। आत्मा को जो व्यक्ति मरने वाला या मारे जाने वाला समझता है, वे दोनो उसके तत्त्व से अपरिचित है, क्योकि यह न तो मरता है न मारा जाता है। जिस प्रकार मनुष्य अपने पुराने वस्त्रो का त्याग करके नये वस्त्रो को धारण करता है, ठीक उसी प्रकार जीवात्मा भी पुराने शरीर का परित्याग करके नवीन शरीर को प्राप्त होता है।[3] प्रत्येक जीव मे एक व्यष्टि आत्मा है जैसे – शरीर की बाल्या, युवा एव वृद्धा आदि अवस्थाये होती है। इन अवस्थाओ के परिवर्तन को लेकर कोई शोक नही होता है ठीक उसी प्रकार व्यष्टि आत्मा मृत्युपर्यन्त एक शरीर का त्याग करके दूसरे शरीर मे देहान्तरण कर जाता है। तब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि अवस्था परिवर्तन का तो हमे ज्ञान होता है कि मै पहले बालिका थी, फिर जवान हुई फिर वृद्धा हो गयी, परन्तु शरीरान्तर की प्राप्ति होने पर यह ज्ञान क्यो नही होता है? यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि मृत्यु–पर्यन्त पूर्व शरीर के ज्ञान न होने का कारण यह है कि मृत्यु एव जन्म के समय जीव को बहुत से कष्टो का सामना करना पडता है, जिसके कारण उसमे पूर्व जन्म की स्मृति नही रह जाती है। जिस प्रकार वृद्धावस्था मे हमारी स्मृति पहले जैसी नही रह जाती है या बुद्धि मे पहले जैसा ज्ञान नहीं रहता है ठीक उसी प्रकार मृत्यु एव जन्म के समय हुये कष्टो के कारण पूर्व जन्म का ज्ञान नही रहता। श्रीमद्भागवत मे कहा गया है कि मनुष्य रोते हुये स्वजनो के बीच अत्यन्त वेदना से अचेत होकर मृत्यु को प्राप्त होता है[4] एव जन्म के समय उसके श्वॉस की गति रूक

---

[1] न जायते म्रियते वा कदाचिन्नाय भूत्वा भविता वा न भूय।
अजो नित्य शाश्वतोऽय पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।। – गीता २/२०

[2] न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नाय कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्य शाश्वतोऽय पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।। – कठोपनिषद् १/२/१८

[3] वसासि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि सयाति नवानि देही।। – गीता २/२२

[4] श्री मद्भागवत पुराण – ३/३०/१८

जाती है और पूर्व स्मृति नष्ट हो जाती है।[1] जन्म और मृत्यु आत्मा का धर्म न होकर शरीर के ही धर्म है। अनेक योनियो पर विचरण करते रहने पर भी हमारी सत्ता ज्यो की त्यो बनी रहती है। मनुष्य का जीवन किसी एक शरीर के अधीन नही है। यह शरीर विनाशी है, क्योकि यह नित्य निरन्तर विनाश की ओर अग्रसर हो रहा है जबकि आत्मा अविनाशी है। इस आत्मा को न तो शस्त्र काट सकते है न ही अग्नि इसे जला सकती है और न ही जल इसको गीला कर सकता है और न ही वायु इसे सुखा सकती है।[2] पृथ्वी, जल, तेज, वायु एव आकाश ये पॉच महाभूत है। जिनमे से चार के (पृथ्वी, जल, अग्नि एव वायु) विषय मे यह कहा गया है कि ये किसी प्रकार से आत्मा को नुकसान नही पहुॅचा सकते है, क्योकि आत्मा नित्य तत्त्व है और इसी से इन चारो तत्वो को सत्ता स्फूर्ति मिलती है अत ये आत्मा को विकृत नही कर सकते है। आत्मा जहॉ सर्वव्यापक है वही पृथ्वी आदि चारो तत्त्व व्याप्त अर्थात् शरीर के अर्न्तगत आने के कारण उसको नुकसान पहुॅचाने मे असमर्थ है। पुन आत्मा का वर्णन करते हुए श्री कृष्ण कहते है कि– आत्मा का शस्त्र छेदन नही कर सकते है अत यह अखडित है, जलने की योग्यता न होने के कारण यह अदाह्य, अशोष्य तथा नित्य निरन्तर रहने वाला है। यह सभी कालो मे ज्यो का त्यो रहने वाला है। सर्वगत होने पर भी यह स्थिर स्वभाव वाला है, कही आता जाता नही है तथा यह अपरिवर्तनीय (स्थाणु) भी है।[3] प्रकृति एव प्रकृति के कार्य मे प्रतिक्षण क्रिया होती रहती है, परिवर्तन होता है किन्तु इस परिवर्तनशील ससार मे जो क्रिया रहित, परिवर्तन रहित, स्थायी स्वभाव वाला तत्त्व है वही आत्मा है। इस आत्मा का प्रत्यक्ष नही होता है, जिस प्रकार स्थूल शरीर का प्रत्यक्ष सभव है उसी प्रकार आत्मा

---

[1] श्री मद्भागवत् पुराण – ३/३१/२३

[2] नैन छिन्दन्ति शस्त्राणि नैन दहति पावक ।
न चैन क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत ।। – गीता २/२३

[3] अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्य सर्वगत स्थाणुरचलोऽय सनातन ।। – गीता २/२४

का प्रत्यक्ष नही किया जा सकता है। यह आत्मा सूक्ष्म दृष्टि से रहित होने के कारण चिन्तन का विषय भी नही है। यह कारण सृष्टि से रहित होने के कारण निर्विकार है।[1]

इस प्रकार उपरोक्त दोनो श्लोको मे आत्मा का विध्यात्मक एव निषेधात्मक वर्णन प्राप्त होता है। अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य, अचल, अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकार्य इन आठ विशेषणो के द्वारा इस आत्मा का निषेधमुख से और नित्य, सर्वगत स्थाणु एव सनातन इन चार विशेषणो के द्वारा इस देही या आत्मा का विधि मुख से वर्णन किया गया है। परन्तु वास्तव मे इसका वर्णन नही हो सकता, क्योकि यह वाणी का विषय नही है। जिससे वाणी आदि प्रकाशित होते है, उस आत्मा या देही को वे कैसे प्रकाशित कर सकते है। यह आत्मा चेतन स्वरूप व अनादि है जबकि शरीर आदि एव अन्त से युक्त है।[2] पुरुष निर्गुण है पर शरीर गुणमय है। पुरुष परमात्मा है पर शरीर अनात्मा है। पुरुष अव्यय या नित्य है, किन्तु शरीर नाशवान है इसलिये अज्ञानी मनुष्य के द्वारा पुरुष (आत्मा) को शरीर मे स्थित मानने पर भी वास्तव मे वह शरीर मे स्थित नही है अर्थात् शरीर से सर्वथा असम्बद्ध है। शरीर का सम्बन्ध ससार के साथ है, जबकि आत्मा का सम्बन्ध परमात्मा के साथ है। जिस प्रकार मकान मे रहते हुये भी हम मकान से असम्बद्ध है, ठीक उसी प्रकार आत्मा भी शरीर मे रहते हुये शरीर से सम्बन्धित नही है अर्थात् शरीर से अलग है। गीता मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जैसे सर्वत्र व्याप्त आकाश अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण कही भी लिप्त नही होता है ठीक वैसे ही देह मे सर्वत्र स्थित आत्मा निर्गुण होने के कारण देह के गुणो मे लिप्त नही होता है।[3] इसके आगे कहा गया है कि जिस प्रकार नेत्रो से दिखने वाला सूर्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है और उसके प्रकाश मे सम्पूर्ण शुभाशुभ क्रियाये होती है पर सूर्य उन

---

[1] अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेव विदित्वैन नानु शोचितुमर्हसि।। — गीता २/२५

[2] अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता शरीरिण। — गीता २/१८

[3] अनादित्वन्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्य॒य।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।। — गीता १३/३१

क्रियायो का न तो कर्त्ता बनता है और न भोक्ता ठीक उसी प्रकार आत्मा सम्पूर्ण लोको मे सब शरीरो को प्रकाशित करता है अर्थात् उनको सत्ता स्फूर्ति देता है पर वास्तव मे वह स्वय न तो कुछ करता है और न लिप्त होता है।[1]

आत्मा परमात्मा का अश है, परन्तु प्रकृति के कार्य शरीर, इन्द्रियो, प्राण–मन आदि के साथ अपनी एकता मानकर वह जीव हो गया है। वह केवल परमात्मा का ही अश है इसमे प्रकृति का किञ्चिन्मात्र भी अश नहीं है। जिस प्रकार शेर का बच्चा भेडो मे मिलने पर स्वय को अज्ञानवश भेड समझ लेता है, उसी प्रकार जीव शरीरादि जड पदार्थो के साथ मिलकर अपने असली चेतन स्वरूप (आत्मा) को भूल जाता है। अत इस भूल को मिटाकर उसे अपने सर्वथा चेतन स्वरूप का ही अनुभव करना चाहिये। शेर का बच्चा भेड के साथ मिलकर भी भेड नहीं हो जाता, बल्कि किसी अन्य सिह के द्वारा अपना बोध कराये जाने पर (कि तुम सिह हो) स्वय को भेड न समझकर सिह समझ लेता है इसी प्रकार भगवान् द्वारा जब जीव को 'ममएव' आदि पदो से उसके वास्तविक स्वरूप कि– 'तू मेरा ही रूप है या अश है प्रकृति के साथ तेरा सम्बन्ध न कभी हुआ है न हो सकता है का बोध कराते है?', तब आत्मा को तत्त्व ज्ञान या आत्म स्वरूप की प्राप्ति होती है।

बन्धन –

गीता मे कहा गया है कि जीव केवल भगवान् का अश है उसका प्रकृति के साथ कोई सम्बन्ध नही है, किन्तु अज्ञानवश वह अपरा प्रकृति के साथ सम्बन्ध जोड लेता है। मन, शरीर एव इन्द्रियो से सम्बन्ध स्थापित कर लेने के कारण वह स्वय को सुखी, दु खी कर्त्ता एव भोक्ता महसूस करने लगता है, यही अनर्थ का कारण है। यह अज्ञान है जिसके कारण जीव बन्धन मे पड जाता है। अहकार अन्त करण की एक वृत्ति है, किन्तु जीव भूलवश उस वृत्ति को अपना मान लेने के कारण बन्धन मे पड जाता है।[2] यद्यपि

---

[1] गीता १३/३३

[2] प्रकृते क्रियमाणानि गुणै कर्माणि सर्वश ।
अहकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।। – गीता ३/२७

सम्पूर्ण कर्म सब प्रकार से प्रकृतिजन्य गुणो के द्वारा ही किये जाते है तथा अहकार से मोहित अन्त करण वाला अज्ञानी मनुष्य स्वय को कर्त्ता मान लेता है अहकार के कारण ही वह शरीर, मन एव इन्द्रियो आदि के साथ 'मै' एव 'मेरा' का सम्बन्ध स्थापित करके स्वय को शरीरादि समझने लगता है। जब व्यक्ति शरीर को 'मै' (अपना स्वरूप) मान लेता है, तब उसमे अनेक प्रकार की कामनाए उत्पन्न होने लगती है जो उसके बन्धन का कारण होती है। समस्त क्रियाये– शरीर, इन्द्रिय एव मन तथा बुद्धि के द्वारा होती है और ये चारो ही कर्म करने के साधन है। यदि इनमे काम रहता है तो वह पारमार्थिक कर्म नही करने देता है। वस्तुत काम अहम् (जड चेतन के तादात्म्य) मे ही रहता है। अहम् अर्थात् 'मै'–पन केवल माना हुआ है। कामना ही समस्त पापो व बन्धन की जननी है। पुराने पापो का फल तो भोगोपरान्त नष्ट हो जाता है। पर 'अहम्' से कामना के दूर हुये बिना मनुष्य नित्य नये–नये पाप करता रहता है। इसलिये कामना ही जीव को बॉधने वाली है। महाभारत मे भी कहा गया है कि जगत् मे कामना ही एक मात्र बन्धन है, जो कामना के बन्धन से छूट जाता है वह मोक्ष प्राप्त करने मे समर्थ हो जाता है।[1] इस कामना के कारण क्रोध की उत्पत्ति होती है[2] तथा क्रोध से सम्मोह उत्पन्न होता है। सम्मोह से स्मृति भ्रष्ट हो जाती है स्मृति के भ्रष्ट होने पर बुद्धि का नाश हो जाता है और जब मनुष्य मे भेदा– भेद करने वाली बुद्वि का नाश हो जाता है तो वह पतन की ओर अग्रसर हो जाता है।[3] मार्कण्डेयपुराण मे भी कुछ इसी प्रकार का वर्णन प्राप्त होता है।[4] इस प्रकार काम देहाभिमानी के ज्ञान को ढॅककर इन्द्रियो, मन व बुद्धि के द्वारा उसे मोहित करके पतन

---

[1] कामबन्धनमेवैक नास्यदस्तीह बन्धनम्।
कामबन्धमुक्तो हि ब्रह्मभूयाय कल्पते।। – शान्ति पर्व (२५१/७)

[2] कामात्क्रोधोऽभिजायते । – गीता २/६२

[3] क्रोधाद्भवति सम्मोह सम्मोहात्स्मृतिविभ्रम ।
स्मृतिभ्रशाद् बुद्धिनाशो बुद्धि नाशात्प्रणश्यति।। – गीता २/६३

[4] रागातकाम प्रभवति कामाल्लोभोऽभिजायते।
लोभाद्भवति सम्मोह सम्मोहात् स्मृतिविभ्रम ।।
स्मृति भ्रशाद् बुद्धिनाशो बुद्धि नाशात् प्रणश्यति।। – मार्कडेण्य पुराण ३/७१–७२

के गड्ढे मे ढकेल देता है। गीता के द्वितीय अध्याय मे स्पष्टत कहा गया है कि देह एव देही दोनो अलग–अलग है, किन्तु कामना के उत्पन्न होने पर ही जीव मोहित होकर ससार बन्धन मे बध जाता है।

मोक्ष-

जीव भगवान् का सनातन अश है, अत भगवान् के साथ अपना सम्बन्ध जोड लेना ही गीता मे वास्तविक पुरुषार्थ या मोक्ष कहा गया है। जब मनुष्य ससार के साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब वह बँध जाता है और जब परमात्मा के साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब वह मुक्त होकर भक्त हो जाता है। मनुष्य से सबसे बडी गलती यह होती है कि वह जो शरीर ससार का है उसे अपना मान लेता है, और जो वस्तुत अपना है अर्थात् परमात्मा को भूल जाता है। जब साधक इस सत्य को स्वीकार कर लेता है कि शरीर मेरा नही है और मेरे लिये नही है तब उसके द्वारा स्वत ससार की सेवा होती है। जब वह इस सत्य को स्वीकार कर लेता है कि भगवान् मेरे है और मेरे लिये है तब उसको स्वत भगवान् मे प्रेम होता है। मनुष्य जो शरीर के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है उसका त्याग करने के लिये उसको तीन बातो का ज्ञान आवश्यक है–

१ शरीर मेरा नही है, क्योकि इस पर मेरा वश नही चलता।
२ मुझको कुछ नही चाहिये।
३ मुझे अपने लिये कुछ नहीं करना है।

जब तक साधक स्थूल सूक्ष्म एव कारण तीनो शरीरो से अपना सम्बन्ध मानता रहता है, तबतक स्थूल शरीर से होने वाला 'कर्म' सूक्ष्म शरीर से होने वाला 'चिन्तन' और कारण शरीर से होने वाली 'स्थिरता' –तीनो ही उसको बॉधने वाले होते है। परन्तु तीनो शरीरो से सम्बन्ध विच्छेद होने पर वह कर्म, चिन्तन और स्थिरता तीनो से असग हो जाता है।

इसी प्रकार भगवान् के साथ नित्य सम्बन्ध की जागृति के लिये भी साधक को तीन बातो का ज्ञान होना आवश्यक है–

१ भगवान् मेरे है।
२ मै भगवान् का हूँ।
३ सब कुछ भगवान् का है।

जब साधक के अन्दर भगवान् के साथ नित्य सम्बन्ध की भावना जागृत हो जाती है तब उसको भगवत्प्रेम की प्राप्ति हो जाती है। इस भगवत्प्रेम की प्राप्ति मे ही मनुष्य जीवन की पूर्णता है।

मोक्ष प्राप्ति के साधन-

गीता मे ज्ञान, भक्ति एव कर्म तीनो को मोक्ष के साधन या मार्ग के रूप मे स्वीकार किया गया है। ज्ञान, भक्ति एव कर्म तीनो योगो का गीता मे विलक्षण समन्वय हुआ है। ध्यानमार्ग साधना का मार्ग है जो ज्ञान, कर्म एव भक्ति तीनो मे उपादेय है। ध्यान मानसी क्रिया होने से कर्म से सम्बद्ध है, उपासना भगवान् का ध्यान या स्मृति होने से भक्ति से सम्बद्ध है, और चित्त की एकाग्रता द्वारा वृत्तियो के समाधि मे विलीन होने पर निर्विकल्प ज्ञान का प्रकाशित होना ध्यान का लक्ष्य है। गीता मे 'योग' शब्द व्यापक अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है और योग मे ध्यान, ज्ञान, कर्म और भक्ति का समन्वय है। योग का शाब्दिक अर्थ है 'मिलन' अर्थात् जीवात्मा का परमात्मा से मिलन, इतना प्रगाढ मिलन कि दोनो दो न रहकर एक हो जावे। योग मे दुख से आत्यन्तिक वियोग और अखण्ड आनन्द से आत्यन्तिक सयोग होता है।[1] परमात्मा के साथ जीव का योग अर्थात् सम्बन्ध नित्य है। इस स्वत सिद्ध नित्ययोग का नाम ही 'योग' है। यह नित्ययोग सब देश मे, काल मे, सब क्रियाओ मे, सब वस्तुओ मे, सब व्यक्तियो मे, सब अवस्थाओ मे, सब परिस्थितियो एव घटनाओ मे है। इस नित्ययोग का कभी वियोग न है, न हो सकता है, न होगा। परन्तु शरीर (असत्) के साथ अपना सम्बन्ध मान लेने से

---

[1] भारतीय दर्शन, आलोचन एव अनुशीलन – डा० चन्द्रधर शर्मा पृष्ठ सख्या– १७ से उद्धृत।

इस नित्य योग का अनुभव नही होता है। दु ख रूपी शरीर के साथ माने गये सयोग का वियोग (सम्बन्ध–विच्छेद) होते ही इस नित्य योग का अनुभव हो जाता है। यही गीता का मुख्य योग है और इसी योग का अनुभव करने के लिये गीता मे ज्ञान, कर्म, भक्ति एव ध्यान आदि साधनो का वर्णन किया गया है। जब शरीर से सम्बन्ध विच्छेद और परमात्मा के साथ नित्य सम्बन्ध का अनुभव इन साधनो के द्वारा होता है तभी इन्हे योग कहा जाता है।

भगवान् ने योग की परिभाषा दो प्रकार से दी है–

१ समता का नाम योग है।[1]

२ दु खरूपी ससार के साथ सयोग के वियोग का नाम योग है।[2]

चाहे समता कहे, चाहे ससार के सयोग का वियोग कहे दोनो एक ही है, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर द्वितीय 'त–विद्यादु खसयोगवियोग योगसञ्ज्ञितम्' योग की पहले की तथा 'समत्व योग उच्यते' बाद की स्थिति है, जिसमे नैष्ठिकी शान्ति, परमशान्ति अथवा आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति है।

समता की प्राप्ति भी स्वत हो रही है और दु खो की निवृत्ति भी स्वत हो रही है। प्राप्ति उसी की होती है, जो नित्य प्राप्त है और निवृत्ति उसी की होती है, जो नित्य निवृत्त है। नित्यप्राप्त की प्राप्ति का नाम भी योग है और नित्यनिवृत्त की निवृत्ति का नाम भी योग है। वस्तु, व्यक्ति और क्रिया के सयोग से होने वाले जितने भी सुख है, वे सब दु खो के कारण अर्थात् दु ख पैदा करने वाले है।[3] अत सयोग मे ही दु ख होता है, वियोग मे नहीं। वियोग या ससार से सम्बन्ध–विच्छेद मे जो सुख है, उस सुख का वियोग नहीं होता, क्योकि वह नित्य है। जब सयोग मे भी वियोग है और वियोग मे भी वियोग है तो इस कारण वियोग नित्य है। इस नित्य वियोग को ही गीता 'योग' कहती है।

---

[1] समत्व योग उच्यते — गीता २/४८

[2] त विद्याद् दु खसयोगवियोग योगसञ्ज्ञितम्। — गीता ६/२३

[3] ये हि सस्पर्शजा भोगा दु खायोनय एव ते।
आद्यन्तवन्त कौन्तेय न तेषु रमते बुध ।। — गीता ५/२२

परमपद्प्रदायिका गीता मे भगवान् श्रीकृष्ण ने मुक्ति प्राप्ति के दो उपायो की चर्चा की है–

१ प्रवृत्ति मार्ग

२ निवृत्ति मार्ग

निवृत्तिमार्ग को ही उन्होने साख्य–योग या ज्ञानयोग के रूप मे देखा है तथा प्रवृत्ति मार्ग को कर्म योग के रूप मे, किन्तु निष्कर्ष के रूप मे कर्मयोग ही ज्ञान एव भक्ति योग का आधार है। अतएव प्रवृत्ति मार्ग से मोक्ष की प्राप्ति अन्य मार्गो की अपेक्षा सरलता से हो सकती है। यद्यपि द्वितीय अध्याय मे साख्य–योग की शिक्षा श्रीकृष्ण अर्जुन को देते है और तीसरे अध्याय मे कर्मयोग की। इस प्रकार से मिली–जुली सी बाते करने पर अर्जुन के मन मे शका उत्पन्न होती है कि अगर साख्य–योग या ज्ञान योग कर्म योग से अच्छा है तो भगवान् मुझे इस घोर कर्म या (कर्मयोग) की ओर क्यो प्रेरित कर रहे है।[1] इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् श्रीकृष्ण यह कहते है कि वस्तुत साख्य–योग या ज्ञान योग मे कर्मो का त्याग हो ही नहीं सकता इसलिये साधक को कर्म–योग का सहारा लेना ही पडता है। हॉ कर्मयोग मे कर्मो की जो बात कही गई है वहॉ निरासक्त भाव से किये गये कर्म ही ग्राह्य है और भगवान् श्रीकृष्ण ने कर्मयोग से मुक्ति प्राप्ति का दृष्टान्त भी अर्जुन के सामने प्रस्तुत किया।[2] यहॉ पर अन्य योगो की अपेक्षा कर्म योग को विशिष्ट बताया है। वस्तुत भगवान् श्रीकृष्ण जिस योग का वर्णन प्रस्तुत करते है उसी मे वह तन्मय हो जाते हैं। इसका आशय यह निकलता है कि श्रीकृष्ण की दृष्टि मे जितना महत्त्व ज्ञान योग का है उतना ही महत्व कर्मयोग एव भक्ति योग का भी है। यहॉ पर भगवान् ने यह मुमुक्षु पर छोड दिया है कि वह किस मार्ग को चुनता है।

कर्मयोग का ज्ञान योग से कोई विरोध नहीं है, बल्कि गीता मे जो निष्कामभाव से कर्म करने को कहा गया है वह ज्ञानी व्यक्ति के द्वारा ही सम्पादित हो सकता है। गीता मे

---

[1] ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्कि कर्माणि घोरे मा नियोजससि केशव। – गीता ३/१

[2] कर्मणैव हि ससिद्धिमास्थिता जनकादय। – गीता ३/२०

कर्म का निषेध न करके, कर्म–फल का त्याग करने को कहा गया है। गीता मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि मनुष्य का कर्म करने का अधिकार है, किन्तु कर्म के फलो का वह अधिकारी नहीं है। अत उसे फलासक्ति से रहित होकर कर्म करना चाहिये।[1] गीता का निष्काम कर्म ज्ञानी के लिये ही है, साधारण पुरुषो के लिये नहीं, क्योकि साधारण पुरुष द्वारा निष्काम भाव से कर्म करना सभव नहीं है। निष्काम भाव से कर्म तो केवल जीवन मुक्त पुरुष ही कर सकता है। अपना कुछ भी न मानकर सम्पूर्ण कर्म ससार के हित के लिये करना, अपने लिये कुछ भी न करना इस प्रकार जब मुमुक्षु सेवक बनकर सेवा मे लीन हो जाता है। तब कर्मजन्य सुख लेने की आसक्ति मुमुक्षु मे सर्वथा मिट जाती है और उसे अपने परमात्मा के साथ नित्य सम्बन्ध का अनुभव हो जाता है।

मुमुक्षु का लक्ष्य अपरोक्षानुभूति द्वारा परमात्म तत्त्व का साक्षात्कार करना होता है जो बिना ज्ञान के सभव नहीं है। जिस प्रकार अग्नि काष्ठ को जलाकर भस्म कर देती है। उसी प्रकार तत्त्व ज्ञान रूपी अग्नि सचित, क्रियमाण व प्रारब्ध कर्मो को जलाकर भस्म कर देती है।[2] तत्त्व ज्ञान होने पर कर्मो से अथवा ससार से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। चूँकि सभी सचित कर्म अज्ञान के आश्रित रहते है। अत वे ज्ञान प्राप्त होते ही नष्ट हो जाते है। इसी प्रकार कर्तृत्वाभिमान न रहने पर क्रियमाण कर्म अकर्म हो जाते है, किन्तु प्रारब्ध कर्म शरीर रहने तक अवश्य रहते है, किन्तु ज्ञानी पर उसका असर नहीं पडता है। इस प्रकार कर्म की परिसमाप्ति ज्ञान मे ही होती है। तत्त्व ज्ञान का अनुभव होने पर ससार से सम्बन्ध विच्छेद हो जाने पर शान्ति या आनन्द मिलता है।[3] तत्त्व–ज्ञानी की ब्रह्म से तात्त्विक एकता होती है। इस अवस्था मे जीव व ब्रह्म मे अभेद हो जाता है और वह अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर सच्चिदानन्द स्वरूप हो जाता है। गीता मे भगवान् श्रीकृष्ण ने ज्ञानी को अपनी आत्मा कहा है।[4]

---

[1] कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।। —गीता २/४७

[2] ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरूते तथा। —गीता ४/३७

[3] ज्ञान लब्ध्वा परा शान्तिमचिरेणाधिगच्छति। —गीता ४/३६

[4] ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्। —गीता ७/१८

गीता–ज्ञान का सार भक्ति है। ज्ञान मार्ग मे यह कहा गया है कि मुमुक्षु अपने को कर्त्ता न माने, किन्तु यह अकर्त्तापन की भावना अत्यन्त कठिन है, क्योकि मनुष्य निष्काम भाव से कर्म नहीं कर सकता है इसीलिये गीता मे कर्मयोग को ज्ञान योग से तथा ज्ञान योग को भक्तियोग से जोडा गया है। गीता मे स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि हमे अपने कर्त्तव्य कर्मो को करते हुये उनका फल भगवान् को अर्पित कर देना चाहिये । भक्ति गीता का हृदय है। इसके उपदेश का प्रारम्भ ही 'शरणागति' से होता है और अन्त या समापन भी 'शरणागति' मे ही होता है। जब अर्जुन मोहग्रस्त होकर युद्ध करने से इकार कर देता है एव श्रीकृष्ण से प्रार्थना करता है कि मै आपकी शरण मे आया हूँ कृपया मेरा मोह दूर करे। तब भगवान् उसे गीता का उपदेश देना प्रारभ करते है तथा गीता की समाप्ति के समय भी भगवान् अर्जुन से कहते है कि तू सब कुछ या सम्पूर्ण धर्मो का आश्रय छोडकर मेरी शरण मे आ जा।[1]

शरणागत भक्त जब 'मै भगवान् का हूँ' और 'भगवान् मेरे है' जब इस भाव को दृढता से पकड लेता है, तो उसके सभी शोक, भय, चिन्ता आदि दुख दूर हो जाते है। शरणागत के लिये कुछ भी शेष नहीं रह जाता। वह अपने आपको पूरी तरह से भगवान् को समर्पित कर देता है। जहाँ कर्म–योगी का भगवान् के साथ नित्य सम्बन्ध तथा ज्ञान योगी का तात्त्विक सम्बन्ध होता है। वहीं भक्त का भगवान् के साथ आत्मीय सम्बन्ध होता है। गीता मे भक्ति योग का जो प्रतिपादन किया गया है उसको वैष्णव वेदान्त मे अत्यत महत्त्व दिया गया है। वैष्णव वेदान्त मे भी कहा गया है कि मोक्षावस्था मे भक्त भगवान् के साथ आत्मीय सम्बन्ध स्थापित करता है। भगवान् की अनन्य शरण मे जाने पर भगवान् ही भक्त का ध्यान रखते है। जिस प्रकार बिल्ली अपने बच्चे को मुँह मे दबाकर स्नेहपूर्वक सुरक्षित स्थान पर पहुँचा देती है। इसके लिये बच्चो को किसी प्रकार का प्रयत्न न करके केवल माँ के प्रति पूर्ण समर्पण करना पडता है। उसी तरह जब भक्त ईश्वर के प्रति पूर्ण रूप से

---

[1] मामेक शरण व्रज। — गीता १८/६६

समर्पण कर देता है, तो भगवान् उसकी सब प्रकार से रक्षा करते है।[1] श्रीमद्भागवत पुराण मे नौ प्रकार की भक्ति का वर्णन मिलता है। जो निरन्तर श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, वन्दन, अर्चन, दास्यभाव, साख्यभाव एव आत्मनिवेदन द्वारा भगवान् के चरणकमलो की सेवा मे रत रहते है, वे भगवत्कृपा से इस ससार मे पुन नहीं फँसते है उन्हे भगवान् का कृपामय सरक्षण प्राप्त होता है।

इस प्रकार भक्ति का अर्थ उपासना किया जाता है। अपना सब कुछ त्याग करके आसक्त भाव से भगवान् का निरन्तर स्मरण करने पर भगवान् प्रसन्न होकर साधक को मुक्ति प्रदान करते है। गीता मे भगवान् ने कहा है कि अनन्य भक्ति से ही मै जाना जा सकता हूँ, अनन्य भक्ति से ही मै देखा जा सकता हूँ और अनन्य भक्ति के द्वारा ही मुझे प्राप्त किया जा सकता है। जो अनन्य भक्ति से मेरा चिन्तन करता है उन्हीं के लिये मै सुलभ हूँ।[2]

इस प्रकार गीता मे ज्ञान योग एव कर्मयोग जहाँ लौकिक साधन है वही भक्ति योग अलौकिक साधन है। अलौकिक की प्राप्ति होने पर लौकिक की प्राप्ति भगवत्कृपा से स्वत हो जाती है। दसवे अध्याय मे भगवान् ने कहा है कि मै भक्तो को प्रीतिपूर्वक कर्मयोग व ज्ञानयोग दोनो प्रदान करता हूँ।[3] अत भगवान् कृपा करके अपने भक्त को अपरा की प्रधानता से होने वाले कर्मयोग तथा परा की प्रधानता से होने वाले ज्ञान योग को प्रदान करते है। कर्मयोग के द्वारा भक्त ससार का उपकार करता है एव ज्ञान योग के द्वारा उसका देहाभिमान दूर हो जाता है।

---

[1] अनन्याश्चिन्तयन्तो मा में जना पर्युपासते।
तेषा नित्याभियुक्ताना योगक्षेम वहाम्यहम्।। — गीता ९/२२

[2] भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवविधोऽर्जुन।
ज्ञातु द्रष्टु च तत्त्वेन प्रवेष्टु च परन्तप।। — गीता ११/५४

[3] अ— ददामि बुद्धियोग तम्। — गीता १०/१०
ब— ज्ञानदीपेन भास्वता। — गीता १०/११

गीता का आदर्श स्थितप्रज्ञ है। यह मानव जीवन की सर्वोच्च अवस्था अथवा सर्वोच्च मूल्य है। ऐसा व्यक्ति जिसकी प्रज्ञा या बुद्धि परमात्मा का अनुभव करने मे स्थिर हो चुकी है, वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है।[1] यह वह अवस्था है जहाँ मुमुक्षु का परमात्मा के साथ अखण्ड सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। अप्राप्त वस्तु की इच्छा का नाम कामना है। स्थितप्रज्ञ सभी कामनाओ का त्याग करके, स्पृहा रहित– अर्थात् कामनाओ का त्याग कर देने पर भी शरीर के निर्वाहमात्र के लिये देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, आदि की जो आवश्यकता दीखती है या जीवन निर्वाह के लिये प्राप्त एव अप्राप्त वस्तु आदि की जो जरुरत दिखती है उसे स्पृहा कहते है, इसका भी त्याग कर देता है। वह वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, शरीर एव इन्द्रियो आदि मे ममता रहित हो जाता है। मै शरीर का हूँ इस प्रकार के भाव का त्याग करके वह निरहकार हो जाता है और कामना, स्पृहा, ममता और अहता से रहित होने पर उसे स्वत सिद्ध शान्ति का अनुभव होता है। जिस प्रकार कछुआ अपने अगो को सकुचित करके खोल के भीतर कर लेता है, उसी तरह जो मनुष्य अपनी इन्द्रियो को इन्द्रिय विषयो से खींच लेता है वह परमात्मा मे दृढतापूर्वक स्थिर होता है। स्थितप्रज्ञ इन्द्रियो और मन पर विजय प्राप्त कर लेता है। स्थितप्रज्ञ इन्द्रियो को विषयो से अलग ही नही करता वरन् सभी को परमात्मा के परायण कर देता है। भगवान् मे मन लगते ही मनुष्य अनासक्त आचरण करने लगता है।

स्थितप्रज्ञ तीनो योगो का समन्वित रूप है। चूँकि वह अपने मन और बुद्धि को भगवान् मे हमेशा लगाकर रखता है इसलिये वह भक्त है। अनासक्त भाव से कर्म करने के कारण वह कर्मयोगी है तथा सुख एव दुख के प्रति समभाव से आचरण करने के कारण वह ज्ञानी है। इस प्रकार स्थितप्रज्ञ के चरित्र मे कर्म, ज्ञान एव भक्ति तीनो का समन्वय रहता है। स्थितप्रज्ञ की धारणा गीता की देन है इसके पूर्व के वैदिक ग्रथो एव उपनिषदो मे यह नही प्राप्त होती है।

---

[1] विहाय कामान्य सर्वान्पुमाश्चरति नि स्पृह ।
निर्ममो निरहङ्कार स शान्तिमधिगच्छति। – गीता २/७१

गीता के स्थितप्रज्ञ की तुलना बौद्धधर्म के बोधिसत्व या अन्य दर्शनो के जीवनमुक्त से की जा सकती है। स्थितप्रज्ञ शरीर मे रहते हुये भी शरीर के धर्मो से अलग रहकर केवल लोक कल्याण के लिये ही कार्य करता है। इस प्रकार गीता मे ज्ञानयोग, कर्मयोग एव भक्तियोग की त्रिवेणी प्रवाहित होती है। इन तीनो मार्गो का गीता मे बहुत ही सुन्दर समन्वय किया गया है। यह साधक पर निर्भर करता है कि वह किस मार्ग का चुनाव करता है। अब हम अनीश्वरवादी दर्शनो के आत्मा एव मोक्ष सम्बन्धी विचारो का विवेचन करेगे।

द्वितीय अध्याय

चार्वाक दर्शन

भारतीय चिन्तन परम्परा मे अध्यात्मवाद के अतिरिक्त विशुद्ध भौतिकवादी दर्शन की प्राप्ति होती है, जो दर्शन जगत् मे, चार्वाक दर्शन की सज्ञा से अभिहित है। इस दर्शन मे अतीन्द्रिय पदार्थो की सत्ता का निषेध करते हुए अनुमानादि प्रमाणो की कटु आलोचना की गई है, एव केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने के कारण आत्मा–परमात्मा, स्वर्ग–नरक, पुनर्जन्म आदि को भी स्वीकार नही किया गया है। ये वेदो एव कर्मकाण्ड का भी निषेध करते है। वाचस्पति मिश्र ने इस दर्शन को 'लौकायतिक दर्शन' कहा है जिसका तात्पर्य है कि चार्वाक् दर्शन इस लोक के अतिरिक्त अन्य किसी लोक को नही मानता है। हरिभद्र सूरि[1] ने अपने षड्दर्शन समुच्चय एव वात्स्यायन ने अपने ग्रन्थ मे चार्वाक दर्शन के लिये लोकायत शब्द का प्रयोग किया गया है। लोकायत (लोक + आयत) का शाब्दिक अर्थ है 'ससार मे फैला हुआ' अर्थात् इस भौतिक लोक से सम्बद्ध। प्रकृत दर्शन के सन्दर्भ मे हम इस प्रकार कह सकते है कि यह दर्शन सामान्य जनता के विचारो का प्रतिनिधित्व करता है। इस दर्शन का मूलमत्र ही है 'जब तक जीवन है सुख से जीना चाहिये ऋण लेकर भी घी पीना चाहिये। क्योकि मरने पर भस्म के रूप मे परिणत शरीर फिर कैसे वापस आ सकता है।'[2]

इस दर्शन को चार्वाक क्यो कहा गया यह बहुत स्पष्ट नहीं है। कुछ लोगो का मत है कि इस दर्शन के प्रवर्तक ने अपने जिस शिष्य को इस मत को उपदेश दिया उसका नाम चार्वाक था, तभी से इस दर्शन का नाम चार्वाक चल पडा।[3] किन्तु कुछ

---

[1] लोका निर्विचारा सामान्यलोकास्तद्वदाचरन्तिस्मेति लोकायता लोकयतिका इत्यप्पि।
– हरिभद्र सूरि– षड्दर्शन समुच्चय पेज न०–४५१, टीकाकार महेन्द्र कुमार जैन

[2] यवज्जीवेत्सुख जीवेत्, ऋण कृत्वा घृत पिबेत्।
भस्मीभूतस्यदेहस्य पुनरागमन कुत ।। – सर्व दर्शन सग्रह –१८

[3] सर्वदर्शन सग्रह पृ० – ६६, एम० हिरियन्ना पृष्ठ–१८७ से उद्धृत

विद्वानो का कहना है कि चार्वाक शब्द दो शब्दो 'चारू' ओर 'वाक्' के सयोग से बना है चारू का अर्थ है– 'मीठा' तथा वाक का अर्थ है 'बोलने वाला', इस प्रकार मधुर वचन बोलने के फलस्वरूप इस विचारधारा को चार्वाक की सज्ञा दी गयी है।

वैयाकरण व्युत्पत्ति के आधार पर कुछ विद्वानो के एक दल का मानना है कि चार्वाक शब्द की उत्पत्ति चर्व धातु से हुई है। चर्व का अर्थ है–'चबाना' अथवा 'खाना'। इसलिये खाओ, पीओ और मौज उडाओ। इस सिद्धान्त को मानने के आधार पर यह दर्शन 'चार्वाक' कहलाया। पुन ईश्वर, पाप–पुण्य, लोक–परलोक आदि को चबाने अर्थात् न मानने के कारण भी यह दर्शन चार्वाक कहलाया।[1]

चार्वाक दर्शन का प्रणेता कौन था? यह विवादास्पद है कुछ विद्वानो का मत है कि इसके प्रणेता बृहस्पति थे तो कुछ अन्य विद्वान बृहस्पति के शिष्य चार्वाक को इस मत का प्रवर्तक मानते है, किन्तु बलदेव उपाध्याय जी ने चार्वाक को बृहस्पति के सिद्धान्तो का प्रचारक कहा है और शारीरकसूत्र भाष्य, भास्कर भाष्य तथा गीता की नीलकण्ठी एव मधुसूदनी टीकाओ से प्राप्त साक्ष्यो के आधार पर बृहस्पति की ऐतिहासिकता सिद्ध की है। चार्वाक दर्शन का कोई अपना स्वतत्र ग्रथ नहीं मिलता है केवल बृहस्पति द्वारा विरचित कुछ सूत्रो का विभिन्न ग्रन्थो मे यत्र–तत्र उल्लेख मिलता है। प्रबोध चन्द्रोदय, सर्वदर्शन सग्रह, षड्दर्शन समुच्चय मे इस दर्शन के सिद्धान्तो का उल्लेख मिलता है।

इसके अतिरिक्त अनेक दर्शनो मे पूर्व–पक्ष के रूप मे इस दर्शन के सिद्धान्त उद्धृत किये गये है। जैन एव बौद्ध दर्शन से भी एक कदम आगे बढाते हुये चार्वाक दर्शन मे आत्मा–परमात्मा, स्वर्ग–नरक वेद आदि का खण्डन किया गया है इसी कारण चार्वाक दर्शन को 'नास्तिक शिरोमणि' की उपाधि से विभूषित किया गया है। चार्वाक दर्शन नास्तिक, अनीश्वरवादी, वेद–विरोधी, भौतिकवादी, प्रत्यक्षवादी एव जडवादी दर्शन है।

---

[1] चर्वन्ति भक्ष्यन्ति तत्त्वतो न मन्यते पुण्यपापादिक परोक्षजातमिति चार्वाका। – हरिभद्र सूरि– षड्दर्शन समुच्चय पेज न०–४५१, टीकाकार महेन्द्र कुमार जैन।

अध्यात्मवाद के प्रतिकूल जडवाद की स्वाभाविक विशेषता है कि उसमे आत्मा, ईश्वर धर्म आदि गहन विषयो की व्याख्या जड पदार्थ को विश्व का मूलाधार मानकर की गयी है। इस सिद्धान्त के अनुसार भूत ही परम सत्ता है इसी से चैतन्य अथवा मन का आविर्भाव होता है। न्याय, वैशेषिक, साख्य, योग, वेदान्त आदि भारतीय दर्शन मे जहॉ आत्मा को नित्य, आध्यात्मिक, अनन्त, चैतन्यरूप एव अपरिणामी माना गया है वही इसके विपरीत चार्वाक दार्शनिको का मानना है कि जिस प्रकार शरीर नित्य नही है उसी प्रकार आत्मा भी नित्य नही है। केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानने के कारण, आत्मा का प्रत्यक्ष न होने की वजह से चार्वाक आत्मा की सत्ता को स्वीकार नही करता है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये भूत चतुष्टय ही तत्त्व है पृथ्वी सबकी आधार है, इन्द्रिय प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है।[1] चार्वाक दर्शन केवल चतुर्भूतो को मानता है आकाश का प्रत्यक्ष न होने के कारण इसे चार्वाक नही मानता है। चार्वाक दर्शन मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि 'चैतन्य गुण से विशिष्ट शरीर का नाम ही आत्मा है'।[2] आत्मा व देह के बीच अभेद सम्बन्ध है। इस प्रकार प्रत्यक्ष को प्रमाण मानने के कारण चार्वाक देह से भिन्न जीवात्मा नामक पृथक् तत्त्व का अस्तित्व स्वीकार नही करता। चार्वाक दार्शनिको का मानना है कि चैतन्य आत्मा का गुण न होकर शरीर का गुण है। तब यहॉ यह प्रश्न उठता है कि चतुर्भूतो से शरीर मे चैतन्य किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है। इस प्रश्न के उत्तर मे चार्वाक दार्शनिको का कहना है कि आत्मा भूतो के उस विलक्षण सयोग से पैदा होता है जिसे हम जीवित शरीर कहते है। जिस प्रकार किण्व आदि से मादक शक्ति उत्पन्न होती है उसी प्रकार शरीर के रूप मे बदल जाने पर इन्हीं चार तत्त्वो से चैतन्य उत्पन्न होता है एव इनके नष्ट हो जाने पर स्वय चैतन्य का भी विनाश हो जाता है।[3]

---

[1] पृथ्वी जल तथा तेजो वायुर्भूत चतुष्टयम्।
आधारो भूमिरेतेषा मान त्वक्षजमेवहि।। —हरिभद्र सूरि कारिका सख्या —८३

[2] अ— चैतन्य विशिष्टो देह एव आत्मा । — हरेन्द्र प्रताप सिन्हा पेज न०—७५
ब— चैतन्य विशिष्ट काय पुरुष। — हरिभद्र सूरि षड्दर्शन समुच्चय।

[3] तेभ्य एव देहाकार परिणतेभ्य किण्वादिभ्य मदशक्तिवत् चैतन्यमुपजायते। विनष्टेषु सत्सु स्वय विनश्यति।
— सर्वदर्शन सग्रह

कुछ इसी तरह का मत हरिभद्रसूरि ने भी प्रकट किया है।[1] इस प्रकार चार्वाक चेतना या आत्म–तत्त्व से इकार नहीं करता, बल्कि उसका मानना है कि आत्मा का कोई पारमार्थिक या स्वतत्र अस्तित्व नहीं है। चार्वाक का कहना है कि यह भूतो के शरीर रूपी योग का एक गुण है और शरीर के विघटन के साथ नष्ट हो जाता है। चार्वाको का कहना है कि जिस प्रकार पान की लाली पान, सुपारी, कत्था चूना आदि का सम्मिलित धर्म है, उसी प्रकार भौतिक तत्त्वो के सयोग की एक विशेष अवस्था मे आत्म–तत्त्व शरीर, इन्द्रिय व विषय आदि के समान उत्पन्न हो जाता है।[2] आत्मा पृथ्वी, अग्नि व वायु तत्त्वो का सघात धर्म है। इस प्रकार चेतना शरीर का ही गुण होने के कारण शरीर के विनाश के साथ ही स्वय भी नष्ट हो जाता है।

चार्वाक दार्शनिको का मानना है कि दैनिक अनुभव के आधार पर भी देह एव आत्मा का तादात्म्य सिद्ध होता है। 'मै मोटा हूँ', 'मै पतला हूँ', 'मै अन्धा हूँ', 'मै बहरा हूँ' आदि वाक्यो का प्रयोग हम दैनिक जीवन मे करते हैं। इन वाक्यो मे 'मै' शब्द का विषय जिसे प्राय सभी दार्शनिक आत्मा मानते है शरीर ही है इससे प्रमाणित होता है कि देह से भिन्न आत्मा नामक कोई पृथक् तत्त्व नहीं है।

पुन चार्वाक दार्शनिको का मानना है कि यदि आत्मा शरीर से भिन्न होती तो मृत्यु के पश्चात् वह शरीर से पृथक् रूप मे दिखलाई पडती, किन्तु किसी भी व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् आत्मा को शरीर से अलग होते हुये नहीं देखा जाता है। जीवित शरीर से भिन्न कोई आत्मा नहीं है जब तक शरीर जीवित रहता है, तब तक उसमे चैतन्य का अविर्भाव होता है, यह अन्वय है एव जब शरीर जीवित नहीं रहता है तब चैतन्य भी नहीं रहता, यह व्यतिरेक है। इस प्रकार अन्वय व व्यतिरेक दोनो से यह सिद्ध होता है कि जीवित शरीर से भिन्न कोई आत्मा नहीं है। इस प्रकार देह एव आत्मा के बीच अभेद मानने के कारण चार्वाक आत्मा सम्बन्धी सिद्धान्त देहात्मवाद कहलाता है।

---

[1] पृथ्व्यादिभूत सहत्या तथा देहपरीणते ।
मदशक्ति सुराडगेभ्यो यद्वन्तदृच्चिदात्मनि।। – हरिभद्र सूरि, षड्दर्शन समुच्चय कारिका सख्या ८४

[2] जडभूतविकारेषु चैतन्य यन्तु दृश्यते।
ताम्बूलपूगचूर्णाना योगाद्राग इवोत्थितम्।। – सर्वसिद्धान्त सग्रह –२/६ – सर्वदर्शन सग्रह से उद्धृत।

चार्वाक दर्शन मे देह एव आत्मा सम्बन्धी विचार क्रमश स्थूल से सूक्ष्म की ओर विकसित होते है।

प्रारम्भिक चार्वाक दर्शन मे देह एव आत्मा का तादात्म्य स्थापित किया गया था। चार्वाक दर्शन मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि शरीर ही मे चैतन्य है, शरीर ही मे क्रिया होती है। शरीर के मरने पर न तो उसमे चैतन्य रहता है और न क्रिया। नित्य–प्रति के अनुभव से भी यह सिद्ध है कि शरीर ही आत्मा है। इस सिद्धान्त को 'शरीरात्मवाद' या 'देहात्मवाद' के नाम से जाना जाता है।

विकास सोपान की अगली सीढी मे 'इन्द्रियात्मवाद' को चार्वाक दर्शन के कुछ दार्शनिको ने स्वीकार किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार इन्द्रियो को ही आत्मा माना गया है। इन्द्रियॉ ही क्रिया करती हैं। 'मै अधा हूँ', 'मै बहरा हूँ,' अनुभवो मे 'मै' शब्द आत्मा के लिये प्रयुक्त हुआ है। अत इन्द्रियो का आत्मा से तादात्म्य स्पष्ट है।

इन्द्रियात्मवादियो मे भी दो मत स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते है। १ एकेन्द्रियवाद २ मिलितेन्द्रियवाद । एकेन्द्रियवाद मे केवल एक ही इन्द्रिय को आत्मा माना जाता है। जबकि मिलितेन्द्रियवाद मे सभी इन्द्रियो के समूहो को आत्मा माना गया है।

विकासक्रम के तृतीय सोपान मे प्राणात्मवाद को सिद्धान्त के रूप मे स्वीकार किया गया है। प्राणात्मवाद के अनुसार शरीर मे प्राणो की प्रधानता है। 'प्राण' वायु के निकल जाने पर शरीर मर जाता है और इन्द्रिया भी मर जाती है और उसके जीवित रहने पर शरीर भी जीवित रहता है और इन्द्रिया भी कार्य करती है। 'मै भूखा हूँ' 'मै प्यासा हूँ' मे भूख-प्यास प्राण का धर्म हैं श्रुति मे भी प्राणो को आत्मा कहा गया है।[1] अत चार्वाको के अनुसार प्राण ही आत्मा है।

चार्वाक का अगला आत्मा सम्बन्धी विचार 'आत्ममनोवाद' या 'मनआत्मवाद' के नाम से जाना जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार शरीर के समस्त कार्य 'मन' के अधीन है जब

---

[1] अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमय – तैत्तिरीय उपनिषद् २–२–१

मन निद्रा की अवस्था मे पुरीतत् नाडी मे विलीन हो जाता है तो शरीर कार्य करने मे सर्वथा असमर्थ हो जाता है। 'मन' स्वतन्त्र है यही ज्ञान को देता है। श्रुति मे भी कहा गया है 'मन ही आत्मा है'।[1] अत चार्वाक दार्शनिको ने 'मन' को आत्मा स्वीकार किया है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि शरीर, इन्द्रिय, प्राण एव मन सभी एक न एक दृष्टिकोण से आत्मा माने गये है। विकास के प्रत्येक सोपान पर ज्ञान का स्थूल से सूक्ष्म की ओर क्रमिक विकास होता है। इस प्रकार शरीर को ही आत्मा स्वीकार करने के कारण चार्वाक दार्शनिक नित्य, अजर, अमर व शाश्वत आत्मा का विरोध करते है तथा शरीर की भॉति आत्मा को भी भौतिक मानते है जो चार तत्त्वो का सम्मिश्रण है। चार्वाक दार्शनिको ने आत्मा की ही भॉति ईश्वर का भी खण्डन किया है उनके अनुसार ससार भौतिक तत्त्वो से उत्पन्न होता है इसका कोई कर्ता अथवा रचयिता नही है। चार्वाक ईश्वर की सत्ता को इसलिये अस्वीकार करते है क्योकि वह अनुमानगम्य है और चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते है।

अन्य दार्शनिक सम्प्रदायो के विपरीत चार्वाक दर्शन मे मोक्ष की कल्पना विशिष्ट प्रकार की है। चार्वाक दर्शन मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि 'मृत्यु ही मोक्ष है'।[2] चूँकि आत्मा अमर नही है, इसलिये जीव जब तक शरीर मे है तब तक विभिन्न प्रकार के दु खो को झेलता हुआ जीवन यापन करता रहता है और इस देह की समाप्ति के साथ ही मनुष्य सभी प्रकार के दु खो से मुक्त हो जाता है, अत मृत्यु ही मोक्ष है। वर्तमान जीवन के अतिरिक्त कोई दूसरा जीवन नही है। पूर्व जीवन एव भविष्यद् जीवन मे विश्वास करना निराधार है। चार्वाक का कहना है कि जीव, मोक्ष, धर्म–अधर्म, पुण्य और पाप का फल आदि कुछ नही है।[3] अन्य जड पदार्थो के समान ही चार्वाक दर्शन मे

---

[1] अन्योऽन्तर आत्मा मनोमय – तैत्तिरीय उपनिषद् २–३–१

[2] मृत्युरेव अपवर्ग ।

[3] लोकायता वदन्त्येव नास्ति जीवो व निर्वृति ।
धर्माधर्मौ न विद्येते न फल पुण्यपापयो ।। –हरिभद्र सूरि, षड्दर्शन समुच्चय कारिका सख्या–८०

आत्मा की अनित्यता का प्रतिपादन करते हुये कहा गया है कि जिस प्रकार जल के बुलबुले दिखलाई पडते ही शीघ्र आप से आप नष्ट हो जाते है।[1] उसी प्रकार जीवात्मा का भी उद्भव एव विनाश होता है। इसलिये वर्तमान जीवन के लिये पूर्व जीवन की कोई आवश्यकता नही है।

चार्वाक दार्शनिको के अनुसार जब आत्मा नाम की कोई स्थायी व अनश्वर चीज नहीं है और देह ही आत्मा है तो मोक्ष की प्राप्ति किसे होगी? आत्मा के अभाव मे मोक्ष का विचार स्वय खण्डित हो जाता है। मृत्यु ही एकमात्र अपवर्ग है। मृत्यु के बाद जीव का पुनर्भव नहीं होता है। चार्वाक मोक्ष की इच्छा को निरर्थक समझते है। प्राय सभी आस्तिक दर्शनो मे माना गया है कि मोक्ष का अर्थ ससार के बधन से मुक्त हो जाना है, किन्तु चार्वाक मोक्ष की इस कल्पना को भ्रमजनित एव तर्क विरुद्ध मानते है। उसके अनुसार न तो स्वर्ग है, न ही मोक्ष है, न ही परलोक मे रहने वाली आत्मा है। वर्ण, आश्रम आदि क्रियाये भी फल देने वाली नही है।[2] इसके अतिरिक्त यदि मोक्ष का अर्थ जीवनकाल मे ही दुख का अन्त होना है तो इसकी प्राप्ति असभव है क्योकि सुख व दुख परस्पर सम्बद्ध है एव कुछ दुखो का विनाश केवल मृत्यु मे ही सभव है। अत मृत्यु ही मोक्ष है। चार्वाक चूँकि मोक्ष को नहीं मानते इसलिये वे पुनर्जन्म एव स्वर्ग–नरक आदि का भी खण्डन करते है। चार्वाको के अनुसार अगले जन्म मे जीवात्मा अपने कर्मो का पुरस्कार पायेगी, ऐसा सोचने वाले मूर्ख है। इस लोक के अतिरिक्त अन्य कोई लोक नहीं है। ये सब पाखण्डियो की बुद्धि की उपज है। ऐहिक सुख को त्यागकर परलोक के सुख के लिये यत्न करना, हस्तगत अवलेह का त्याग कर कोहनी को चाटने के समान है।[3]

---

[1] जलबुद्बुद्वज्जीवा। – हरिभद्र सूरि– षड्दर्शन समुच्चय

[2] न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिक।
नैव वर्णाश्रमादीना क्रियाश्च फलदायिका।। – सर्वदर्शन सग्रह कारिका –१२

[3] त्यक्त्वा दैहिकान् भोगान् परलोकाय यत्यते।
त्यक्तवा हस्तगत लेह्य कूर्परा लेहन हि तत्।। त्रिषष्टि
– बी०एन० सिह पेज १४१ से उदधृत।

चार्वाको के अनुसार हवन करना, सन्यास ग्रहण करना, मस्तक पर भस्म लपेटना आदि पुरुषार्थहीन व्यक्तियो के जीवन–यापन के साधन है।[1] प्रबोधचन्द्रोदय मे भी इसी प्रकार के मत का उल्लेख मिलता है।[2] चार्वाको ने वेदो की अत्यन्त कटु शब्दो मे निन्दा की है। उनके अनुसार तीनो वेदो के रचयिता भॉड, ठग और निशाचर थे। इन धूर्तो ने जर्भरी, तुर्फरी आदि वचनो से लोक को वचित किया है।[3] चार्वाक दर्शन मे स्वर्ग–नरक आदि को कपोल कल्पना माना गया है इसके अनुसार– स्वर्ग नरक आदि कही नही है। षोडसी स्त्री का समागम, सुन्दरवस्त्र, सुगन्धित माला धारण करना, सुगन्धित वस्तुओ का लेपन आदि स्वार्गिक सुख है व शत्रु के शस्त्राघात जनित पीडा का अनुभव ही नरक है। कर्त्ता, क्रिया, साधन, द्रव्य आदि के नाश हो जाने पर यज्ञ करने वालो को यदि स्वर्ग मिलता है तो वन की अग्नि मे जले हुये वृक्षो मे भी बहुत से फल लटके होगे।[4] पुन यदि यज्ञ मे निहत पशुओ को स्वर्ग मिलता है तो यजमान अपने पिता को यज्ञ मे क्यो नही मार डालता है।[5]

अत चार्वाक दर्शन के अनुसार स्वर्ग, नरक, पारलौकिक आत्मा आदि मिथ्या कल्पानाए है। उनके अनुसार स्वर्ग कुछ नहीं है। इस लोक मे मिलने वाला सुख भविष्य मे मिलने वाले सुख की अपेक्षा अधिक अच्छा है। चार्वाक के अनुसार विशुद्ध सुख होता ही नही है। दु ख से मिले हुये रहने पर भी सुख का त्याग नही करना चाहिये। दु ख

---

[1] अग्निहोत्र त्रयोवेदास्त्रिदण्ड भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनाना जीविका धातुनिर्मिता।। — सर्वदर्शन सग्रह श्लोक सख्या– १३

[2] अग्निहोत्र त्रयोवेदास्त्रिदण्ड भस्मगुण्ठनम्।
प्रज्ञापौरुष हीनाना जीविकेति बृहस्पति ।। — प्र०च० श्लोक सख्या– २६ पृ०सख्या– ७१

[3] त्रयो वेदस्य कर्त्तारौ भॉण्डधूर्तनिशाचरा ।
जर्भरीतुर्फरीत्यादि पण्डिताना वच स्मृतम्। — सर्वदर्शन सग्रह श्लोक सख्या– २१

[4] स्वर्ग कर्तृक्रिया द्रव्य विनाशेयदि यज्वनाम्।
ततो दावग्नि दग्धाना फल स्याद्भूरिभूरुहाम्।। –प्रबोधचन्द्रोदय द्वितीय अक श्लोक –१६

[5] निहतस्य यशोर्यज्ञे स्वर्गप्राप्तिदीप्यते्।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हन्यते।।
— प्रबोधचन्द्रोदय द्वितीय अक श्लोक सख्या अक –२०

मिश्रित सुख का त्याग करना तो मूर्खता है। क्या हित चाहने वाला व्यक्ति भूसा मिला होने की वजह से चावल से युक्त धान को छोड देता है।[1]

इस प्रकार स्वर्ग एव नरक इसी ससार मे हैं, जो सुखपूर्वक जी रहा है, वह स्वर्ग मे तथा जो दु ख पूर्वक जी रहा है वह नारकीय जीवन जीता है, अर्थात् स्वर्ग एव नरक कल्पना मात्र है।

चार्वाक के अनुसार पुनर्जन्म को मानने की आवश्यकता नही है। यदि आत्मा का पुनर्जन्म होता है तो जिस प्रकार हम अपनी बाल्यावस्था एव यौवनावस्था के अनुभवो को वृद्धावस्था मे याद रखते है, उसी प्रकार आत्मा को अपने पूर्व के जन्मो के अनुभवो का स्मरण अवश्य होता, किन्तु व्यावहारिक जीवन मे हम देखते है कि आत्मा को पूर्व जन्म के अनुभवो का स्मरण नहीं रहता है। इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा के पुनर्जन्म की बात मिथ्या है। चार्वाक दर्शन मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि शरीर के समाप्त (भस्म) होने के पश्चात् आत्मा कहाँ से आयेगी।[2] जब तक मनुष्य का जीवन है तब तक उसे सासारिक दु खो का सामना करना ही पडेगा। दु खो का पूर्ण विनाश तो मृत्यु के उपरान्त ही सभव है, किन्तु कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति मृत्यु की कामना नही कर सकता है। अत मोक्ष को पुरुषार्थ नही माना जा सकता है। चार्वाक दार्शनिको का मानना है कि मनुष्य के जीवन का मुख्य उद्देश्य अपनी इच्छाओ की तृप्ति है। पारलौकिक सुख की प्राप्ति के लिये वर्तमान सुख का त्याग करना पागलपन ही है। मनुष्य का जब तक जीवन है, सुखपूर्वक जीना चाहिये। स्वर्ग, नरक, आत्मा एव परमात्मा मिथ्या कल्पनाये है। चार्वाक के अनुसार देह का नाश मुक्ति है, ज्ञान से मुक्ति नही होती।[3]

---

[1] त्याज्य सुख विषयसगमजन्म पुसा, दु खोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा।
व्रीहीञ्जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान्, को नाम भोस्तुषकणोपहितान्हितार्थी।।
— प्रबोधचन्द्रोदय द्वितीय अक श्लोक सख्या अक –२३

[2] भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुत। — सर्वदर्शन सग्रह

[3] देहस्यनाशो मुक्तिस्तु न ज्ञानान्मुक्तिकरिष्यते।। — सर्वदर्शन सग्रह, श्लोक सख्या–५

इस प्रकार चार्वाक दर्शन मे व्यक्तिगत इन्द्रिय सुख को जीवन का लक्ष्य मानकर सुखवाद की स्थापना की गई है। प्राचीन विचारधारा, धर्म परम्परा एव वेद की प्रमाणिकता का विरोधकर, स्वतत्र विचारो के आधार पर सशयवाद की स्थापना कर चार्वाक ने भारतीय दर्शन मे तर्क के आधार पर स्वतत्र विचार करने की प्रवृत्ति जागृत की। पश्चिमी दर्शन मे तर्कनिष्ठ भाववादियो ने भी इससे मिलते-जुलते सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है। ४६० ई० पू० ग्रीस मे डिमोक्रिटस, ३४६ ई०पू० एपिक्यूरस तथा ६५ ई०पू० ल्यूक्रेशियस दार्शनिक इसी भौतिकवाद के समर्थक थे। इन दर्शनो के अनुसार अन्य अवयवो के समान आत्मा भी शरीर का एक अवयव ही है। यह अणुओ का सघात है। ससार की रचना का कोई उद्देश्य नहीं है और न ही ईश्वर की सत्ता है, किन्तु धर्म-कर्म पर विश्वास न करते हुये भी एपिक्यूरस ने ऐन्द्रिक भोग-विलासो के आनन्द को आनन्द नहीं बताया न ही उसमे आस्था प्रकट की है। एपीक्यूरस ने जीवन का उद्देश्य आनन्द की प्राप्ति ही माना है, परन्तु यह आनन्द मानसिक आनन्द है, किन्तु अत्यन्त स्थूल जीवन-दर्शन का प्रतिपादन करके चार्वाक ने आत्मघाती काम कर डाला। व्यक्तिगत इन्द्रिय सुख को जीवन का लक्ष्य मानकर नैतिक मूल्यो को निषेध करना मानव को पशु धरातल पर उतार देना है। सुखभोग मे परिमाणात्मक अन्तर के अतिरिक्त गुणात्मक अन्तर भी है। एक पशु के सुख मे, एक श्रोता के सुख मे, एक गायक के सुख मे, एक दार्शनिक के सुख मे गुणात्मक अन्तर है। वात्स्यायन ने अपने ग्रथ कामसूत्र मे भावात्मक सुख के साथ-साथ भावात्मक तथा बौद्धिक सुख के उपभोग एव नैतिक मूल्यो पर बल दिया है। इस प्रकार काम और अर्थ यदि धर्म या नैतिक मूल्यो से अनुप्राणित न हों तो सारी सामाजिक व्यवस्था चरमरा जायेगी।

इस प्रकार चार्वाक दर्शन मे आत्मा को भौतिक तत्त्वो का सघात मानते हुये आस्तिक दर्शनो की मोक्ष विषयक मान्यता कि जीव का ससार के बन्धन से मुक्त हो जाना ही मोक्ष है, का खण्डन करते हुये कहा गया है कि देह ही आत्मा है और मृत्यु ही मोक्ष है। मोक्ष के बाद दुख के साथ-साथ सुख का भी पूर्णरूपेण विनाश हो जाता है। अत मृत्यु ही अपवर्ग है किन्तु मोक्ष पुरुषार्थ नहीं है।

चार्वाक दार्शनिको ने प्रत्यक्ष मात्र को प्रमाण मानकर आत्मा, विश्व एव ईश्वर को व्याख्यायित करने का प्रयत्न किया है किन्तु इनके सिद्धान्त के सदर्भ मे यह उल्लेखनीय है कि चार्वाको ने चेतना को शरीर का गुण माना है, किन्तु चेतना को शरीर का गुण तभी माना जा सकता है जब चेतना निरन्तर शरीर मे विद्यमान हो, परन्तु बेहोशी स्वप्नहीन निद्रा की अवस्था मे शरीर विद्यमान रहता है फिर भी उसमे चेतना का अभाव रहता है। अत चेतना को शरीर का गुण मानना भूल है। पुन यदि चेतना शरीर का गुण है तो इसे भी अन्य भौतिक गुणो की ही भॉति प्रत्यक्ष का विषय होना चाहिये परन्तु चेतना को किसी भी व्यक्ति ने न तो आज तक देखा है न ही सुना है और न ही स्पर्श किया है। अत चेतना को शरीर का गुण नही माना जा सकता है।

पुन चार्वाक मात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण के रूप मे स्वीकार करते है, किन्तु यदि प्रत्यक्ष ही ज्ञान का एकमात्र साधन है तो हम देखते है कि प्रत्यक्ष के द्वारा यदि आत्मा के अस्तित्व का प्रमाणित नही किया जा सकता है तो वह आत्मा के अभाव का भी प्रमाणन नही कर पाता है। प्रत्यक्ष मे इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह अमूर्त पदार्थो को भी जान सके।

पृथ्वी आदि भूतो से चैतन्य उत्पन्न होता है, चार्वाक के इस सिद्धान्त को सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है। चूँकि चैतन्य स्वभावत अमूर्त है एव प्रत्यक्ष मे इतनी सामर्थ्य नही है कि वह अमूर्त पदार्थो को जान सके। अत चैतन्य उत्पन्न हो या अनुत्पन्न, किसी भी हालत मे उसमे प्रत्यक्ष का व्यापार नही हो सकता।

यदि चेतना शरीर का गुण है तो इसे भी अन्य भौतिक गुणो की ही भॉति वस्तुनिष्ठ होना चाहिये अर्थात् प्रत्येक मनुष्य को चेतना के स्वरूप का ज्ञान एक ही तरह से होना चाहिये। जबकि हम देखते हैं कि चेतना का ज्ञान वस्तुनिष्ठ है जैसे– व्यक्ति के दॉत दर्द की चेतना साधारण व्यक्ति एव चिकित्सक दोनो को रहती है किन्तु हम देखते है कि जो चेतना मरीज मे है वही चिकित्सक को नहीं हो सकती है। इस प्रकार एक

व्यक्ति की चेतना दूसरे व्यक्ति के द्वारा नही जानी जा सकती है। इस तरह यहाँ यह भी हो सकता है कि शरीर चेतना की अभिव्यक्ति के लिये उपकरण मात्र हो। इसी प्रकार मेरे विचार, मेरी अनुभूतियाँ, मेरे स्वप्न जिस प्रकार मेरे लिये अपरोक्षत अनुभूत तथ्य है उसी तरह किसी दूसरे व्यक्ति के लिये नही है।

पुन यदि चेतना को शरीर का गुण माना जाये तो हमे शरीर की चेतना का ज्ञान नही होना चाहिये क्योकि शरीर जो स्वय चेतना का आधार है कैसे चेतना के द्वारा प्रकाशित हो सकता है।

चूँकि आत्मा का सभी भारतीय दर्शनो मे अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है इसलिये चार्वाक दार्शनिको ने जो उसका निषेध किया इसी से चार्वाक दर्शक की अत्यन्त कटु आलोचना हुई, किन्तु फिर भी हम देखते है कि सिद्धान्तत चार्वाक मत का खण्डन करना लगभग असभव है। सामान्य रूप से आत्मा एव ईश्वर आदि के अस्तित्व को तर्क के द्वारा नही सिद्ध किया जा सकता है। कठोपनिषद् मे भी कहा गया है – 'नैषा तर्केण मतिरापनेया'।

चार्वाक दर्शन के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि यदि चेतना शरीर का धर्म है तो या तो वह आवश्यक है या आगन्तुक। यदि वह आगन्तुक है तो कोई ऐसी सत्ता माननी पड़ेगी जो चेतना को उत्पन्न करता है और इसी कारण चेतना को पूर्णरूपेण शरीर पर निर्भर नही माना जा सकता है और यदि यह आवश्यक है तो उसे शरीर से अवियोज्य होना चाहिये अर्थात् उसे हमेशा जब तक शरीर रहे तब तक चेतना को शरीर के साथ रहना चाहिये। लेकिन हम देखते हैं कि ऐसा नही होता है, क्योकि मूर्च्छा या स्वप्नरहित निद्रा मे शरीर चेतना से शून्य दिखाई देता है।

चार्वाक काँ यह कहना सही है कि चेतना सदैव भौतिक शरीर से सम्बद्ध देखी जाती है, परन्तु यह मानना उचित नही है कि शरीर से समाप्त हो जाने पर चेतना का भी लोप हो जाता है। यहाँ पर चेतना का किसी अन्य रूप मे आस्तित्व बना रह सकता है। यद्यपि यह बात अभी तक सिद्ध नही हो सकी है तथापि उसके बने रहने की

सभावना तो रहती है। यह इस मत का निराकरण करन के लिये पर्याप्त है कि चेतना शरीर का धर्म है।

इस प्रकार चार पुरुषार्थो मे से चार्वाक केवल 'धर्म' और 'मोक्ष' को नही मानता है वह 'काम' इन्द्रिय सुख या विषय सुख एव 'अर्थ' को ही महत्त्व देता है किन्तु चार्वाक दर्शन की यह मत उचित नही है और इसी कारण उसे अन्य भारतीय दार्शनिको की आलोचना का शिकार होना पडा। अब अगले अध्यायो मे हम नास्तिक दर्शनो (जैन एव बौद्ध) के आत्मा सम्बन्धी विचारो पर प्रकाश डालेगें जहॉ आत्मा के अस्तित्त्व को पूर्णत अस्वीकार नँ करके किसी न किसी रूप मे स्वीकार किया गया है।

जैन दर्शन

भारतीय दार्शनिक विचारधारा मे जैन दर्शन को नास्तिक दर्शन की सज्ञा से अभिहित किया गया है। इस धर्म के प्रमुख सस्थापक महावीर स्वामी थे। जैन परम्परा के अनुसार यह एक शाश्वत धर्म है तथा समय–समय पर अनेक तीर्थकरो ने इस धर्म का उपदेश दिया। इनमे सबसे प्रथम ऋषभदेव तथा अतिम तीर्थकर महावीर स्वामी माने गये। महावीर स्वामी बुद्ध के समकालीन थे तथा दोनो धर्मो का विकास छठी शताब्दी ई०पू० मे हुआ। जैन दर्शन वेदो को प्रमाण न मानने तथा अनीश्वरवादी होने के कारण 'नास्तिक दर्शन' कहलाया। जैन दर्शन को निराशावादी दर्शन भी माना गया है।

अतिम तीर्थकर महावीर स्वामी का जन्म ई०पू० लगभग छठी शताब्दी मे सिद्धार्थ एव महारानी त्रिशला की द्वितीय सतान के रूप मे हुआ था। इनका विवाह यशोदा नामक कन्या से हुआ जिससे इन्हे एक पुत्री की प्राप्ति हुई। ३० वर्ष की आयु मे अपने बडे भाई नन्दिवर्धन से आज्ञा लेकर वे भिक्षु बन गये एव १२ वर्षो की कठोर तपस्या के बाद उन्हे ज्ञान की प्राप्ति हुई और वे 'जिन' अथवा 'तीर्थकर' कहलाए तथा इसके अनन्तर उन्होने जैन धर्म का प्रचार एव प्रसार किया तथा लगभग ७३ वर्ष की आयु मे उन्हे मोक्ष की प्राप्ति हुई।

जैन सम्प्रदाय का प्राचीन साहित्य अधिकाशत प्राकृत भाषा मे है। कालान्तर मे विपक्षियो की आलोचनाओ का निराकरण करने के लिये जैन आचार्यो ने भी सस्कृत भाषा को अपना लिया। जैन धर्म मे दो प्रकार के पवित्र ग्रथ थे– चतुर्दश पूर्व और एकादश अग। पूर्वग्रन्थ धीरे–धीरे लुप्त हो गये। उनके बाद क्रमश उपाग, प्रकीर्ण, सूत्र इत्यादि नाना श्रेणी के ग्रथ लिखे गए है। सस्कृत मे उमास्वामी (उमास्वाती) का तत्वार्थ–सूत्र या तत्त्वार्थाधिगमसूत्र सबसे प्रसिद्ध व आगम जैन ग्रथ है। उमास्वाती ने स्वय ही तत्त्वार्थसूत्र पर भाष्य भी लिखा। जैन आचार्य कुन्दकुन्दाचार्य ने नियमसार, पचास्तिकाय, समयसार व प्रवचनसार जैन ग्रथ लिखे। इसके अतिरिक्त देवनन्दि का

सर्वार्थसिद्धि भाष्य, सिद्धसेन दिवाकर का तत्त्वार्थटीका, भट्टअकलक का राजवार्तिक तथा हरिभद्रसूरि का षड्दर्शन समुच्चय आदि प्रसिद्ध ग्रथ हैं जिनसे हमे जैन दर्शन के विषय मे जानकारी प्राप्त होती है।

लगभग २१० ई० पू० के आस–पास जैन आचार्यो भद्रबाहु और स्थूलभद्र मे परस्पर मतभेद होने के कारण जैन सम्प्रदाय दो वर्गो मे विभक्त हो गया। स्थूलभद्र के अनुयायी श्वेताम्बर एव भद्रबाहु के अनुयायी दिगम्बर कहलाये। दोनो सम्प्रदायो के यद्यपि मूल सिद्धान्त लगभग एक है, किन्तु कुछ बातो मे उनमे मतभेद है। दिगम्बर साधुओ की मान्यता है कि केवल ज्ञान से युक्त पुरुष भोजन नही करता और स्त्री को मोक्ष नही मिलता उन्हे पुरुष का जन्म ग्रहण करने पर ही मोक्ष मिल सकता है,[1] दिगम्बर वस्त्रो को नही धारण करते|इसके विपरीत श्वेताम्बरो का मत है कि केवली भोजन करता हे, स्त्री भी मोक्ष की आधिकारिणी है एव श्वेताम्बर वस्त्रो को धारण करते हैं।

जैन दर्शनो मे द्रव्य का नाम धर्मी प्रसिद्ध है। धर्मी उसे कहते है जिनमे धर्म रहता है। जैनो के अनुसार वस्तुओ के अनन्त धर्म होते है। जिस वस्तु मे धर्म होता है उसे धर्मी कहते है तथा धर्मी के जो गुण अथवा लक्षण होते है वे धर्म कहलाते है। जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य के दो प्रकार के धर्म होते है–

१ स्वरूप अथवा नित्य धर्म।

२ आगन्तुक अथवा परिवर्तनशील धर्म।

स्वरूप धर्म वस्तु के आवश्यक अनिवार्य और अपृथक् धर्म होते हैं, जिन्हे वस्तु से अलग नही किया जा सकता है, न ही इनमे किसी प्रकार का परिवर्तन होता है जैसे– चैतन्य आत्मा का स्वरूप धर्म है।

---

[1] भुड्क्ते न केवली न स्त्री मोक्षमेति दिगम्बर ।
प्राहुरेषामय भेदो महान्श्वेताम्बरै सह।।

आगन्तुक धर्म वे धर्म है, जो वस्तु मे उत्पन्न एव विनष्ट होते रहते है। ये परिवर्तनशील, आकस्मिक और अनित्य है—जैसे इच्छा, सकल्प, सुख—दु ख इत्यादि। जैन दार्शनिक स्वरूप धर्मो को गुण तथा आगन्तुक धर्मो को पर्याय कहते है। इसी विशेषता के कारण जैन दर्शन मे द्रव्य की परिभाषा देते हुये कहा गया है—द्रव्य वह है जिसमे ये दोनो प्रकार के धर्म, गुण और पर्याय विद्यमान हो।[1]

द्रव्यो को दो वर्गो अस्तिकाय व अनस्तिकाय मे विभाजित किया गया है। अस्तिकाय का अर्थ है बहुप्रदेशव्यापी तथा अनस्तिकाय का अर्थ है एकप्रदेशव्यापी। जैन-निरूपित द्रव्यो मे केवल काल को ही अनस्तिकाय अथवा एकप्रदेशव्यापी माना गया है, शेष सभी अस्तिकाय या बहुप्रदेशव्यापी है। अस्तिकाय द्रव्यो के दो भेद है—

१ जीव २ अजीव

जीव वह है जो ज्ञान एव दर्शनमय तथा चैतन्य है तथा अजीव वह है जो ज्ञानदर्शन रहित एव चेतनाहीन है। जीव को जानने से पूर्व हम अजीव तत्त्व का परिचय देगे ताकि जीव सम्बन्धी विचारो को सरलता पूर्वक समझा जा सके। अजीव तत्त्व के पॉच भेद है—

पुद्‌गल-

बौद्ध साहित्य मे पुद्‌गल शब्द का प्रयोग जहॉ आत्मा के अर्थ मे किया गया है वहीं जैन दर्शन मे इसका प्रयोग जड तत्त्व के लिये किया गया है। जो द्रव्य पूरण एव गलन द्वारा विविध प्रकार से परिवर्तित होता है वह पुद्‌गल है।[2] इस प्रकार जैनो के मतानुसार जिसका सयोजन एव विभाजन हो सके वह पुद्‌गल है, पुद्‌गल रूपवान है। इसमे रस, गन्ध व स्पर्श भी होता है। इनका स्वभाव अमूर्त न होकर मूर्त होता है। शब्द, बन्ध, स्थूल, सस्थान, आकार, भेद, तम, छाया, प्रकाश एव आतपरूप मे पुद्‌गल द्रव्य का परिणाम होता है।[3]

---

[1] गुणपर्यायवद् द्रव्यम् – तत्वार्थाधिगमसूत्र

[2] पूरणगलनान्वर्थसज्ञत्वात् पुद्‌गला ।। —राजवार्तिक ५/१/२४
भारतीय दर्शन डा० नन्द किशोर देवराज पृष्ठ सख्या —१११ से उद्‌धृत।

[3] द्रव्यसग्रह —१६

धर्म/अधर्म -

जैन दर्शन मे धर्म एव अधर्म का विशिष्ट अर्थ है। गतिवान जीव और पुद्गल के गमन मे सहकारी कारण धर्म है। धर्म वह तत्त्व है, जो सभी जड और चेतन पदार्थो को अपनी गति बनाये रखने मे सहायता करता है। जिस प्रकार मत्स्य गमन मे जल की धारा सहकारी है उसी प्रकार धर्म ससार के सभी पदार्थो की गति का कारण है। अधर्म धर्म का विरोधी तत्त्व है। स्थिर जीव और पुद्गल की स्थिति का सहकारी कारण अधर्म है। यह स्थिरता का सहायक होता है। धर्म विश्व के सचार का तो अधर्म उसकी विश्रान्ति मे सहायक तत्त्व है। सासारिक जड चेतन के विश्राम मे सहायक तत्त्व को ही जैन दर्शन मे अधर्म कहा गया है।

आकाश-

आकाश, नित्य, व्यापक और अमूर्त है। यह दो प्रकार का है–लोकाकाश और अलोकाकाश। आकाश सबमे व्याप्त और सब आकाश मे व्याप्त है। ये चारों तत्त्व अस्तिकाय है।

काल-

काल अनास्तिकाय तत्त्व है। व्यवहार नय से द्रव्यो के परिवर्तन मे जो सहायक होता है तथा जिसका ज्ञान द्रव्य परिणामो के द्वारा होता है वह काल है, किन्तु निश्चय नय से दिन/प्रहर आदि रुप से ज्ञात होने वाले काल का जो उपादान रूप है, वह काल है।

जैन मत मे जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य तथा पाप ये नौ तत्त्व माने गये है।[1] जैन दर्शन सापेक्षवादी या वास्तववादी है। जैन दर्शन का जीव प्रत्यय अन्य दर्शनो के आत्मा या पुरुष के प्रत्यय से मिलता–जुलता है। अर्थात् अन्य भारतीय दर्शनो मे जिस तत्त्व के लिये आत्मा या पुरुष शब्द का प्रयोग किया गया है उसी तत्त्व को जैन दर्शन मे 'जीव' की उपाधि से विभूषित किया गया है। जैन दर्शन मे जीव को

---

[1] जीवाजीवौ तथा पुण्य पापमास्रव सवरौ।
बन्धो विनिर्जरामोक्षौ नव तत्त्वानि तन्मते।। – षड्दर्शन समुच्चय, हरिभद्रसूरि कारिका सख्या –४७

चैतन्य स्वरूप माना गया है। जीव अपने ज्ञान, दर्शन आदि गुणो से भिन्न भी है, और अभिन्न भी। कर्मो के अनुसार वह मनुष्य, पशु आदि की पार्यये धारण करता है। अपने अच्छे व बुरे कर्मो के कारण वह सुख व दुख को भोगता है इसलिये वह कर्त्ता व भोक्ता है।[1]

शुद्धनय के अनुसार जीव मे विशुद्ध ज्ञान तथा दर्शन अर्थात् निर्विकल्पक तथा सविकल्पक ज्ञान रहता है, किन्तु व्यवहार दशा मे कर्म की गति के प्रभाव से जीव औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक तथा पारिणामिक इन पॉच भावप्राणो से सम्बद्ध हो जाता है। इस वजह से जीव का परिशुद्ध रूप छिप जाता है और फिर वही 'भावदशापन्न प्राण द्रव्य' रूप मे परिणत होकर पुद्गल रूप मे व्यक्त हो जाता है और फिर वह जीव ससारी कहलाता है। जीव प्रभु है, वह कर्त्ता व भोक्ता है तथा अपने शरीर के बराबर व कर्म सम्बद्ध है।[2]

जैन दर्शन के अनुसार चैतन्य जीव का आगन्तुक धर्म या बाह्य गुण न होकर अनिवार्य लक्षण है।[3] न्याय वैशेषिक मे जहॉ चैतन्य आत्मा का आगन्तुक लक्षण माना गया है, वहीं जैन दर्शन मे इसे आत्मा का स्वभाव कहा गया है जिसके बिना उसका अस्तित्व सभव नहीं है। जीव अनन्त चतुष्टय अर्थात् अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यशाली है। वह स्वय प्रकाशमान है तथा अन्य वस्तुओ को प्रकाशित करता है। जीव अमूर्त होने के बावजूद मूर्ति ग्रहण कर लेता है। इसलिये वह अस्तिकाय है। जीव शरीर का भाग नहीं है। जीव की व्याप्ति आलोक के समान है जिस प्रकार एक पेड मे अनेक पेड नही समा सकते, किन्तु एक कमरे मे दो दीपको का प्रकाश जगह पा सकता है उसी प्रकार शरीर मे भी जीवास्तिकाय का प्रवेश हो सकता है। अत जीव की सत्ता शरीर मे आलोक के समान व्यापक होती है।

---

[1] तत्र ज्ञानादि धर्मेभ्यो भिन्नाभिन्नो विवृत्तिमान्।
शुभाशुभ कर्मकर्त्ता भोक्ता कर्म फलस्य च।। — कारिका सख्या –४८

[2] जीवो ति हवदि चेदा उवओग विसेदियो पहू कत्ता।
भोत्ता य देहमत्तो णहि मुत्तो कम्मसजुतो।।
— पञ्चस्तिकाय — उद्धृत भारतीय दर्शन बी०एन०सिह पृष्ठ सख्या –१५४

[3] चैतन्य लक्षणो जीवा। — हरिभद्रसूरि षड्दर्शन समुच्चय पर — महेन्द्र कुमार जैन की टीका कारिका स० — ४७/८८

भारतीय दर्शनो न्याय, वेदान्त, साख्य आदि मे आत्मा को विभु परिमाण वाला तथा वैष्णव आदि दर्शन मे अणु परिमाणवाला माना गया है वही इसके विपरीत जैन दर्शन मे एक विचित्र बात यह है कि इसमे जीव के आकार को सासारिक दशा मे घटने बढने वाला माना गया है। व्यवहार नय के अनुसार जीव जिस शरीर मे होता है उसी के परिमाण का होता है। भिन्न–भिन्न कर्मो के अनुसार भिन्न–भिन्न शरीरो से उसका सम्बन्ध होता रहता है और वह उनके अनुसार सकोच एव प्रसार को प्राप्त होता रहता है। छोटे से कीट के शरीर मे वह कीट के बराबर रहता है और फिर विशालकाय हाथी के शरीर मे हाथी के आकार मे परिणत हो जाता है। इसके सकोच और प्रसार को युक्तिसगत दर्शाने के लिये दीपक का उदाहरण दिया जाता है। जिस प्रकार एक दीपक बडे भवन मे प्रकाशित होने पर उस बडे भवन का सारा अंत प्रदेश प्रकाशित करता है एव छोटे भवन मे प्रकाशित होने पर छोटे भवन का अन्त प्रदेश प्रकाशित करता है उसी प्रकार जीव बडे शरीर मे पहुँचकर उसके सम्पूर्ण अवयवो मे तथा छोटे शरीर मे पहुँचकर उसके सम्पूर्ण अवयवो मे व्याप्त हो जाता है। यह सिद्धान्त 'मध्यम परिमाणवाद' के नाम से जाना जाता है। जीव जिस शरीर मे रहता है उसके हर भाग मे व्याप्त रहता है। यही कारण है कि शरीर के किसी भाग मे सुई चुभाने पर उसकी चेतना मनुष्य को होती है। जीव और वस्तु का सम्बन्ध चेतना और वस्तु का सम्बन्ध है जिस प्रकार कमरे के हर भाग मे फैलकर भी प्रकाश कमरे को कोई हिस्सा नही बनता ठीक उसी प्रकार शरीर के हर भाग मे रहकर भी जीव शरीर का कोई हिस्सा नही बनता। चूँकि जैन दर्शन जीव को कर्त्ता एव भोक्ता मानता है इसलिये वह बहुजीववाद को मानता है ये अनन्त एव असख्य जीव लोकाकाश मे अनन्त एव असख्य प्रदेशो मे व्याप्त रहते हैं। जैन दर्शन मे जीव के स्वरूप का वर्णन करते हुये उसके उपयोगमय, अमूर्त, कर्त्ता, स्वेदहपरिमाण, भोक्ता, ससारस्य, सिद्ध एव उर्ध्वगति ये आठ लक्षण माने गये है।

कर्म ही जीव के ससार रूपी रगमच पर विविध भूमिकाओ का मूल कारण हैं। कर्मो के अच्छे व खराब होने से उसे उन्ही कर्मो के अनुसार फल मिलता है। वैसे तो

जीव साधन चतुष्टय से सम्पन्न है परन्तु कर्म जीव के उस स्वाभाविक रूप पर पर्दा डालकर उसे आच्छादित कर देता है। शरीर व इन्द्रिय आदि से आत्मा भिन्न है क्योकि इन्द्रियो के व्यापार के रुक जाने पर भी इन इन्द्रियो के द्वारा जाने गये पदार्थों का स्मरण होता रहता है।[1] जैन दर्शन मे जीव का वर्गीकरण 'बद्ध' एव 'मुक्त' जीव के रूप मे किया गया है। बद्ध जीव वे है जो बन्धनग्रस्त है तथा मुक्त जीव वे है जिन्होने मोक्ष को प्राप्त कर लिया है। पुन बद्ध जीवो को 'स्थावर' व 'त्रस' मे विभक्त किया गया है। इनमे एक इन्द्रिय से युक्त व गतिहीन जीव स्थावर कहलाते है। त्रस जीवो के चार प्रकार है– द्वीन्द्रिय–शख, कृमि एव सीपी, त्रीन्द्रिय–चींटी व जोक, चतुरिन्द्रिय–मच्छर एव भौंरा, पञ्चेन्द्रिय–मनुष्य पशु पक्षी आदि है।

जीव के अस्तित्व मे प्रमाण देते हुये जैन दार्शनिको का मानना है कि प्रत्यक्ष प्रमाण के अनुसार जीव के गुणो को देखकर जीव के अस्तित्व का बोध हो जाता है।

परोक्ष प्रमाण के अनुसार इस शरीर रूपी मशीन को सचालित करने के लिये चालक की आवश्यकता है और वह चालक आत्मा है क्योकि आत्मा या जीव के द्वारा ही शरीर की विभिन्न क्रियाये सचालित होती है। शरीर का निर्माण एव विकास जीव के द्वारा होता है क्योकि जीव निमित्त कारण बनकर पुद्गल कण समूहो को रूप देकर शरीर का निर्माण करता है।

इन्द्रियॉ ज्ञान का साधन होने के कारण स्वय ज्ञान नही दे सकती है, इसलिये कोई ऐसी सत्ता है जो इन्द्रियो के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करती है और वह जीव है।

निश्चय नय व व्यवहार नय के आधार पर जैन दर्शन मे जीव के स्वरूप का वर्णन किया गया है। निश्चय नय के दृष्टिकोण से जीव शुद्धज्ञान एव चैतन्य रूप है जबकि व्यवहार नय से जीव पाप–पुण्य का कर्त्ता एव भोक्ता है, जिसके कारण उसे ससार चक्र मे

---

[1] इन्द्रियेभ्यो व्यतिरिक्त आत्मा, इन्द्रियव्युपरमेऽपि तदुपलब्धार्थनुस्मरणात्।
–हरिभद्रसूरि, षड्दर्शन समुच्चय पर महेन्द्र जैन की टीका कारिका सख्या– ४९/१५७

आवागमन करना पडता है। निश्चय नय के अनुसार जीव का चैतन्य रूप चेनना का परिणाम है। जीव का उपयोग केवल ज्ञानरूप होता है और व्यवहारनय के आधार पर उसकी उपलब्धि मति, श्रुत आदि अशुद्ध ज्ञान मे होती है। निश्चय नय का आश्रय लेकर जैन दार्शनिक जीव को अनेक न मानकर केवल एक मानते है जो आस्रव, बध, सवर, निर्जरा, मोक्ष इन सभी स्थित मे भावकर्मो पर स्वतन्त्रता से शासन करता है। इस कारण जीव प्रभु कहलाता है। व्यवहार नय मे कर्म पुद्गलो के परिणाम के साथ–साथ जीव मे भी परिणाम होता है, जिसके कारण जीव के भिन्न–भिन्न रूप उपलब्ध होते है। निश्चय दृष्टिकोण से जीव मे शुद्ध भावो की स्थिति मानी जाती है लेकिन व्यवहारनय से उसे राग–द्वेष, जडत्व आदि का आधार बतलाया गया है। चूँकि जीव एक प्रकार का द्रव्य है अतएव जैनाचार्य द्रव्य की भॉति उसमे उत्पत्ति, ध्रौव्य एव व्यय की कल्पना करते है। ध्रौव्य के कारण जीव के स्वाभाविक स्वरूप की स्थिति सदैव बनी रहती है और उसका नाश नहीं होता ।

मोक्ष-

जैनदर्शन मे बधन एव मोक्ष का विशद् विवेचन किया गया है। बधन को परिभाषित करते हुये कहा गया है कि "कषायो के कारण कर्मानुसार 'जीव' का 'पुद्गल' से आक्रान्त हो जाना ही बधन है।" अत कर्म कणो का जीव के वास्तविक स्वरूप को पूर्णत ढक लेना ही उसका बधन है। जीव के बधन का मुख्य कारण उसके द्वारा किये गये विकार युक्त कर्म है। जीव के प्रत्येक अशुभ विचार के साथ ही कर्मो के कण उसके शरीर मे प्रवेश कर जाते है और उसके साथ एकरूप होकर उसको बधन मे डाल देते है। इसके विपरीत जब जीव के समस्त कर्मो का नाश होता है और उसका देहादि से आत्यान्तिक वियोग हो जाता है तो वह अवस्था मोक्ष कहलाती है। जिस प्रकार मेघ सूर्य को ढक लेते है उसी प्रकार बधन आत्मा के स्वाभाविक गुणो को अभिभूत कर लेता है

मेघमडल के छिन्न–भिन्न होते ही सूर्य सारी पृथ्वी को आलोकित कर देता है उसी प्रकार बाधाओ के हट जाने पर जीव अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।[1]

कर्म केवल मानसिक एव शारीरिक क्रियाये ही नही है, वरन् वे वस्तुगत सत्ताए है। कर्म अणु रूप द्रव्य है। जीव की प्रत्येक मानसिक एव शारीरिक क्रिया के साथ, चाहे ऐसी क्रिया कितनी ही सूक्ष्म क्यो न हो, जीव मे परिवर्तन होते रहते है। इस परिवर्तन के दो पहलू है– आत्मनिष्ठ एव वस्तुनिष्ठ। आत्मनिष्ठ परिवर्तन जैन दर्शन की शब्दावली मे 'भाव' कहलाता है। आत्मानिष्ठ परिवर्तन के समानान्तर ही कर्म–जगत् मे भी परिवर्तन होता है और भाव के अनुरूप कर्म कण जीव मे प्रवेश कर जाते है और उससे एक रूप होकर उसके वास्तविक स्वरूप को ढकने लगते है। इस घटना को जैन दर्शन मे 'द्रव्यबन्ध' कहते है। ये दोनो अवस्थाये वस्तुत एक ही समय मे घटित होने वाली घटना के दो समानान्तर पहलू है, हम केवल विचारो मे ही इन्हे अलग–अलग करके समझ सकते है वास्तविक रूप से ये एक है। भाव–बध 'भावास्रव' का परिणाम है। इस स्थिति मे जीव अपनी ही मानसिक स्थितियो, जैसे–वासना, द्वेष, मोह इत्यादि से बँध जाता है।

जैन आचार्यो के अनुसार कर्म सम्बन्ध का मुख्य कारण अविद्या है, जिसके प्रभाव मे पडकर जीव अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है तथा शरीर के साथ सयोग की कामना करता है। चूँकि शरीर का निर्माण पुद्गल कणो से हुआ है, इसलिये जीव का पुद्गल से ही सयोग होता है और यही बधन है। जैन मतानुसार बन्धन का अर्थ है–जड और चेतन का पारस्परिक सम्बन्ध तथा मोक्ष का अर्थ है दोनो का अलग–अलग हो जाना।[2] द्रव्य बन्ध के अलग–अलग दृष्टि से चार प्रकार माने गये है –

---

[1] घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं, यथा मन्यते निष्प्रभचातिमूढ।
तथा बद्धवद्भाति यो मूढ दृष्टे, स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा।।
– हस्तमलक – १० वेदान्तसार से उद्धृत।

[2] तत्त्वार्थाधिगम सूत्र ८/४

१ **प्रकृति बन्ध** - यह बन्ध यह निश्चय करता है कि किस प्रकार के कर्मो ने जीव को बॉधा है या उनकी प्रकृति क्या है?

२ **प्रदेश बन्ध-** यह बन्ध यह निश्चित करता है कि कर्म परमाणु जीव के किस विशेष हिस्से का आवरण करते है अर्थात् जीव के कितने हिस्से या प्रदेश को कर्मो न बॉध रखा है।

३ **स्थिति बन्ध–** यह बन्ध यह निश्चय करता है कि कर्म परमाणुओ ने जीव को कितने समय के लिये बॉध रखा है।

४ **अनुभाग या अनुभव बन्ध** – यह बन्ध यह निश्चय करता है कि कर्मो ने जीव को कितनी दृढता से बॉध रखा है।

कर्म सिद्धान्त -

कर्मो से उत्पन्न बध 'कर्म बध' हैं। इन कर्मो के कारण ही जीव अजीव के सम्पर्क मे व्यवहार नय से आता है। कर्म के कारण ही मानव जगत् मे साधन समान होने पर भी फलो मे अन्तर परिलक्षित होता है। कर्मो के द्वारा ही उपरोक्त चार प्रकार के बधन जीव को बॉधते है। प्रथम बन्ध प्रकृति बन्ध के अर्न्तगत आठ प्रकार के कर्मो को मान्यता दी गयी है।

१ **ज्ञानावरणीय कर्म-** जो कर्म आत्मा की ज्ञानात्मक शक्ति को कुण्ठित करते है अर्थात् जीव के सच्चे ज्ञान का आच्छादन करके उस पर आवरण डाल देते है ज्ञानावरणीय कर्म है।

२ **दर्शनावरणीय कर्म–** जो कर्म आत्मा की प्रत्यक्षीकरण एव आनुभविक शक्तियो को कुण्ठित करता है अर्थात् जीव के सम्यक् दर्शन को आच्छादित कर देता है। दर्शनावरणीय कर्म है।

३ **मोहनीय कर्म** - वे कर्म है, जो व्यक्ति के यथार्थ दार्शनिक व सदाचरण मे बाधक होते हैं इसके दो भेद हैं– दर्शन मोह एव चरित्र मोह।

४ **अन्तराय कर्म**– अन्तरायकर्म वे कर्म है, जो जीव की मनोवाछित अभीष्ट की प्राप्ति मे बाधा उत्पन्न करते है। ये जीव की शुभ कार्यो को करने की शक्ति पर पर्दा डाल देते है।

ये चारो प्रकार के कर्म घातीय कर्म माने जाते है ये कर्म आत्मा के ज्ञान, दर्शन और शक्ति नामक स्वाभाविक गुणो का आवरण करते है।

५ **वेदनीय कर्म-** वे कर्म, जो सुख–दुख आदि का कारण बनते है वेदनीय कर्म कहलाते है। इसके दो भेद है– सातावेदनीय एव असातावेदनीय।

६ **आयुष्यकर्म** - वे कर्म, जो जीव की आयु एव भावी जीवन की योनि का निर्धारण करते है। आयुष्य कर्म कहलाते है।

७ **नामकर्म** - वे कर्म, जो व्यक्ति की सुन्दरता एव व्यक्तित्व का निर्धारण करते है। नामकर्म कहलाते है।

८ **गोत्र कर्म** - वे कर्म, जो जाति विशेष एव कुल या परिवार विशेष मे उत्पत्ति को निर्धारित करते है, उन्हे गोत्र कर्म कहा जाता है।

उपर्युक्त चारो कर्म अघातीय कर्म कहलाते है । ये कर्म दग्ध बीज के समान है। इनमे नवीन कर्मो को उत्पन्न करने की क्षमता नहीं है। समय के साथ ये अपना फल देकर सहज रुप से अलग हो जाते है।[1]

स्थिति बन्ध – सभी कर्म जीव को समान अवधि के लिये नही बॉधते। कुछ कर्म जीव के साथ दीर्घकालिक सम्बद्धता लिये होते है, तो कुछ अल्पकालिक। कर्मो का एक विशिष्ट समय के लिये जीव के साथ सम्बद्ध होना जीव के स्थिति बन्ध को निर्धारित करता है।

---

[1] आद्योज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रन्तराया। – तत्त्वार्थ सूत्र ८/४

अनुभाग बन्ध – सभी प्रकार के कर्म जीव को समान रूप से नहीं बॉधते है। कुछ कर्म जीव को अत्याधिक दृढता से बॉधते है, जबकि कुछ कर्मजीव को कम दृढता से बॉधते है। जीवो की तीव्रता एव मदता का निश्चय अनुभाग बन्ध के द्वारा होता है।

प्रदेश बध – प्रदेश बध मात्रात्मक होता है। जो कर्म जीव के साथ सम्बद्ध होते है, उनकी मात्रा हमेशा एक समान नहीं होती। कभी यह मात्रा अधिक होती है, तो कभी कम होती है। कर्म परमाणु जीव के किसी विशेष भाग का आवरण अधिक या कम करेगे यह प्रदेश बन्ध के द्वारा निर्धारित होता है।

जैन दर्शन मे कर्मो की दस अवस्थाये मानी गयी है– बध, सक्रमण, उत्कर्षण, अपवर्तन, सत्ता, उदय, उदीरणा, उपशमन निधन्ति एव निकाचना।

जैन दर्शन का अनुशीलन करने पर हम पाते है कि बधन के तीन प्रमुख कारण माने गये है। ये है– मिथ्या दर्शन, मिथ्या चरित्र और मिथ्या ज्ञान। राग द्वेष से युक्त होकर, ससार मे लिप्त होकर कार्य करना मिथ्या चरित्र कहलाता है। जैन तीर्थकरों और उनके द्वारा बताये गये तत्त्वो मे श्रद्धा न रखना ही मिथ्या ज्ञान है। वेदान्त दर्शन मे मिथ्या ज्ञान को ही बधन का प्रमुख कारण माना गया है परन्तु जैन दर्शन के अनुसार मिथ्या ज्ञान या अविद्या के साथ–साथ मिथ्या चरित्र व मिथ्या दर्शन भी बन्धन का कारण है।

उमास्वाति ने मिथ्या दर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग को बन्धन का कारण माना है। मिथ्या दर्शन दो प्रकार का है– मिथ्या कर्मो के उदय होने पर जैन दार्शनिको के उपदेश मे श्रद्धा न रखना तथा दूसरो के उपदेश के कारण जैन दर्शन के प्रति अश्रद्धा का होना। अविरति का अर्थ असयम है। इन्द्रियो का सयम न करना ही अविरति है। अविरति की स्थिति मे जीव आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान एव उचित-अनुचित के ज्ञान के प्रति निष्क्रिय हो जाता है। इसे ही प्रमाद कहा गया है। क्रोध, मान, माया, लोभ, आदि कुप्रवृतियॉ कषाय है। ये पुद्‌गल कणो को अपनी ओर आकृष्ट करती हैं व हमे बन्धन मे

डाल देती है। मन, वाणी और शारीरिक कर्मो को योग कहते हैं जिनके द्वारा जीव को कर्म पुद्‌गलो की प्राप्ति होती है। योग मानसिक वाचिक तथा कायिक तीन प्रकार का होता है।

चूँकि जीव अपने कर्मो के अनुसार ही पुद्‌गल कणो को आकृष्ट करता है, इसलिये आकृष्ट पुद्‌गल कण को कर्म–पुद्‌गल कहा जाता है। जब कर्म-पुद्‌गल आत्मा की ओर प्रवाहित होते है तो इस अवस्था मे आस्रव जीव का स्वरूप नष्ट करके उसे बन्धन की ओर ले जाता है। जब पुद्‌गल कण जीव मे प्रविष्ट हो जाते है तब उस अवस्था को बन्धन कहा जाता है। अत जैनाचार्यो ने बन्धन का मुख्य कारण आस्रव को माना है।[1]

आस्रव के दो भेद है– भावास्रव और द्रव्यास्रव। 'द्रव्यास्रव' या कर्मास्रव कर्म के स्थूलरूप का सचय आत्मा मे करते है और विविध प्रकार से आत्मा को प्रभावित कर उसे द्रव्य बध मे डाल देते है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय ओर योग भावास्राव के ही प्रकार हैं और ये भावबन्ध का कारण हैं। जिस प्रकार तेल से लिप्त शरीर पर धूलराशि चिपककर जम जाती है। उसी प्रकार कर्म पुद्‌गल जीव पर चिपक जाते है। तेल से लिप्त होना भावास्त्रव तथा उस पर धूल का चिपकान द्रव्यास्रव कहा जाता है।

चूँकि जीव के बन्धन का मुख्य कारण कर्मास्रव है अतएव यदि उसका और कर्म पुद्‌गलो का प्रवाह बन्द हो जाये तो मोक्ष हो सकता है। मनुष्य को मोक्ष प्राप्ति के लिये नये पुद्‌गल कणो को जीव की ओर प्रवाहित होने से रोकना पडेगा तथा जीव मे जो पुद्‌गल कण अपना घर बना चुके हैं उनका उन्मूलन भी करना पडेगा। नये पुद्‌गल कणो को जीव की ओर प्रवाहित होने से रोकना सवर कहलाता है। कुछ पुराने पुद्‌गल कण जो सवर से नष्ट नहीं होते उनका क्षय निर्जरा कहलाता है। निर्जरा से अर्जित कर्मो का भण्डार नष्ट किया जाता है। जैन दर्शन मे सवर की परिभाषा देते हुये कहा गया है – आस्रव का निरोध हो जाना 'सवर' है।[2] जैन दर्शन के अनुसार जीव व कर्म का एकमेव होकर मिल जाना

---

[1] आस्त्रवोभवहेतु स्यात्सवरो मोक्षकारणम्। – सर्वदर्शन सग्रह श्लोक सख्या– ३७ से उद्‌धृत।

[2] 'आस्त्रव निरोध सवर।' – तत्वार्थाधिगम सूत्र ९/१

दोनो का परस्पर अनुप्रवेशरुपसम्बन्ध बन्ध कहलाता है।[1] सवर को जैन दर्शन मे एक तत्त्व के रूप मे स्वीकार किया गया है। आस्त्रव की भॉति सवर के भी दो भेद है–१ 'भाव सवर' २ 'द्रव्य सवर' । जीव की कषाय जन्य क्रियाओ का निरोध भाव सवर तथा उसके और कर्म पुद्गलो के आकर्षण के निरोध को द्रव्य सवर कहते है।

निर्जरा को भी जैन दर्शन मे तत्त्व के रूप मे स्वीकार किया गया है। चूॅकि जीव के कुछ ऐसे कर्म होते है जो सवर के द्वारा विनष्ट नहीं होते है, ये कर्म 'अर्जित कर्म' कहलाते है।इन कर्म पुद्गलो को विनष्ट किये बिना मोक्ष की प्राप्ति सभव नहीं है। बधे हुये कर्मो के झडने की प्रक्रिया को जैन दर्शन मे 'निर्जरा' कहा गया है।[2] जैन दर्शन मे निर्जरा को 'यथाकाल' और 'औपक्रमिक' दो प्रकार का माना गया है। अर्जित कर्म रूपी पुद्गलो के समूल नाश के लिये जैन दर्शन मे तप, ध्यान आदि का विधान किया गया है।

अर्जित कर्मो को जब तपोबल द्वारा अपनी इच्छा से नष्ट किया जाता है वह निर्जरा औपक्रमिक या भाव या अविपाक निर्जरा कहलाती है तथा जब कर्म किसी काल विशेष मे फल देकर जीव से स्वाभाविक रूप से विरत हो जाते है तो इसे यथाकाल या द्रव्य या सविपाक निर्जरा कहते है ।

सवर तथा निर्जरा के द्वारा जीव के सभी कर्म पुद्गलो का विनाश हो जाता है तथा वह अपनी स्वाभाविक स्थिति साधन चतुष्टय से सम्पन्न हो जाता है। उसे सभी प्रकार के कर्मो से आत्यान्तिक मुक्ति मिल जाती है इसके उपरान्त जीव उर्ध्व लोक की ओर निरन्तर गमन करता है।

इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार कर्म सम्पृक्त होना बधन है तथा सवर एव निर्जरा के द्वारा कर्मो का क्षय करके अपने स्वाभाविक स्वरुप को प्राप्त करना 'मोक्ष' है। कर्मो से वियोग होते ही जीव शरीर को छोड देता है। जिस प्रकार दीपक की ज्योति का स्वभाव

---

[1] सवरस्तन्निरोधस्तु बन्धो जीवस्य कर्मण ।
अन्योऽन्यानुगमात्मा तु प ‡ सम्बन्धोद्वयोरपि। – षड्दर्शन समुच्चय, हरिभद्रसूरि कारिका स० –५१

[2] बद्धस्य कर्मण साटोयस्तु सा निर्जरा मता।। – वही, कारिका स० –५२

सीधे ऊपर की ओर जलना है ठीक उसी प्रकार जीव भी निरन्तर ऊपर की ओर गति करता है फिर वह लौकिक आकाश के सर्वोच्च शिखर मे सिद्ध शिला पर निवास करता है।[1]

जैन दर्शन मे मोक्ष को दो प्रकार का माना गया है। 'भाव मोक्ष' एव 'द्रव्य मोक्ष'। सवर एव निर्जरा की प्राप्ति के उपरान्त साधक जब सब प्रकार के घातीय कर्मो से मुक्त हो जाता है तो साधक की यह अवस्था भाव मोक्ष कहलाती है। वास्तव मे यह मोक्ष की पूर्व अवस्था है। द्रव्य मोक्ष के लिये आयु, नाम, गोत्र तथा वेदनीय इन चार अघातीय कर्मो का नाश आवश्यक है। इन कर्मो के नष्ट होने पर द्रव्य मोक्ष की प्राप्ति होती है और यही पूर्ण मोक्ष है। भाव मोक्ष प्राप्त व्यक्ति को केवली कहा जाता है जबकि द्रव्य मोक्ष प्राप्त व्यक्ति को मुक्त कहा जाता है, किन्तु कुछ जैन दार्शनिको जैसे नेमिचन्द्र का मानना है कि जिस मानसिक स्थिति मे जीव सभी प्रकार के कर्मो से मुक्त हो जाता है या जीव को आच्छादित किये हुये सभी कर्मो का नाश हो जाता है, उसे भावमोक्ष कहते है और जीव के सभी प्रकार के कर्मो का वास्तविक रुप मे नष्ट हो जाना द्रव्यमोक्ष कहलाता है।

जैन दर्शन मे सवर एव निर्जरा की प्राप्ति को ही मोक्ष का साधन माना गया है। अब प्रश्न यह उठता है कि सवर अथवा कर्मास्रव के निरोध की क्या प्रक्रिया है? किन साधनो अथवा उपायो के द्वारा जीव का पुद्गल कणो से पृथक्करण होता है। जैन आचार्यो ने कर्म पुद्गलो के निरोध के लिये बासठ उपाय बताये है। इनमे ५ समिति, ३ गुप्ति, ५ व्रत, १० धर्म, १२ अनुप्रेक्षाये व २२ परीषह व ५ चरित्र आते है।

जैन दर्शन मे मोक्ष की प्राप्ति के लिये 'त्रिरत्न' का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। तत्त्वार्थाधिगम सूत्र मे स्पष्ट रूप से कहा गया है। सम्यक्, दर्शन, ज्ञान एव चरित्र मोक्ष के मार्ग है।[2] जैन दर्शन का सम्पूर्ण आचार शास्त्र इन तीन रत्नो पर ही अवलम्बित है जिस प्रकार मिट्टी, दण्ड, चक्र, सूत्र आदि समी मिलकर घडे का निर्माण

---

[1] तत्त्वार्थाधिगम सूत्र – १०/५

[2] सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्ग।   – तत्त्वार्थाधिगम सूत्र १/१

करते है ठीक उसी प्रकार सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन एव सम्यक् चरित्र मिलकर मोक्ष का मार्ग बनाते है।

१ <u>सम्यक् दर्शन</u> -

यथार्थ ज्ञान के प्रति श्रद्धा का होना सम्यक् दर्शन कहलाता है। कुछ लोगो मे यह स्वभावत ही विद्यमान रहता है तो कुछ लोग मे यह गुरु के द्वारा दी गयी शिक्षा या विद्योपार्जन एव अभ्यास से आता है। इनमे से प्रथम को निसर्ग तथा दूसरे से प्राप्त ज्ञान को अधिगम कहते है। सम्यक् दर्शन के आठ अग माने गये है–

१ **नि शकता**– सत्य मार्ग के अनुसरण मे साधक को नि शक होना चाहिये।

२ **नि काक्षिता**– साधक को निष्काम होकर साधना मे लगना चाहिये।

३ **निर्विचिकित्सा**– मनुष्य के वैभव-दारिद्रय के बजाय उसके गुणो पर ध्यान देना चाहिये।

४ **अमुद्धदृष्टि**– साधक मे इतना विवेक होना चाहिये कि वह कुमार्ग पर चलने वालो की बात मे न आये और सन्मार्ग से विचलित न हो।

५ **उपबृहण** – साधक को अपने गुणो को बढाते रहने का प्रयत्न करना चाहिये।

६ **स्थितिकरण** –प्रलोभन मे पडकर सन्मार्ग त्याग के बजाय अपनी स्थिति दृढ करनी चाहिये।

७ **वात्सल्य** – साधक को अपने सहयोगी धर्मावलाम्बियो से स्नेह रखना चाहिये।

८ **प्रभावना** – साधक को अपने सच्चे धर्म का प्रचार करना चाहिये।

२ <u>सम्यक् ज्ञान</u> -

व्यवहार दृष्टि से जीव, अजीव, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्धन, मोक्ष, पाप एव पुण्य नौ तत्त्वो के स्वरूप का ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है, किन्तु निश्चय नय की दृष्टि से आत्म–अनात्म का विवेक ही सम्यक् ज्ञान है। आचार्य अमृतचन्द्र सूरि के अनुसार जो कोई सिद्ध हुये है वे इस आत्म अनात्म के विवेक या भेद विज्ञान से ही सिद्ध हुये है और जो बन्ध मे है वे इसके अभाव के कारण बन्धन मे है।[1] पुन तत्त्वो का उनकी

---

[1] समयसार टीका – १३२,भारतीय दार्शनिक निबन्ध, डी०डी०वदिष्टे पृ० स० २६७ से उद्धृत।

अवस्था के अनुरूप, सक्षेप या विस्तार से जो बोध होता ह उसे ही विद्वान लोग सम्यक् ज्ञान कहते है।[1] मति, श्रुत, अवधि, मन पर्याय केवल ये इसके पॉच भेद है। सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति पूर्ण ज्ञानी तीर्थकरो के उपदेशो के मनन से होती है।

३ <u>सम्यक् चरित्र</u> –

ससार के कर्मो का विनाश हो जाने पर सम्यक् ज्ञान एव सम्यक् दर्शन से युक्त पुरुष को अहितकर कर्मो का त्याग एव हितकर या पुण्य कर्मो का आचरण ही सम्यक् चरित्र कहलाता है। सवर एव निर्जरा की प्राप्ति के लिये मनुष्य को निम्नाकित कर्मो को करना चाहिये–

१ **<u>पॉच महाव्रतो का पालन</u>** – जैन दर्शन मे सत्य, अहिसा, अस्तेय, अपरिग्रह एव ब्रह्मचर्य पॉच महाव्रतो के पालन का आदेश दिया गया है।

<u>अहिसा</u> – जैन दर्शन मे अहिसा को बहुत महत्त्व दिया गया है। हिसा का परित्याग करना ही अहिसा है। जैन मतानुसार जीवो का निवास गतिशील के अतिरिक्त स्थावर द्रव्यो मे भी होता है। अहिसा का अर्थ केवल जीवो की हत्या का परित्याग नही, बल्कि उनके प्रति प्रेम करना है। दूसरो को अहिसात्मक कर्मो के लिये प्रेरित करना भी अहिसा सिद्धान्त का उल्लघन करना है। अहिसा व्रत भिक्षुओ के लिये काफी कठोर है इसलिये वे नाक पर कपडा बॉधते है। रात मे खाना नही खाते है, किन्तु गृहस्थो के लिये इस सिद्धान्त को लचीला बनाया गया है।

<u>सत्य</u> – मिथ्या वचन का सर्वथा परित्याग करना ही सत्य है। सत्य का आदर्श सुनृत है। अर्थात् सत्य, हितकारी तथा प्रियवचन को सुनृत कहते है।[2] जो वाणी प्रिय नहीं है वह

---

[1] यथावस्थिततत्त्वना सक्षेपाद्विस्तरेणवा।
योऽवबोधस्तमत्राहु सम्यग्ज्ञान मनीषिण ।। – सर्वदर्शन सग्रह – श्लोक सख्या– १९

[2] प्रिय पथ्य वचस्तथ्य सूनृत व्रतमुच्यते।
तत्तथ्यमपि नो तथ्यमप्रिय चाहि त च यत्।। – सर्वदर्शन सग्रह श्लोक स० – २३

वाणी सच्ची होकर भी सच्ची नही है इसमे मनुष्य को किसी की निन्दा करने, किसी गुप्त बात का प्रकाशन करने, किसी का विश्वास हिलाने, किसी को गलत उपदेश देने तथा गलत गवाही देने से बचना चाहिये।

अस्तेय – बिना दिये हुये दूसरे की वस्तु को न लेना अस्तेय है।[1] अर्थात् चोरी करने की प्रवृत्ति का सर्वथा परित्याग करना ही अस्तेय कहलाता है।

जैन दार्शनिको का कहना है कि धन मानव का बाह्य जीवन है। किसी व्यक्ति की धन सम्पत्ति का अपहरण करने से उसके प्राणो का अपहरण होता है और यह हिंसा है।

अस्तेय व्रत का पालन मनुष्य को मन, कर्म एव वचन से करना चाहिये। स्वय चोरी करना, चोरी करने की प्रेरणा देना, चोर की प्रसशा करना, चोरी का माल खरीदना, किसी को नाप–तौल मे कम देना आदि चौर वृत्तियों से बचना ही अस्तेय है।

ब्रह्मचर्य – ब्रह्मचर्य का अर्थ है– वासनाओ का त्याग। मनुष्य अपनी वासनाओ एव कामनाओ के वशीभूत होकर ऐसे कर्मो को करने लगता है जो पूर्णत अनैतिक है। ब्रह्मचर्य का साधारण अर्थ इन्द्रियो पर रोक लगाना है परन्तु जैन दर्शन मे ब्रह्मचर्य का प्रयोग केवल इन्द्रिय–सुख का परित्याग ही नहीं बल्कि सभी प्रकार के सुखोपभोगो की कामना का परित्याग करना है। ब्रह्मचर्य के लिये हमे कायिक, वाचिक, मानसिक, लौकिक, पारलौकिक, स्वार्थ, परार्थ सभी प्रकार की कामनाओ का परित्याग करना चाहिये।

अपरिग्रह- विषयासक्ति का त्याग करना ही अपरिग्रह है। इस व्रत का पालन करने के लिये सभी प्रकार के रूप, रग, गध, स्पर्श ओर शब्द की अभिलाषा और उनके सग्रह की कामना का त्याग करना चाहिये। सासारिक विषयो मे आसक्ति का त्याग करना ही अपरिग्रह है।

---

[1] अनादानमदत्तस्यास्तेयव्रतमुदीरितम्।
बाह्मा प्राणा नृणामर्थो हरता त हता हि ते।। – सर्वदर्शन सग्रह श्लोक स० – २४

मुनियो के लिये इन व्रतो का अत्यन्त कठोरता से पालन करने का विधान है एव गृहस्थो के लिये इन्हे उदार बना दिया गया है। अत उन्हे 'अणुव्रत' की सज्ञा दी गयी है।

व्यक्ति को विभिन्न प्रकार की 'समितियो' का पालन करना चाहिये। समिति का अर्थ साधारण रूप से सावधानी कहा जाता है। जैन मतानुसार ५ प्रकार की समितियॉ है– ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण एव उत्सर्ग। इस प्रकार मनुष्यो को क्रमश सावधानी पूर्वक चलना, कल्याणकारी एव सत्य वचन बोलना, भिक्षा ग्रहण करने मे, आवश्यक वस्तुओ के उठाने एव रखने मे तथा मल–मूत्र आदि का त्याग करने मे सावधानी रखनी चाहिये।

मन, वचन एव शारीरिक कर्मो का सयम आवश्यक है। जैन दर्शन मे इन्हे 'गुप्ति' कहा गया है। चूँकि जीव का प्रवेश शरीर मे कायिक, मानसिक एव वाचिक क्रियाओ द्वारा होता है अत गुप्ति के भी तीन भेद है। कायगुप्ति– शरीर का सयम, वाग्गुप्ति– वाणी पर नियत्रण और मनोगुप्ति– मानसिक सयम। इस प्रकार गुप्ति का अर्थ है स्वाभाविक प्रवृतियो पर रोक।

जीव को मोक्ष की प्राप्ति के लिये निम्न दस धर्मो का पालन भी करना चाहिये –

१ सत्य २ आर्जव(सरलता) ३ मार्दव(विनम्रता) ४ शौच(पवित्रता) ५ क्षमा ६ सयम ७ तप ८ त्याग ६ आकिन्चन्य एव १० ब्रह्मचर्य।

किसी विषय का आत्मगत चिन्तन अनुप्रेक्षा कहलाता है, जैन दर्शन मे १२ अणुप्रेक्षाये मानी गयी है इनका सदैव ध्यान रखना चाहिये।

१ **अनित्य**- ससार की अनित्यता का चितन।

२ **अशरण** – सत्य को छोडकर कोई भी दूसरा शरण नहीं है या जीवन को असहायता का चिन्तन।

३ **एकत्व** – जन्म, जरा, मृत्यु का कोई साथी नहीं है, जीव अपने कर्मो का एकमात्र भागी है।

४ **अन्यत्व** – आत्मा को शरीर से भिन्न मानना।

५ **अशुचि** – शरीर एव शारीरिक वस्तुओ को अपवित्र मानना।

६ **आस्रव** – बन्धन के कारणो पर विचार।

७ **ससार** – जीवन –मरण की भावना का चिन्तन।

८ **सवर** – कर्म के प्रवेश के निरोध की भावना।

६ **निर्जरा** – जीव मे प्रविष्ट कर्म–पुद्गलो को बाहर निकालने का प्रयत्न।

१० **लोक** – जीवात्मा, शरीर तथा जगत् के वस्तुओ की भावना।

११ **धर्मानुप्रेक्षा** – धर्म के स्वरुप का चिन्तन।

१२ **बोधि दुर्लभत्व** – बोधि(ज्ञान) प्राप्ति के उपायो पर विचार।

साधक को पच चरित्रो का सम्पादन करना चाहिये ये निम्न है–

१ **सामायिक चरित्र** – सदैव समभाव मे रहना।

२ **परिहार विशुद्धि** – अहिसा के द्वारा शुद्धि की प्राप्ति।

३ **छेदोपस्थापना**– गुरु के समीप अपने सभी पुराने दोषो को स्वीकार कर दीक्षा लेना।

४ **सूक्ष्म सपराय**– लोभ के अश को छोडकर अन्य सभी कषायो के उदय को रोकना।

५ **यथाख्यात** – सभी कषायो का निरोध।

<u>परीषह</u> – साधक को परीषह की आदत डालनी चाहिये। उमास्वाति के अनुसार मुक्ति मार्ग से विरत या पतित न होने योग्य और कर्मो को नष्ट करने के लिये सहन करने हेतु जो कठोर नियम हैं, वे 'परीषह' कहलाते है।[1] इसके २२ भेद है – १ क्षुधा २ तृष्णा ३ शीत ४ उष्ण ५ दशमशक ६ नग्नत्व ७ अरति ८ स्त्री ६ चर्या(एकान्तवास) १० निषद्या (आसन से च्युत होना) ११ शय्या १२ आक्रोश १३ वध १४ याचना १५ अलाभ १६ रोग १७ तृणस्पर्श १८ मल(तपस्या करते समय शरीर पर चाहे कितनी भी मल जमा हो जाये उससे घबराना नहीं चाहिये) १६ सत्कार पुरस्कार २० प्रज्ञा २१ अज्ञान २२ अदर्शन । इन सबसे विरत रहने हेतु अपने पर कठोरता से नियत्रण करना चाहिये।

---

[1] तत्त्वार्थ सूत्र – ६/८

तपस्या - जैन दर्शन मे तपस्या को मोक्ष प्राप्ति मे सहायक माना गया हैं। तपस्या द्वारा ही जीव मे कर्म पुद्गल कणो को प्रवेश रुक जाता है। तपस्या सवर और निर्जरा दोनो मे सहायक है। इसके दो भाग है– १ बाह्य तपस्याये २ अन्तरग तपस्याये।

१ **बाह्य तपस्याये** - उपवास करना , भूख से कम खाना, व्रत के सम्बन्ध मे दाता को बताये बिना इस प्रकार दान लेना जिससे एक विशेष प्रकार का भोजन ही दान में मिले। दूध, घी इत्यादि का त्याग, शरीर को तपस्वी बनाना, एकान्त स्थान मे सोना जहाँ कोई जीव–जन्तु न हो। इस प्रकार अनशन, अवमोदार्य, वृत्ति सक्षेप, रस का त्याग, काया–क्लेश, विविक्तशय्यासन ये बाह्य तपस्याये है।

२ **अन्तरग तपस्याये** – पूर्व मे किये हुये कर्मो का प्रायश्चित करना, सन्तो की सेवा करना, आदरणीय व्यक्तियो के प्रति श्रद्धा का भाव रखना, ज्ञान की प्राप्ति हेतु अध्ययन करना तथा शरीर के प्रति वैराग्य भाव रखना व ध्यान करना क्रमश प्रायश्चित, वैयावृत्य, विनय, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग व ध्यान ये अन्तरग तपस्याये कहलाती है।

जैन दार्शनिको के अनुसार ससार मे फॅसे हुये जीव को मोक्ष की प्राप्ति के लिये १४ सोपानो की एक सीढी से चढकर गुजरना होता है। मोक्ष प्राप्ति के इन विभिन्न सोपानो को 'गुण स्थान' कहते है जो निम्न हैं।[1]–

१ **मिथ्या दृष्टि या मिथ्यात्व** – गुण स्थान के इस प्रथम सोपान मे जीव मे वस्तुओ के प्रति सही दृष्टिकोण का अभाव रहता है क्योकि वह पूर्णत कर्मो के प्रभाव मे होता है।

२ **सासादन सम्यक् दृष्टि** – इस सोपान पर जीव सत्य और मिथ्या मे भेद करने की कुछ योग्यता प्राप्त कर लेता है।

---

[1] अकलकदेव तत्त्ववार्तिक (राजवार्तिक), ९/१/२० से ३०

३ **मिश्र दृष्टि** – इस सोपान पर ज्ञान और सशय के बीच एक तनाव उत्पन्न होता है। इस सोपान की सत्ता केवल एक मुहुर्त तक रहती है, तत्पश्चात् जीव या तो चौथे सोपान पर पहुँच जाता है या पुन दूसरे सोपान पर लोट आता है।

४ **अविरत सम्यग्दृष्टि** – इस सोपान पर जीव सत्य दृष्टिकोण को प्राप्त कर लेता है परन्तु अभी उसमे ऐसी आध्यात्मिक शक्ति का अभाव होता है, जिसके द्वारा ज्ञान तथा सकल्प होने के बावजूद वह गलत मार्ग को नही त्याग पाता है।

५ **देशविरति** –इस सोपान पर जीव आशिकरूप से व्रतो का पालन करने मे समर्थ हो जाता है।

६ **प्रमत्त या सर्वविरति** – इस सोपान पर जीव समय–समय पर असफल रहने पर भी अहिसा, अस्तेय आदि नियमो का पालन करना सीख जाता है।

७ **अप्रमत्त या अप्रमत्तसयत** – इस सोपान पर जीव अहिसा आदि नियमो के पालन मे पूर्ण सफल रहता है तथा उसके क्रोध का पूर्णरूपेण नाश हो जाता है।

८ **अपूर्वकरण** – इस सोपान पर जीव अननुभूतपूर्व आनन्द का अनुभव करता है।एवं उसका सारा अभिमान समाप्त हो जाता है।

६ **अनिवृत्ति या स्थूलकषाय** – इस सोपान पर जीव माया से रहित होकर शुद्ध ध्यान कर सकता है।

१० **सूक्ष्म साम्पराय** – इस सोपान पर जीव पीडा, भय, शोक, कष्ट आदि दुखो से पूर्णतया मुक्त हो जाता है। यहॉ पर जीव के सभी प्रकार के कषाय नष्ट हो जाते है केवल सूक्ष्म लोभ शेष रहता है जो जीव को कभी–कभी कष्ट देता है।

११ **उपशान्त मोह या उपशान्त कषाय** – इस सोपान पर जीव समस्त मोहनीय कर्मो को अपने अधिकार मे ले लेता है। यदि इसमे पूर्व सोपान कि सूक्ष्म लोभ का भी

विनाश हो जाता है तो वह अगले सोपान पर पहुँच जाता है, अन्यथा फिर लोटकर पिछले सोपान पर चला जाता है।

१२ **क्षीण कषाय** – इस सोपान मे जीव सभी लोभो तथा सभी कषायो से पूर्ण रूप मुक्त हो जाता है। इस अवस्था मे जीव केवली बन जाता है।

१३ **सयोगि केवली** – इस सोपान मे जीव के समस्त घातीय कर्मो का विनाश हो जाता है। मिथ्या दर्शन, अविरति, प्रमाद व कषाय की पूर्णतया समाप्ति हो जाती है। इसमे साधक को अनन्त ज्ञान, अनन्तसुख तथा अन्य असीमित शक्तियॉ मिल जाती है। वह सर्वज्ञ बन जाता है। यह अवस्था जीवन मुक्ति के समकक्ष की अवस्था है। अघातीय कर्मो के शेष रहने से जीव को अभी शरीर मे रहना पडता है इस अवस्था मे साधक तीर्थकर होकर लोगो को उपदेश देता है।

१४ **अयोगि केवली** - इस सोपान मे साधक समस्त घातीय एव अघातीय कर्मो से मुक्त हो जाता है और सिद्ध कहलाने लगता है। इस अवस्था मे जीव को मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। इसकी तुलना विदेह मुक्ति से की जा सकती है। इस प्रकार इन १४ सोपानो के द्वारा जीव मोक्ष रूपी परमपद् को प्राप्त करता है।

यहॉ पर यह उल्लेखनीय है कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के विपरीत दिगम्बरो का यह मानना है कि स्त्रियॉ मोक्ष की अधिकारिणी नहीं है।

इस प्रकार हम देखते है कि जैन दर्शन मे मोक्ष की अवस्था मे परम आनन्द की प्राप्ति होती है। मुक्त आत्मा सभी प्रकार के कर्म एव कामनाओ का परित्याग कर सिद्धशिला पर अनन्त चतुष्टय से सयुक्त होकर निवास करता है। आचार्य पद्मनन्दी के अनुसार–चन्द्र, सूर्य, आदि ग्रह तो जा –जा कर लौट आते है, लेकिन लोक से परे जो आकाश है उसमे गये हुये लोग आज तक नहीं लौटे।[1]

---

[1] गत्वा–गत्वा निवर्तन्ते चन्द्र सूर्यादयो ग्रहा।
अद्यापि न निवर्तन्ते त्वलोकाकाशमागता। – सर्वदर्शन सग्रह श्लोक स० – ४०

प्रस्तुत अध्याय मे मोक्ष सम्बन्धी विवेचनोपरान्त अब हम महावीर के समकालीन भगवान् बुद्ध के आत्मा व मोक्ष सम्बन्धी विचारो का दार्शनिक विवेचन अगले अध्याय मे करेगे, जिन्होने महावीर की ही भॉति नित्यआत्मा एव ईश्वर की सत्ता का निषेध करते हुए आत्मा को पच स्कन्धो की सघात् मानकर मोक्ष सम्बन्धी अपना विवेचन प्रस्तुत किया है।

बौद्ध-दर्शन

बौद्ध धर्म के सस्थापक भगवान् बुद्ध है। इनका जन्म ईसा से पूर्व छठी शताब्दी मे शाक्याधिपति महाराज शुद्धोधन की भार्या माया देवी के गर्भ से कपिलवस्तु के निकट लुम्बिनी नामक वन मे हुआ था। इनके विषय मे ज्योतिषियो ने भविष्यवाणी की थी कि सासारिक वैराग्य उत्पन्न होने के कारण ये भिक्षु बन जायेगे एव विश्व को शाति का सदेश देगे। इनको वैराग्य न उत्पन्न हो इसलिये पिता ने इनका शीघ्र ही विवाह करके इन्हे भोग विलास की समस्त सामग्री से घेरकर रखने का प्रयास किया, परन्तु पिता के इतने प्रयत्नो के बावजूद एक दिन महल से भ्रमण पर निकले सिद्धार्थ का मन मार्ग मे एक–एक करके जरा जीर्ण, रोगी, शव तथा भिक्षु चार दृश्यो को देखकर परिवर्तित हो गया और उन्होने घर–बार, पत्नी यशोधरा एव नवजात शिशु राहुल का त्याग करके २९ वर्ष की आयु मे महाभिनिष्क्रमण किया। छ वर्षो तक कठिन साधना के पश्चात् लगभग ३५ वर्ष की आयु मे उन्हे ज्ञान का साक्षात्कार हुआ। बोधि सम्पन्न होने के कारण वे बुद्ध कहलाये। इसके अतिरिक्त उन्हे तथागत भी कहा जाता है। पैतालीस वर्षो तक भगवान् बुद्ध अपने धर्म का उपदेश देते रहे तथा लगभग ८० वर्ष की अवस्था मे इन्होने निर्वाण प्राप्त किया।

भगवान् बुद्ध के धार्मिक उपदेश मौखिक ही थे किन्तु उनके निर्वाण प्राप्ति के कुछ समय बाद ही राजगृह मे प्रथम बौद्ध सगीति हुई जिसमे विनयपिटक एव सुत्तपिटक तथा द्वितीय बौद्ध सगीति मे अभिधम्मपिटक की रचना हुई। ये त्रिपिटक ही बौद्ध साहित्य के मूल–ग्रथ हैं। पिटक का अर्थ है 'पिटारे' या 'सग्रह'। ये तीनो ग्रथ बुद्ध की शिक्षाओ की तीन पिटारियॉ है। त्रिपिटक की रचना पाली साहित्य मे की गयी है। सुत्तपिटक दार्शनिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त मिलिन्दपन्हो, महायान वैपुल्य सूत्र, बुद्ध चरितम्, प्रमाण–वार्तिक, तत्त्व सग्रह आदि ग्रथो से बौद्ध दर्शन के विषय मे जानकारी प्राप्त होती है।

आत्मा –

समस्त भारतीय दर्शनो मे चार्वाक एव बौद्ध को छोडकर नित्य शाश्वत आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। चार्वाक दर्शन तो पूर्णतया भौतिकवादी दर्शन है। उसमे माना गया है कि मृत्यु के उपरान्त जलकर राख हुये शरीर मे कुछ भी नही बचता है, अत आत्मा नामक कोई नित्य वस्तु नही है। परन्तु बौद्ध दर्शन जो कि नैतिक एव आध्यात्मिक दर्शन है, मे भी नित्य आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नही किया गया है। पाप–पुण्य, स्वर्ग–नरक एव पुनर्जन्म तथा निर्वाण आदि को मानते हुये भी बौद्ध दर्शन अनात्मवादी है।

भगवान् बुद्ध आत्मा के सम्बन्ध मे प्रश्न पूछे जाने पर कोई उत्तर नही देते थे। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि न तो वे आत्मा की सत्ता को स्वीकार करना चाहते थे और न ही उसका निषेध करना चाहते थे इसलिये इस सम्बन्ध मे वह मौन ही रहते थे। आत्मा, जगत् एव जीव से सम्बन्धित चौदह प्रश्नो पर बुद्ध मौन ही रहते थे। इन प्रश्नो को भगवान् बुद्ध ने अव्याकृत प्रश्न माना है। किन्तु यहॉ पर बुद्ध के मौन का ये अर्थ लगाना कि वे अज्ञेयवादी, निषेधवादी या इन दार्शनिक सिद्धान्तो से परिचित नहीं थे गलत है, क्योकि सविकल्प एव सापेक्ष बुद्धि से इन प्रश्नो का उत्तर नहीं दिया जा सकता है। बुद्धि द्वारा इन प्रश्नो का उत्तर देने पर विरोधो का जन्म होता है। भगवान् बुद्ध का कहना है कि आत्मा एव जगत् से सम्बन्धित ये प्रश्न न तो अर्थयुक्त है, न धर्मयुक्त, न दु ख निरोध के लिये उपयुक्त हैं और न ही शाति, अभिज्ञान एव निर्वाण के लिये, अत ये प्रश्न अव्याकृत हैं।

क्षणभगवाद बौद्ध दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार कोई भी वस्तु किन्ही दो क्षणो मे एक सी नहीं रहती है। यहॉ पर आत्मा को भी अन्य वस्तुओ की भॉति परिवर्तनशील माना गया है। जहॉ अन्य सभी भारतीय दर्शनो मे आत्मा को नित्य माना गया है और इसी के आधार पर पुनर्जन्म की व्याख्या की गयी है वही

बौद्ध दर्शन मे आत्मा को स्थायी तत्त्व के रूप मे स्वीकार नही किया गया है। इसी कारण बौद्ध आत्म सिद्धान्त नैरात्म्यवाद अथवा अनात्मवाद के नाम से जाना जाता है। यह अनात्मवाद बौद्ध विचारधारा का प्राण–भूत तत्त्व है जिस पर उनका समग्र आचार एव विचार अवलम्बित है। बौद्ध दर्शन मे आत्मा को स्वीकार नही किया गया है, उसके अनुसार आत्मा की कोई स्वतन्त्र सत्ता नही हैं। परस्पर सम्बद्ध अनेक धर्मो का एक सामान्य नामकरण आत्मा है। भगवान् बुद्ध ने शाश्वत आत्मा का निषेध करते हुये कहा है कि–"विश्व मे न कोई आत्मा है और न आत्मा की तरह कोई अन्य वस्तु। पॉच ज्ञानेन्द्रियो के आधार स्वरूप मन और मन की वेदनाये, ये सब आत्मा या आत्मा के समान किसी चीज से बिल्कुल शून्य है। बुद्ध ने आत्मा को समस्त अहकार–ममकार आदि का केन्द्र मानकर उसे समस्त क्लेशो एव अनर्थो का स्त्रोत माना है, क्योकि यह रागादि दोषो को जन्म देता है, विवेक एव वैराग्य को नही । भगवान् बुद्ध ने स्पष्ट रूप से कहा है कि जिस प्रकार स्त्री पुत्र, धन आदि की कामना है, उसी प्रकार आत्मा की भी कामना है और मोक्ष या निर्वाण के लिये यह आवश्यक है, कि मनुष्य सभी प्रकार की कामनाओ का परित्याग करे। हम सासारिक विषयो की कामना का जिस प्रकार त्याग करते है, उसी प्रकार आत्मा की कामना का भी त्याग करे तभी मोक्ष की प्राप्ति सभव है।

भगवान् बुद्ध का कहना है कि शाश्वत आत्मा मे विश्वास करना उसी प्रकार हास्यास्पद है जिस प्रकार कल्पित सुन्दर स्त्री मे विश्वास करना। यदि कोई व्यक्ति यह कहे कि मैं इस देश की सर्वाधिक सुन्दर स्त्री को चाहता हूँ एव उसी की कामना करता हूँ और लोग उससे उस स्त्री के विषय मे पूछे कि वह किस रग की है, किस कद की है, किस गोत्र की है तो वह पुरुष उत्तर दे कि मुझे कुछ नही मालुम है। ठीक इसी प्रकार मै उन लोगो से जो यह कहते हैं कि मृत्यु के उपरान्त आत्मा दु ख रहित एव आनन्द से युक्त होती है से पूछता हूँ कि–क्या वे लोग एकान्त सुख वाले लोक को जानते है, उसे देखा है, आत्मा को जाना है ? तो ऐसा पूछने पर उनका उत्तर होता है

नही ? तो क्या तुम मानते हो पोटठपाद । कि ऐसा होने पर उन ब्राह्मणो का कथन अप्रमाणिक नही हो जाता। बुद्ध का कहना था कि यदि मे यह कहता हूँ कि 'जीवात्मा है' तो यह 'शाश्वतवाद' होगा और यदि मै यह कहता हूँ कि 'जीवात्मा नही है' तो यह 'उच्छेदवाद' होगा इसलिये भगवान् बुद्ध का मानना है कि आत्मा को बुद्धि विकल्पो के द्वारा नही जाना जा सकता है। समस्त पदार्थ अनित्य दु खरूप व अनात्म है।

भगवान् बुद्ध के अनुसार नित्य एव अपरिणामी आत्मा को स्वीकार करना ही सत्काय दृष्टि है और जब तक सत्काय दृष्टि रहेगी तब तक निर्वाण की प्राप्ति नही हो सकती है। सत्काय दृष्टि के कारण ही मनुष्य मे अह भाव की उत्पत्ति होती है जिससे 'मैं और मेरा' का अभिमान होता है और जिसके कारण राग और बधन होता है। इसीलिये भगवान् बुद्ध का कहना है कि अनित्य को देखने से मनुष्य का मान नष्ट होता है, दु ख को देखने से कामनाए शुद्ध होती हैं तथा अनात्म को देखने से उसकी आसक्ति दूर होती है। जब मनुष्य समस्त ससार को अनात्म भाव से देखता है तो उसे यह ससार मृग–मरीचिका या गन्धर्व–नगर के समान प्रतीत होने लगता है, जिसके कारण उत्पन्न वैराग्य की वजह से वह निर्वाण का लाभ करता है।

भगवान् बुद्ध का मानना है कि मनुष्य या सत्त्व की कोई पृथक् सत्ता नहीं है। व्यक्ति मानसिक और शारीरिक अवस्थाओ का समुदाय है जो अनित्य तथा विनाशी है। भगवान् बुद्ध के अनुसार जिस प्रकार नदी मे जल की बूँदे निरन्तर परिवर्तित होती रहती हैं, फिर भी उनमे एकमयता बनी रहती है, ठीक उसी प्रकार आत्मा के विज्ञान के निरन्तर बदलते रहने पर भी उसमे एकमयता रहती है। बुद्ध के अनुसार आत्मा पॉच स्कन्धो का सघात मात्र है। ये पॉच स्कन्ध हैं– रूप, सज्ञा, वेदना, सस्कार एव विज्ञान। जिसे हम व्यक्ति के नाम से पुकारते हैं, वह इन्हीं पच–स्कन्धो का समुच्चयमात्र है। आस्तिक दर्शनो मे इच्छा, द्वेष, सुख–दु ख आदि का आधार आत्मा को स्वीकार किया

---

[1] दीघनिकाय– ६ पोट्ठपादसुत्त।

गया है किन्तु बौद्ध दर्शन मे इसका खण्डन किया गया है। इन दर्शनो मे इच्छादि अनुभूतियो एव प्रत्यभिज्ञानादि ज्ञान विशेषो के आधार के रूप मे आत्मा की आवश्यकता सिद्ध की जाती है, किन्तु बौद्ध दर्शन जो सब सत्ताओ को सघातमय बताता है कैसे इस अवयवी को स्वीकार कर सकता है। बुद्ध ने भिन्न–भिन्न प्रकार के ज्ञान एव अनुभवो का वर्गीकरण करके यह निष्कर्ष निकाला कि लोग इन्ही का साक्षात्कार करके यह मानने लगते है कि यही आत्मा है। इन अनुभूतियो और ज्ञानो के वर्गीकरण के अनन्तर उनके आधार पच–स्कन्धो की प्रतिष्ठापना बुद्ध की सर्वथा मौलिक ही है।

बौद्ध भिक्षु नागसेन ने राजा मिलिन्द से आत्मा के स्वरूप का वर्णन एक सुन्दर उपमा के सहारे बतलाया है। नागसेन ने राजा से पूछा कि आप जिस रथ पर सवार होकर आये है क्या उस रथ का निश्चित रूप से वर्णन कर सकते है ? आप बता सकते हैं कि रथ क्या है? क्या दण्ड रथ है, या चक्के रथ है या ध्वज रथ है, या रस्सियॉ रथ है या चाबुक रथ है ? राजा के निषेध करने पर नागसेन ने पुन पूछा कि आखिर रथ है क्या चीज ? इस पर नागसेन ने राजा को समझाया कि दण्ड, चक्र, रस्सा धुरा आदि अवयवो का आधार रुप 'रथ' एक शब्द है जो केवल व्यवहार के लिये है। इन अवयवो से पृथक् किसी अवयवी की सत्ता नहीं दिखलाई पडती है। ठीक इसी प्रकार आत्मा की भी दशा है। पच स्कन्धो के अवयवी के नितान्त अगोचर होने के कारण इन अवयवो के आधार पर 'आत्मा' नाम केवल व्यवहार के लिये ही दिया गया है। आत्मा की वास्तविक सत्ता है ही नही। इस अज्ञात एव अवास्तविक आत्मा के पारलौकिक सुख की इच्छा से वैदिक कर्मकाण्ड के प्रपच मे पडने वाले लोग उसी प्रकार हास्यास्पद है जिस प्रकार प्रासाद की सत्ता को जाने बिना, उस पर चढने की गरज से चौराहे पर सीढी लगाने वाला व्यक्ति। जिस प्रकार रथ की सत्ता रथागो से भिन्न नही है, ठीक उसी प्रकार व्यक्ति की सत्ता पच स्कन्धो से भिन्न नहीं है।

इस प्रकार बौद्धो के अनुसार मनुष्य की आत्मा उसके पाच स्कन्धो का समुच्चय मात्र है।[1] अब हम इन स्कन्धो के लक्षणो पर प्रकाश डालेगे–

रूप स्कन्ध – वस्तुत आत्मा की कल्पना करने के लिये जो अनुभूतियॉ आवश्यक समझी जाती है उनमे से कुछ आभ्यन्तरीय है तो कुछ बाह्य हे। रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार एव विज्ञान स्कन्ध मे से एक साधनावयव भौतिक है। भौतिक साधनावयव के हमारे लौकिक प्रत्यक्षादि ज्ञान मे सहायक होने के कारण बुद्ध ने इसे रूप स्कन्ध कहा है। रूप का अर्थ है चारभूत, भौतिक शरीर एव इन्द्रियॉ। रूप शब्द का व्युत्पत्ति दो प्रकार से की गयी है। 'रूप्यन्ते एभिर्विषया' अर्थात् जिनके द्वारा विषयो का रूपण किया जाये अर्थात् इन्द्रियॉ। दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार 'रूप्यन्ते इति रूपाणि' अर्थात् विषय। इस प्रकार का रूपस्कन्ध विषयो के साथ सम्बद्ध इन्द्रियो एव शरीर का वाचक है। ये ही वे बाह्य वस्तुये है जिन्हे हम आत्मा की सिद्धि के लिये साधन रूप मे रखा करते है।

वेदना स्कन्ध – वेदना स्कन्ध के अन्तर्गत सुखात्मक, दु खात्मक एव उदासीन इन तीनो प्रकार की भावनाओ का समावेश किया गया है। प्रिय वस्तु के स्पर्श से सुख, अप्रिय वस्तु के स्पर्श से दु ख तथा प्रिय एव अप्रिय दोनो से भिन्न वस्तु के स्पर्श से न सुख और न दु ख की जो चित्त की विशेष अवस्था होती है वही वेदना स्कन्ध है। इस स्कन्ध की उत्पत्ति इन्द्रिय एव विषय के सयोग से होती है। बाह्य वस्तु के ज्ञान होने पर उसके ससर्ग का चित्त पर जो प्रभाव पडता है वही वेदना है।

संज्ञा स्कन्ध – इन्द्रियो एव पदार्थो के सयोग से ही सज्ञा स्कन्ध का उदय होता है। इसके अतिरिक्त वेदना एव सस्कार स्कन्धो की उत्पत्ति का कारण भी इन्द्रिय एव पदार्थो का सयोग ही है इसलिये इन तीनो की पृथक्–पृथक् विशेषता को जान लेना आवश्यक है। सज्ञा से तात्पर्य उस ज्ञान विशेष से है जो हमारे ज्ञान या चिन्तन विशेष का आधार

---

[1] यथा हि अग सम्भारा होति सद्दौ रथो इति।
एव भन्धेसु सन्तेसु होति सत्तोनि सम्मुति।। – सयुत्तनिकाय

होता है। इसके आधार पर ही मनुष्य निश्चित ज्ञान कि 'यह पुष्प लाल है।' यह ज्ञान प्राप्त करता है। सज्ञा ज्ञान के दो भेद है– पटिघा एव अभिवचन सज्ञा। पहली सज्ञा किसी वस्तु को देखकर इन्द्रियो मे उदयीमान वह प्रभाव है जो जिज्ञासादि का कारण होता है और दूसरी सज्ञा उसका उत्तर ज्ञान है। यथा–रास्ते मे जाते समय किसी गुडी –मुडी चीज को देखकर उसके पगडी समझ आने पर जिज्ञासावश पास जाकर उसे छडी से हटाने पर फनफना कर फुफॅकारने पर उसके सर्प होने का ज्ञान ही सज्ञा स्कन्ध है।

परन्तु इसके बाद जब हम भयभीत होकर के दौडने लगते है अर्थात् उस वस्तु का ज्ञान होने पर उसके ससर्ग का चित्त पर जो प्रभाव पडता है यह वेदना स्कन्ध की करामात है। वेदना एव सज्ञा स्कन्ध से हमारी चेतना की समाष्टि पूर्ण नही हो पाती है, इसलिये सस्कार स्कन्ध को स्वीकार किया गया है।

संस्कार स्कन्ध – रूप, वेदना एव सज्ञा स्कन्ध के मध्य समन्वय करने वाली मानसिक शक्ति सस्कार स्कन्ध के नाम से जानी जाती है।[1] वस्तु की सज्ञा से परिचय मिलते ही उसके प्रति हमारी मानसिक प्रवृतियो मे जो इच्छा, द्वेष, क्लेश, धर्म, अधर्म आदि आते है ये सस्कार स्कन्ध कहलाते है। बिना इसके मनुष्य के अन्य स्कन्धो के बीच कोई समन्वय नहीं हो सकता।

विज्ञान स्कन्ध – अह 'मै' इत्याकारक ज्ञान तथा इन्द्रियो के द्वारा जन्य, बाह्य वस्तुओ का ज्ञान ही विज्ञान कहलाता है। आन्तरिक अहम् अर्थात् मै एव रूप, रस, गन्ध आदि विषयो का ज्ञान, दोनो अप्रवाहपन्न ज्ञान 'विज्ञान स्कन्ध' के द्वारा वाच्य हैं।

इस प्रकार यही पाच स्कन्ध ही चैतन्य के आधार हैं। इनमे से किसी एक अथवा सभी की अनुभूति होने पर लोग आत्मा के अस्तित्व को मानने लगते है जो कि उनका भ्रम होता है। बौद्ध मतानुसार यह पचस्कन्ध एक क्षण भी स्थायी नहीं रहता है। यह प्रत्येक क्षण परिवर्तनशील है। त्रिपिटक मे कहा गया है कि सम्पूर्ण जगत् तथा आत्मा क्षणावस्थायी होने से अनित्य है।

---

[1] सचातम् अभिंसखारोति। – सयुक्त निकाय –३, ८७।

आत्मा को सघात मानते हुये सयुक्त निकाय मे स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि जब कोई व्यक्ति 'मै' शब्द का प्रयोग करता है तो इस 'मै' शब्द के द्वारा वह इन पॉचो स्कन्धो अथवा किसी एक स्कन्ध का बोध कराता है। उसके आधार पर किसी एक को आत्मा समझना मिथ्या है। जिस प्रकार कमल के फूल मे पायी जाने वाली सुगन्ध के विषय मे यह स्पष्ट रूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि सुगन्ध उसकी पखुडियो की है, पराग की है या रग की है ठीक उसी प्रकार यहॉ पर 'मै' शब्द का प्रयोग रूप, सज्ञा या वेदना किसके लिये है,स्पष्टत नहीं कहा जा सकता है अत मनुष्य इन पॉच स्कन्धो का सघात है।

वस्तुत प्रत्येक जीव दो अवस्थाओ का पुञ्ज है, जिन्हे नामरूप कहते है। रूप से तात्पर्य शरीर के भौतिक भाग से है तथा नाम से तात्पर्य मानसिक प्रवृत्तियो से है। शरीर एव मन के परस्पर सयोग से ही मनुष्य की स्थिति है। रूप स्थूल पुञ्ज एव नाम सूक्ष्म पुञ्ज है। नाम को चार भागो या अवस्थाओं– वेदना, सज्ञा, सस्कार तथा विज्ञान मे बॉटा गया है। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति केवल पच स्कन्धो का समुदाय है, इनसे भिन्न कोई नित्य एव अविनाशी आत्मा की सत्ता नही है। इस अनात्मवाद का उपदेश भगवान् बुद्ध ने राहुल एव आनन्द को दिया था।

मज्झिमनिकाय मे कहा गया है कि अग्निवेश गोत्री सच्चक साधु ने जब गौतम बुद्ध से पूछा कि आप शिष्यो को किस प्रकार की शिक्षा देते है तब भगवान् ने कहा कि मैं रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार एव विज्ञान अनित्य, दु ख और अनात्म है, इसकी शिक्षा अपने शिष्यो को देता हूँ।[1] भगवान् बुद्ध के अनुसार पृथ्वी, जल, तेज, वायु एव श्रुत तथा विज्ञान आदि को न मै और न मेरा समझना चाहिये क्योकि ये मेरे नही है और न ही मै उनका हूँ यही सिद्धान्त अनात्मवाद के नाम से जाना जाता है।

यहॉ पर यह उल्लेखनीय है कि अनेक विद्वानो का मानना है कि भगवान् बुद्ध ने अपने समय मे प्रचलित आत्मवाद का खडन किया एव ससारी को ससरण प्रवाह मे

---

[1] मज्झिमनिकाय १/४/५

निमग्न कर दिया। वही विद्वानो के एक दूसरे पक्ष का यह मानना है कि इस प्रकार का नैरात्म्यवाद परवर्ती भिक्षुओ और आचार्यो के बुद्धि की उपज है, तथागत ने केवल अनात्मभूत तत्त्वो मे आत्मा को न देखने का उपदेश दिया था, आत्मा को तिरस्कृत नही किया था। बौद्ध आचार्य नागार्जुन का कहना है विशेष अभिप्राय से ही भगवान् बुद्ध ने आत्मवाद अथवा अनात्मवाद दोनो का उपदेश किया, किन्तु उनका वास्तवित अभिप्रेत यह था कि न तो आत्मवाद तात्त्विक है और न ही अनात्मावाद। दोनो ही कोटियो से परे अनिर्वचनीय रूप से सत्य प्रतिष्ठित है। यहॉ प्राचीनतम बौद्ध सन्दर्भो एव उपनिषदो मे एक अविच्छिन्न अर्थपरम्परा को नवीन शब्दो के प्रयोग से और नवीन सिद्धान्तो से खण्डित कर दिया, किन्तु यह स्पष्ट है कि त्रिपिटक मे बाहुल्य से प्राप्त सैद्धान्तिक वातावरण को बुद्धकालीन वातावरण नही माना जा सकता। बल्कि जो अपवाद रूप विरल स्थल निर्दिष्ट किये गये है उनका ही इस प्रसग मे अधिक महत्व समझना चाहिये।

यहॉ पर इन सन्दर्भो के आधार पर श्री कुमार स्वामी एव श्रीमती राइज डेविड्स का यह मत स्वीकार्य नही प्रतीत होता कि तथागत प्रचलित अर्थ मे आत्मवादी थे। इससे इतना ही ज्ञात होता है कि आत्मा का तथागत ने सर्वथा निराकरण नही किया। यह निश्चित है कि भगवान् बुद्ध के समय मे आत्मा सम्बन्धी नाना धारणाए प्रचलित थी जिसका उपनिषदो, ब्रह्मजाल, सामन्जफल आदि बौद्ध सूत्रो से, एव प्राचीन जैन सूत्रो से ज्ञान होता है। इनका बिस्तार देहात्मवाद से लेकर ब्रह्मात्मवाद तक था। प्राय इनमे आत्मा भौतिक अथवा चैतसिक सत्ता मानी जाती थी। मज्झिम निकाय मे कहा गया है कि आत्मा वक्ता, सवेदक, पुण्यापुण्य कर्मो का भोक्ता, नित्य, शाश्वत और कूटस्थ है। अन्यत्र आत्मा के तीन प्रकार कहे गये है – औदारिक अथवा स्थूल, जो कि रूपी एव भौतिक है, मनोमय, जो कि रूपी, मनोमय, सर्वागप्रत्यगी और अहीनेन्द्रिय है तीसरा अरूप जो कि अरूपी और सज्ञामय है। अन्य स्थलो मे आत्मवादियो को किसी न किसी स्कन्ध के साथ, विशेषत विज्ञान स्कन्ध के साथ आत्मा का तादात्म्य स्थापित करते बताया गया

है। इन सभी आत्मवादियो को शाश्वतवाद एव उच्छेदवाद के अन्दर रख दिया गया है और इन सभी का तथागत द्वारा खण्डन मिलता है, किन्तु यह स्मरणीय है कि इनमे कही भी उपनिषदो मे मूर्धन्यभूत अनिर्वचनीय ब्रह्मात्मवाद का उल्लेख अथवा खण्डन नही पाया जाता है।

प्रत्युत उपनिषदो के नेति–नेति की प्रतिध्वनि 'नेत मम नेसोहमस्मि नमेसो अन्ताति', इस बौद्ध उपदेश मे पायी जाती है। समस्त दैहिक एव चैतसिक तत्त्वो मे आत्मा का प्रतिषेध त्रिपिटक मे बार–बार उपलब्ध होता है समस्त स्कन्ध, धातु और आयतन, सभी भूत एव भौतिक चित्त एव चैत्य धर्मो मे अनित्यता, दु खात्मता और परतन्त्रता व्यापक है। इन सभी मे अनित्य, दु ख और अनात्म के लक्षण देखने चाहिये। ऐसे स्थलो पर यह मान लिया गया है कि किसी वस्तु के आत्मा होने के लिये उसे नित्य, सुखात्मक, एव स्वतन्त्र होना चाहिये। ये ही आत्मा होने के वास्तविक लक्षण है, किन्तु इसके विपरीत लक्षण व्यवहारिक जगत् मे उपलब्ध होते है। अतएव उसको सर्वदा अनात्मभूत मानना चाहिये। इस प्रकार नैरात्म्य का उपदेश आत्मा का सर्वथा निषेध नही है, केवल अनात्म वस्तुओ की अनित्यता का उपदेश है। वस्तुत आत्मा की सत्ता का सामान्यत निषेध अकल्पनीय है, केवल उसके स्वरूप के विशेष निरूपण मे ही विवाद होता है।[1] बुद्ध ने उपनिषद् के शुद्ध चिदानन्दरूप निरपेक्ष तत्त्व या अपरोक्षानुभूति का कभी खण्डन नहीं किया। खण्डन करना तो दूर उन्होने उसे समस्त लोक व्यवहार के अधिष्ठान के रूप मे स्वीकार किया है। उन्होने औपनिषादिक परमतत्त्व को 'शुद्ध आत्मतत्त्व' की सज्ञा नहीं दी, बल्कि वे उस परमतत्त्व को 'नेति नेति' एव अनिर्वचनीय स्वीकार करके उसके साक्षात्कार पर बल देते है।

अब यहाँ पर एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि बौद्ध दर्शन मे अनित्य आत्मा की सत्ता स्वीकार की गयी है तो पुनर्जन्म एव निर्वाण तथा कर्मसिद्धान्त की व्याख्या किस प्रकार सभव है? पुनर्जन्म की व्याख्या करने के लिये आवश्यक है कि

---

[1] डा० गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, बौद्ध दर्शन के विकास का इतिहास पृष्ठ–१००–१०४ से उद्धृत

आत्मा को नित्य माना जाये। वही कर्मवाद का सिद्धान्त भी तभी युक्ति सगत हो सकता है, जब कोई कर्म का कर्त्ता एव भोक्ता हो, किन्तु जब बौद्ध मतानुसार आत्मा की कोई नित्य सत्ता नही है, तो फिर वह कर्त्ता एव भोक्ता कैसे हो सकती है। यदि आत्मा भी क्षणिक तथा विनाशी है और शाश्वत नही है तो इसके निर्वाण का प्रश्न ही नही है।

बौद्ध धर्म मे अनात्मवादी होते हुये भी निर्वाण पुनर्जन्म एव कर्मवाद की बडी ही सुन्दर एव युक्तियुक्त व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। बुद्ध के अनुसार पुनर्जन्म का अर्थ एक आत्मा का दूसरे मे प्रवेश करना नहीं है, बल्कि इसके विपरीत विज्ञान प्रवाह की अविच्छिन्नता है। प्रत्येक व्यक्ति या प्राणी का जीवन उसकी विभिन्न क्रमबद्ध अवस्थाओ का सन्तान मात्र है, जिसमे इस अव्यवहित प्रवाह के कारण एकत्व की प्रतीति होती है। बुद्ध ने पुनर्जन्म की व्याख्या दीपक की ज्योति के सहारे की है, जिस प्रकार दीपक की ज्योति के प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहने पर भी अव्यवहित सन्तान के फलस्वरूप एक दीप शिखा समझी जाती है तथा एक दीपक से दूसरे दीपक का जलाया जा सकता है। उसी प्रकार वर्तमान जीवन की अतिम अवस्था से आगामी जीवन की प्रथम अवस्था का विकास सभव है इस प्रकार नित्य आत्मा को न मानने पर भी बुद्ध पुनर्जन्म की व्याख्या करते है।

इसी प्रकार विज्ञान–प्रवाह–जन्य आत्यान्तिक समानता के द्वारा बौद्ध के कर्मविपाक सिद्धान्त को भी युक्तिसगत दिखलाया जा सकता है, क्योकि परवर्ती व्यक्तित्व के अन्तर्गत पूर्ववर्ती सभी विज्ञान–क्षण शक्तिरूप मे अन्तर्निहित रहते है, अतएव कर्त्ता और भोक्ता की आत्यन्तिक समानता सिद्ध होती है। बौद्धो के मत मे आत्यन्तिक समानता ही कर्मवाद को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन के अनुसार राग, द्वेष एव मोह के कारण जन्म व पुनर्जन्म का प्रवाह चलता रहता है। हम तृष्णा के कारण कर्म करते है तथा फल के लिये शरीर धारण करते है। जब राग–द्वेष का क्षय हो जाता है, तृष्णा का विनाश हो जाता है तो पुर्नजन्म का प्रवाह सदा के लिये रुक जाता है। इसी जन्म–मरण की प्रक्रिया का शान्त होना ही निर्वाण है।

मोक्ष— जिस अवस्था को अन्य भारतीय दर्शनो मे मोक्ष कहा गया है उसी अवस्था को बौद्ध—दर्शन मे 'निर्वाण' की सज्ञा से विभूषित किया गया है। निर्वाण को बौद्ध—दर्शन मे तृतीय आर्य सत्य के रूप मे स्वीकार किया गया है। यह आध्यात्मिक अनुभव की अतिम अवस्था है। इस अवस्था मे समस्त दु खो की आत्यन्तिक निवृति हो जाती है। निर्वाण को प्राप्त करने के पश्चात् मनुष्य जरा—मरण के चक्र से पूर्णतया मुक्त हो जाता है।

निर्वाण शब्द निर् उपसर्ग पूर्वक वा धातु से भाव अर्थ मे ल्युट् प्रत्यय या 'क्त' प्रत्यय करके निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ मुक्ति है। चूँकि भगवान् बुद्ध ईश्वर, आत्मा, मोक्ष आदि तत्त्वमीमासीय प्रश्नो को अव्याकृत मानते थे, इसलिये वे इन प्रश्नो के विवाद मे न उलझने का मनुष्य को सदेश देते थे उनका मानना था कि जगत् मे सर्वत्र दु ख ही दु ख व्याप्त है तथा मनुष्य को सदैव दु ख से मुक्ति प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये इसी वजह से विद्वानो से भिन्न—भिन्न प्रकार से मोक्ष को परिभाषित किया है इसी कारण विभिन्न बौद्ध सम्प्रदायो मे निर्वाण का लेकर काफी मतभेद है।

निर्वाण की बौद्ध दर्शन मे 'निषेधात्मक' एव 'भावात्मक' दोनो व्याख्याये मिलती है। निषेधात्मक मत के अनुसार निर्वाण का अर्थ बुझा हुआ लगाया गया है।

दीपनिर्वाणगन्ध च सुहृदवाक्यमरुन्धतीम्।
न जिघ्रन्ति न श्रृण्वन्ति न पश्यन्ति गतायुष ।।

उपर्युक्त श्लोक मे दीप निर्वाण का अर्थ स्पष्ट ही दीप का बुझना है इसी आधार पर विद्वानो ने निर्वाण का अर्थ 'बुझ जाना' या 'शान्त हो जाना' अथवा 'समाप्त हो जाना' किया है। जिस प्रकार तेल एव बत्ती के शेष न रहने पर दीपक का प्रकाश समाप्त हो जाता है। ठीक उसी प्रकार निर्वाण प्राप्ति के उपरान्त मनुष्य के अस्तित्व का भी अन्त हो जाता है और उसे समस्त दु खो से मुक्ति मिल जाती है। निर्वाण के इसी शाब्दिक अर्थ के आधार पर ओल्डेन वर्ग, पॉल दहलके आदि विद्वानो ने निर्वाण को अस्तित्व के अभाव की स्थिति माना है अर्थात् निर्वाण प्राप्ति के उपरान्त मनुष्य का

अस्तित्व किसी भी रूप मे शेष नही रहता वह पूर्णतया नष्ट हो जाता है। हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायी निर्वाण के विषय मे इसी मत का समर्थन करते है।

किन्तु उपर्युक्त अर्थ मे निर्वाण को मृत्यु से भिन्न नही माना जा सकता है तथा मृत्यु मानव जीवन का आदर्श कभी नहीं हो सकती है। इसी कारण डा० राधाकृष्णन्, मैक्समूलर, चाइल्डर्स, पूसिन आदि विद्वान् निर्वाण का निषेधात्मक अर्थ स्वीकार नही करते है। उनके मतानुसार निर्वाण का अर्थ सभी प्रकार के दु खो से पूर्ण मुक्ति ही नही है अपितु मुक्ति के साथ ही साथ शान्ति एव आनद की भी प्राप्ति होती है। इन विचारको का मानना है निर्वाण केवल निषेधात्मक स्थिति न होकर विध्यात्मक अवस्था भी है। भगवान् बुद्ध ने यह कभी नही कहा कि निर्वाण प्राप्त करने के उपरान्त मनुष्य का अस्तित्व समाप्त हो जाता है या निर्वाण पूर्ण विनाश की स्थिति है। इसके विपरीत उनके उपदेशो मे अनेक स्थलो पर कहा गया है कि निर्वाण दु खो से रहित पूर्ण शान्ति एव आनन्द की अवस्था है। यह वह स्थिति है जिसे प्राप्त करने के उपरान्त मनुष्य सासारिक बन्धनो एव दु खो से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार निर्वाण निर् उपसर्ग पूर्वक वान शब्द से निष्पन्न हुआ है। बौद्ध धर्म मे वन या वान शब्द का अर्थ तृष्णा किया गया है अत निर्वाण का अर्थ बौद्ध दर्शन मे तृष्णा से निवृत्त होना है इसी प्रकार तृष्णा आदि के क्षय होने के कारण 'निर्वाण' का अर्थ 'पुनर्जन्म पथ का अन्त होना' भी किया जाता है। निर्वाण प्राप्त करने के पश्चात् मनुष्य को पुनर्जन्म ग्रहण नही करना पडता है जिसके फलस्वरूप उसे समस्त दु खो एव बन्धनो से मुक्ति प्राप्त हो जाती है। धम्मपद मे स्पष्टत कहा गया है कि निर्वाण लोभ, घृणा तथा भय से रहित पूर्ण शान्ति एव आनद की अवस्था है। थेरीगाथा मे निर्वाण से बढकर किसी अन्य सुख को नही माना गया है। इसी प्रकार सयुक्त निकाय मे निर्वाण का शान्त, शिव व क्षेम कहा गया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि निर्वाण की अवस्था मे केवल दु खो का अभाव ही नही होता है, अपितु आनन्द तथा शान्ति की भी प्राप्ति होती है तथा इसी अर्थ मे भगवान् बुद्ध ने निर्वाण को प्राप्त किया था। बौद्ध दर्शन के अनुसार निर्वाण की प्राप्ति

तभी सभव है जब मनुष्य चार आर्य सत्यो का समझकर उसी प्रकार का आचरण करता है। पहले आर्य सत्य के अन्तर्गत यह बताया गया है कि ससार मे सर्वत्र दुख ही दुख है। दूसरे आर्य सत्य के अन्तर्गत प्रतीत्य समुत्पाद सिद्धान्त के द्वारा दुखो के कारण को बताया गया है। तृतीय आर्य सत्य मे बताया गया है कि दुखो का विनाश सभव है तथा चतुर्थ आर्य सत्य मे दुख निरोध के मार्ग का वर्णन किया गया है।

निर्वाण की अवस्था शून्यात्मक अवस्था नहीं है, बल्कि निर्वाण भावात्मक है। निर्वाण की अवस्था अस्तित्व के अभाव की अवस्था न होकर, परमानन्द की अवस्था है। यह सस्कार नहीं है, यह हमेशा तथा नित्य रहता है तथा इसकी अभिवृत्तियो मे परिवर्तन होता रहता है। इस अवस्था को तर्क एव विचार के माध्यम से अभिव्यक्त करना कठिन है। निर्वाण प्राप्त व्यक्ति परम शान्त हो जाता है। भगवान् बुद्ध ने निर्वाण को अमृत, अच्युत, परमसुख, अजर तथा अमर बताया है।[1] निर्वाण सभी धर्मो से परे निरपेक्ष तत्त्व है। बौद्ध भिक्षु नागार्जुन ने आठ नकारात्मक विशेषणो के द्वारा निर्वाण की व्याख्या की है।[2] नागार्जुन ने चतुष्कोटिक न्याय से निर्वाण की परीक्षा करके इसे निस्वभाव सिद्ध कहा है। यह बुद्धि के सभी चारो विकल्पो से परे अनिर्वचनीय है। इसका ज्ञान बुद्धि के द्वारा न होकर प्रज्ञा के द्वारा सभव है।

यहाँ पर एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि निर्वाण की प्राप्ति मनुष्य को जीवन काल मे ही होती है या मृत्यु-पर्यन्त ? तो इस प्रश्न के उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि– निर्वाण की प्राप्ति इस जीवन मे सभव है। व्यक्ति अपने जीवन काल मे जब राग, द्वेष, आसक्ति, मोह एव अहकार आदि पर विजय प्राप्त कर लेता है तब वह मुक्त हो जाता है। सासारिक पदार्थो मे मनुष्य की रागद्वेषमय प्रवृत्ति ही आसक्ति का कारण है।

---

[1] अ– निब्बान पदमच्चुतम् – सुत्तनिपात।
ब– निब्बान अकुतोभयम् – इतिवुत्तक–११२।
स– निब्बान परम सुखम् – धम्मपद–१८।
द– दुर्लभ शान्तमजर पर तदमृत पदम्। – बुद्धचरित १२, १०६

[2] अनिरूद्ध अनुत्पन्न अनुच्छेद अशाश्वतम्। अनेकार्थ अनीनार्थ अनैगम अनिर्गमम्।।
अप्रहीणसम्प्राप्तमनुच्छिन्नमशाश्वतम्। अनिरुद्धमनुत्पन्नमेतन्निर्वाणमुच्यते।।
–माध्यमिक कारिका, भारतीय दर्शन, डा० बी० एन० सिह पृ० २५[illegible] से उद्धृत।

परन्तु जब अविद्या का विनाश हो जाता है और यह ज्ञान मे बदल जाती है तो राग–द्वेष आदि के विनष्ट हो जाने पर कर्म के प्रति अनासक्ति तथा ससार के प्रति नश्वरता का भाव उत्पन्न हो जाता है, एव मुक्त पुरुष ससार मे रहकर भी सासारिकता मे निर्लिप्त रहता है। निर्वाण प्राप्ति के बाद भी शरीर कायम रहता है क्योकि यह पूर्व–जन्म के कर्मो का फल है। जब तक वे कर्म समाप्त नही होते, शरीर विद्यमान रहता है। बुद्ध की यह धारणा उपनिषदो की जीवन मुक्ति से मेल खाती है। बौद्ध दर्शन के कुछ अनुयायी जीवन–मुक्ति तथा विदेह–मुक्ति की भॉति 'निर्वाण' एव 'परिनिर्वाण' मे भेद करते है। परिनिर्वाण का अर्थ है मृत्यु के उपरान्त निर्वाण की प्राप्ति। अत निर्वाण का अर्थ जीवन काल का अन्त नही, अपितु यह एक ऐसी अवस्था है जो जीवन काल मे ही प्राप्य है। ज्ञान की प्राप्ति हो जाने के उपरान्त अर्हत् को अलग रहने की आवश्यकता नही महसूस होती, इसके विपरीत वह लोक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर कार्यान्वित दीख पडता है। इसी लोक कल्याण की भावना से ही प्रेरित होकर निर्वाण प्राप्ति के बाद भी बुद्ध ने घूम–घूम कर लोगो को उपदेश दिया था।

अब यहॉ पर प्रश्न यह उठता है कि यदि निर्वाण प्राप्त व्यक्ति ससार के कर्मो मे भाग लेता है तो किये गये कर्म सस्कार का निर्माण कर उस व्यक्ति को बधन की अवस्था मे क्यो नही बॉधते? इस प्रश्न के उत्तर मे कहा जा सकता है कि भगवान् बुद्ध ने दो प्रकार के कर्मो को माना है, 'आसक्त कर्म' व 'अनासक्त कर्म'। राग, द्वेष तथा मोह से सचालित होने वाले कर्म आसक्त कर्म कहलाते है। ये आसक्त कर्म ही जीव के बन्धन का कारण है। ये अनासक्त कर्म वे कर्म है, जिन्हे मनुष्य राग, द्वेष तथा मोह से रहित होकर ससार को अनित्य मानकर करता है। अनासक्त भाव से कर्म करता हुआ मनुष्य बन्धन मे नही पडता है। इस प्रकार के कर्म को करने मे अनासक्ति और ससार के प्रति नश्वरता का भाव रहता है। इस प्रकार के कर्म से पुनर्जन्म की सभावना नष्ट हो जाती है। इस प्रकार के कर्मो की तुलना बुद्ध ने भूँजे हुये बीज से की है। बीज मे उत्पादक शक्ति होती है, किन्तु यदि उसे भूँज दिया जाये ता उसको बोने से पौधे के

उत्पन्न होने की सभावना नही रहती। इसी प्रकार अनासक्त भाव से किये गये कर्मो से जन्म ग्रहण की सभावना नही रहती जबकि आसक्त कर्म की तुलना भगवान् बुद्ध ने उत्पादक बीज से की है जिसको रोपित करने से वृक्ष की उत्पत्ति होती है। इन कर्मो को करने से पुनर्जन्म होता है। इस प्रकार जो व्यक्ति निर्वाण को प्राप्त करता है वह अपने सभी कर्मो को अनासक्त भाव से ही करता है, जिसके कारण कर्म करने के बावजूद भी वह कर्म के फलो से मुक्त रहता है और बधन मे नही पडता है।

यहॉ पर प्रश्न यह है कि यदि निर्वाण प्राप्त कर लेने के बाद पुनर्जन्म बन्द हो जाता है, एव दु खो की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है तो निर्वाण के बाद व्यक्ति के अस्तित्त्व का क्या होता है? क्या वह शून्य हो जाता है? इन प्रश्नो के उत्तर मे बुद्ध मौन हो जाते थे क्योकि भगवान् बुद्ध का मुख्य उद्देश्य प्राणियो को दु ख से छुटकारा दिलाना था, न कि आध्यात्मिक प्रश्नो का समाधान करना, किन्तु यहॉ पर बुद्ध के मौन से यह अर्थ नही लगाया जाना चाहिये कि निर्वाण प्राप्ति के उपरान्त सत्त्व का अस्तित्व शून्य मे विलीन हो जाता है बल्कि उनके मौन का तात्पर्य यह था कि निर्वाण प्राप्ति के बाद की अवस्था वर्णनातीत है।

भगवान् बुद्ध ने निर्वाण प्राप्ति के बाद की स्थिति के विषय मे कुछ नही बताया है इसलिये एक शका यह उपस्थित होती है कि निर्वाण प्राप्ति के उपरान्त कोई लाभ होता है अथवा नही। यहॉ पर यह कहा जा सकता है कि यह शका उचित नही है क्योकि बौद्ध दर्शन मे निर्वाण प्राप्ति के पश्चात् दो लाभ प्रत्यक्षत दिखलाई पडते है– एक तो निर्वाण प्राप्ति के उपरान्त पुनर्जन्म की सभावना समाप्त हो जाने के कारण त्रिविध दु खो की निवृत्ति हो जाती है एव द्वितीय अर्हत् का जीवन, मृत्यु पर्यन्त पूर्ण ज्ञान एव पूर्ण शान्ति के साथ व्यतीत होता है। सासारिक सुखो की निर्वाण प्राप्ति के बाद मिलने वाली शान्ति से तुलना नही की जा सकती है। इस अवस्था का वर्णन सासारिक अनुभवो के आधार पर नही हो सकता है, इस बारे मे इतना ही कहा जा सकता है कि निर्वाण प्राप्ति के पश्चात् दु खो से पूर्ण–रूपेण मुक्ति मिल जाती है। निर्वाण की अवस्था

अस्तित्व के अभाव की अवस्था न होकर, परमानन्द की अवस्था है। यह सस्कार नही है अपितु यह हमेशा तथा नित्य रहता है तथा इसकी अभिवृत्तियो मे परिवर्तन होता रहता है यह अनिर्वचनीय है।

बौद्ध दर्शन के चारो सम्प्रदायो वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार एव माध्यमिक मे निर्वाण को मनुष्य का परम लक्ष्य माना गया है। इस अवस्था मे दु खो का निरोध होता है तथा परम शान्ति की प्राप्ति होती है, यह मानने के बावजूद उपर्युक्त सम्प्रदायो मे निर्वाण की अवधारणा भिन्न–भिन्न है।

सौतान्त्रिक निर्वाण को अभाव मानते है जबकि वैभाषिको ने निर्वाण को भावरूप माना है। सौतान्त्रिको के अनुसार यह समस्त प्रकार के दोषो का अभाव है। इनका कहना है कि निर्वाण कार्य–कारण अथवा हेतु फल परम्परा का सर्वथा विनाश है। कार्य कारण परम्परा ही ससार है और इसका पूर्ण विनाश ही निर्वाण है। निर्वाण को सौतान्त्रिको ने क्लेशाभाव भी कहा है क्योकि सभी क्लेशो के मूल मे हेतु और फल रूपी ससार ही है। जब इसका विनाश हो जाता है तभी क्लेशो की समाप्ति हो जाने के कारण निर्वाण की प्राप्ति होती है। चूँकि सौत्रान्त्रिक निर्वाण को प्रज्ञप्ति–मात्र मानते हैं इसीलिये निर्वाण को अभाव कहते है। वैभाषिको के विपरीत सौतान्त्रिको का मानना है कि यदि निर्वाण भावरूप है तो शाश्वतवाद का प्रसग उपस्थित होगा।

जबकि सौतान्त्रिको के विपरीत वैभाषिको का कहना है कि यदि निर्वाण अभाव रूप है तो उच्छेदवाद का प्रसग उपस्थित होगा। अत निर्वाण भावरूप है। इसमे सभी दु खो का पूर्णत नाश हो जाता है। सभी सस्कारो का अशेषत निरोध हो जाना ही निर्वाण है। निर्वाण सोपाधिशेष तथा निरुपाधिशेष दो प्रकार का होता है। सोपाधिशेष निर्वाण सभी दु खो एव पुनर्जन्म से निवृत्ति की अवस्था है, परन्तु इस अवस्था की प्राप्ति शरीर मे रहते हुये होती है जबकि दूसरी अवस्था शरीर के सर्वथा अभाव की अवस्था है। यह चरम चित्त मे प्रवेश है। वैभाषिको का मानना है कि निर्वाण सत् एव असत् दोनो है।

चूँकि इसकी सत्ता, सवेदन व इसमे सुख का अनुभव है इसलिये यह सत् है तथा जन्म–मरण की परम्परा का सर्वथा अभाव होने के कारण यह असत् है। यह असाधारण तथा नित्य है। प्रज्ञा से निर्वाण का साक्षात्कार सभव है।

वैभाषिको एव सौतान्त्रिको के मतो का समन्वय स्थापित करते हुये योगाचार अथवा विज्ञानवाद मे कहा गया है कि मोक्ष न तो भाव है और न ही अभाव। इन दोनो का समन्वय करके इसे भावार्थ रूप माना है। निर्वाण 'बोधि लाभ' या तथता भाव की प्राप्ति है। निर्वाण प्राप्त व्यक्ति मे ज्ञाता एव ज्ञेय का भेद नही रह जाता है। भाव एव अभाव दोनो विज्ञान सत् है एव इनका मेल बोधि की अवस्था मे होता है, जहॉ शुद्ध निर्विकल्पक ज्ञान रहता है।

शून्यवाद के अनुसार निर्वाण न भाव है, न अभाव है और न उभय है और न ही नोभय है बल्कि निर्वाण अप्रहीण, असम्प्राप्त, अनुच्छिन्न, अशाश्वत, अनिरुद्ध और अनुत्पन्न है।[1] निर्वाण को न प्राप्त किया जा सकता है और न ही छोडा जा सकता है, न ही यह उत्पन्न होता है और न ही नष्ट होता है। यदि निर्वाण भावरूप होगा तो जरा–मरण होगा यदि इसे अभाव रूप माना जाये तो उसकी स्वतन्त्र सत्ता नही होगी अभाव उत्पाद्य एव निरुध्य है अत निर्वाण अभाव नही है। पुनश्च निर्वाण को भावाभाव रूप मानना भी असगत है, क्योकि प्रकाश एव अधकार के समान ही दोनो (भाव, अभाव) एक साथ नही रह सकते है। यदि निर्वाण को नोभय या भावाभाव भिन्न माना जाये तो निर्वाण का ज्ञान नही हो सकता है। यह निरपेक्ष अद्वैत होने के कारण 'चतुष्कोटिविनिर्मुक्त' है।

हीनयानियो के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को निर्वाण प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील होना चाहिये। इनके मतानुसार चरम लक्ष्य 'अर्हत्' पद की प्राप्ति है तथा अर्हत् सिर्फ अपनी ही मुक्ति के लिये प्रयत्नशील रहते है। इसके विपरीत महायान शाखा मे मनुष्य का चरम

---

[1] अप्रहीणमसम्प्राप्तमनुच्छिन्नमशाश्वतम्।
अनिरूद्धमनुत्पन्नमेतन्निर्वाण मुच्यते।। – माध्यमिक कारिका २५/३

लक्ष्य बोधिसत्व को प्राप्त करना है। महायान शाखा के अनुयायियो ने सिर्फ अपना मोक्ष प्राप्त करना स्वार्थपूर्ण माना है। वे सभी जीवो की मुक्ति को जीवन का लक्ष्य मानते है। जब तक इस जगत् के सभी प्राणियो को मुक्ति नही मिल जाती, वे प्रयत्नशील रहते है। इसी को बोधिसत्व कहा जाता है। हीनयान मे जहॉ वैयक्तिक मुक्ति को माना गया है वही इसके विपरीत महायान का लक्ष्य सार्वभौम मुक्ति है।

निर्वाण या मोक्ष प्राप्ति के मार्ग-

अन्य भारतीय दर्शनो की भॉति बौद्ध दर्शन मे भी मोक्ष प्राप्ति के मार्ग का विवेचन किया गया है। बौद्ध दर्शन मे 'अष्टागिक मार्गो' के द्वारा निर्वाण की प्राप्ति को सभव माना गया है। यह चतुर्थ आर्य सत्य है। बुद्ध ने इसी मार्ग का अनुशरण करके निर्वाण को प्राप्त किया था एव तत्पश्चात् अन्य लोगो के निर्वाण प्राप्ति हेतु इसका उपदेश दिया था। ये अष्टाग मार्ग निम्न प्रकार है–

१ सम्यक् दृष्टि (सम्मादिट्ठि)- यह मोक्ष प्राप्ति का प्रथम सोपान है। हमारे बन्धन का मूल कारण अविद्या है। अविद्या ही दु खो का मूल कारण है। इसके फलस्वरूप मिथ्या दृष्टि का प्रादुर्भाव होता है। आत्मा–अनात्म एव ससार के सम्बन्ध मे हमारे अन्दर जो विपरीत ज्ञान उत्पन्न होता है वही हमारे बन्धन का मूल कारण है। मिथ्या दृष्टि के फलस्वरूप ही मनुष्य अनात्म को आत्म, नश्वर विश्व को अविनाशी, दु खमय अनुभूतियो का सुखमय समझने लगता है। इस दृष्टि का परित्याग करके वस्तुओ को उनके यथार्थ स्वरुप मे देखना ही सम्यक् दृष्टि है। बुद्ध के चार आर्य सत्यो का ज्ञान ही सम्यक् दृष्टि कहलाता है।

लौकिक एव लोकोत्तर के भेद से सम्यक् दृष्टि के दो प्रकार माने गये है। लौकिक सम्यक् दृष्टि को पुन दो वर्गो कर्मस्वकता लौकिक और विपश्यना लौकिक सम्यक् दृष्टि मे विभाजित किया गया है।

जब कुशल एव अकुशल कर्मो के विपाक पर विश्वास करते हुये सत्त्व ऐसा समझता है कि यह कर्म ही अपना है तो इसे कर्मस्वता लौकिक सम्यक् दृष्टि कहते है। तथा नाम–रूप धर्मो मे दु खता, अनित्यता एव अनात्मता का विचार करने वाले ज्ञान को, विपश्यना लौकिक सम्यक् दृष्टि कहते है।

लोकोत्तर मार्ग एव फल मे सम्प्रयुक्त ज्ञान अर्थात् आर्य अष्टागिक मार्ग से होने वाले ज्ञान को "लोकोत्तर सम्यक् दृष्टि" कहते है। यह चार प्रकार की– १ दु ख को जानने वाली २ समुदय सत्य का प्रहाण करने वाली ३ निरोध सत्य का साक्षात्कार करने वाली तथा ४ मार्ग सत्य की भावना करने वाली होती है।

२ **सम्यक् सकल्प** – आर्य सत्यो का जीवन मे पालन करने का निश्चय ही सम्यक् सकल्प है। जिस प्रकार अच्छी से अच्छी औषधि नाम ग्रहण करने मात्र से रोगी को ठीक नहीं कर सकती, बल्कि उसका सेवन भी आवश्यक है ठीक उसी प्रकार दु ख का अन्त उन्हे दु खरूप समझकर उनसे दूर रहने पर सभव है। सासारिक वस्तुओ को दु ख रूप समझकर उनके परित्याग करने के लिये जो दृढ सकल्प किया जाता है वही सम्यक् सकल्प है। इनके तीन भेद है–

अ- नैष्क्रम्य सम्यक् सकल्प– बाहर निकलने को नैष्क्रम्य कहते है। यह जगत् दु खो का घर, अर्थात् बन्धनागार है। इससे मुक्त होने के लिये चित्त मे जो सद्विचार होते है उन्हे ही नैष्क्रम्य सम्यक् सकल्प कहते है।

ब- अव्यापाद- प्राय व्यापाद शब्द का अर्थ हिसा किया जाता है, किन्तु यहॉ पर यह घृणा अथवा द्वेष का द्योतित करता है। हानि पहुँचाने के विचार से दूसरे सत्त्वो से घृणा करना अथवा दुराव करना ही व्यापाद है। जबकि इसके विपरीत दूसरो के प्रति अद्वेष एव करुणा आदि भावो का होना अव्यापाद है।

स- अविहिंसा सम्यक् सकल्प– दूसरो के प्रति हिसा या प्राणाघात की भावना न रखना अविहिसा सम्यक् सकल्प है।

३ <u>सम्यक् वाक् (सम्मावाचा)</u> – सम्यक् वाक् सम्यक् सकल्प की अभिव्यक्ति अथवा उसका बाह्य रूप है। केवल मानसिक सकल्प किसी काम का नहीं है उसका कार्य रूप मे परिणत होना आवश्यक है। सम्यक् वाक् का पालन तभी सभव है जब व्यक्ति सदैव सत्य एव प्रिय बोलता हो। हमे सम्यक् सकल्प द्वारा सर्वप्रथम अपने वचन पर नियत्रण अर्थात् मिथ्यावादिता, निन्दा, अप्रियवचन, वाचलता आदि से बचना चाहिये। इसके साथ ही साथ वाणी का सयम भी आवश्यक है। त्रिपिटक मे झूठ, पैशुन्य(चुगली), सम्भिन्न प्रलाप(व्यर्थ की बकवास), पारुष्यवचन(कठोरवाणी) आदि से विरति को ही सम्यक् वाक् कहा गया है।

४ <u>सम्यक् कर्मान्त</u> <u>(सम्मा कम्मान्त)</u> – वाणी के पश्चात् कर्म के द्वारा मनुष्य के सकल्प की अभिव्यक्ति होती है। इसी कारण चौथे मार्ग के रूप मे बुद्ध ने अच्छे कर्मो का उपदेश दिया है। सत्यभाषी एव मृदुभाषी होने के बावजूद कोई व्यक्ति बुरे कर्मो को करने के कारण पथ भ्रष्ट हो सकता है अत सम्यक् कर्मान्त का पालन करना आवश्यक है। हिसा, अस्तेय एव इन्द्रिय भोग का त्याग करके अपने कर्मो को करने का नाम ही सम्यक् कर्मान्त है।

५ <u>सम्यक् आजीव</u> <u>(सम्मा आजीव)</u> – सम्यक् आजीव का अर्थ है वचनो एव कर्म द्वारा बुरी प्रवृत्तियो के परित्याग के साथ–साथ शुद्ध उपाय से जीविकोपार्जन करना। निर्वाण प्राप्ति के लिये जीवन निर्वाह के अशुभ मार्ग का परित्याग आवश्यक है। बुद्ध के अनुसार विष, मदिरा, मॉस बेचकर.धोखा, रिश्वत, लूट, अत्याचार आदि अशुभ उपायो से जीविकोपार्जन करना पाप है। मनुष्य को जीवन–निर्वाह के लिये अनुचित मार्गो का प्रयोग नही करना चाहिये। अर्थात् सम्यक् अजीव का तात्पर्य यह है कि सम्यक् सकल्प एव सम्यक् कर्मान्त के साथ–साथ केवल उचित मार्गो द्वारा ही ऐसे कर्मो को करना चाहिये जिससे उसके सकल्प शिथिल होकर कलकित न हो।

६ <u>सम्यक् व्यायाम</u> <u>([illegible])</u> – सम्यक् दृष्टि, सम्यक् सकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् अजीव इन पॉचो मार्गो पर चलकर भी साधक निर्वाण को

अपनाने मे असफल हो सकता है, क्योकि यहॉ पर यह शका बनी रहती है कि हम पुराने सस्कारो एव नवीन बुरे विचारो, जो निरन्तर मन मे प्रवाहित होते रहते है, के कारण मार्ग से च्युत न हो जाये। अत सम्यक् व्यायाम का आश्रय लेना चाहिये। सम्यक् व्यायाम का शब्दार्थ है– 'अच्छा या दृढ प्रयत्न'। अकुशल धर्मो का त्याग एव कुशल धर्मो का उपार्जन करना ही सम्यक् व्यायाम है। यह चार प्रकार का है– १ अनुत्पन्न (जो अभी पैदा नही हुये है) उन कुशल (अच्छे) कर्मो को उत्पन्न करना २ अनुत्पन्न उन अकुशल (बुरे) कर्मो को उत्पन्न न करना ३ उत्पन्न अकुशल कर्मो का प्रहाण करना एव ४ उत्पन्न कुशल या अच्छे कर्मो का सरक्षण करना।

७ <u>सम्यक् स्मृति (सम्मासति)</u> – सम्यक् स्मृति का अर्थ है यथार्थ स्मरण। उर्पयुक्त बताये गये मार्ग का पालन करने मे मनुष्य तभी सफल हो सकता है जब वह ससार तथा उसकी वस्तुओ यहॉ तक कि शरीर, मन एव वेदना के अनित्य, क्षणिक एव मिथ्या होने की बात को सदा याद रखे। सम्यक् स्मृति का पालन करना अत्यन्त कठिन है। मनुष्य को जिन विषयो का ज्ञान प्राप्त हो चुका है, उन्हे सदा स्मरण करते रहना चाहिये। निर्वाण प्राप्त करने वाले व्यक्ति को– शरीर को शरीर, वेदना को वेदना, चित्त को चित्त एव मानसिक अवस्था का उसी रूप मे चिन्तन करना चाहिये। इनमे से किसी के सम्बन्ध मे 'यह मै हूँ', 'यह मेरा है' यह समझना भ्रमात्मक है। यह एक अत्यन्त कठिन काम है, क्योकि शरीर के सम्बन्ध मे बचपन से हमारे मन मे अनेक मिथ्या विचार बद्धमूल हो जाते है और उनका परित्याग करना काफी कठिन है। प्राय हम लोग शरीर, चित्त एव वेदनादि को नित्य एव सुखमूलक ही समझते है और इसी कारण जरा–मरण के बधन मे पडकर बार–बार दुख एव पुनर्जन्म को भोगते है। यदि हम इन्हे इनके यथार्थ रूप क्षणिक एव दुखात्मक जानकर तदनुरुप आचरण करे तो हमारी इन विषयो मे आसक्ति न होने के कारण दुख नही होगा। भगवान् बुद्ध ने कहा है कि शमशान मे जाकर के शरीर की नश्वरता को देखा जा सकता है। शमशान मे इसकी दुर्गति प्रत्यक्षत दिखलाई पडती है वहॉ यह सडकर कुत्तो एव गिद्धो का आहार बनता है इसे

देखकर कौन इसे सुखमूलक कहेगा। यह शरीर अग्नि, जल, पृथ्वी, वायु से बना पिण्ड मात्र है जिसमे मॉस, रुधिर, अस्थि, वात, पित्त, कफ, विष्ठा आदि भरा है। इन बातो का सतत् स्मरण ही सम्यक् स्मृति है। इन सभी बातो का यथार्थ रूप मे निरन्तर स्मरण करते रहने के कारण मनुष्य के मन मे इनके प्रति विरक्ति उत्पन्न हो जाती है जिससे वह बन्धन मे नही पडता है। सम्यक् स्मृति का पालन साधक को समाधि के योग्य बना देता है, इसीलिये इसे सम्यक् समाधि के लिये आवश्यक माना गया है।

८ <u>सम्यक् समाधि (सम्मा समाधि)</u> – उपरोक्त सातो सोपानो को पार कर जब व्यक्ति अपनी चितवृत्तियो को शुद्ध कर लेता है तब वह सम्यक् समाधि मे प्रवेश पाने के योग्य हो जाता है। एकाग्रचित्त होकर साधक धीरे–धीरे निर्वाण की अवस्था को प्राप्त होता है। इस समाधि की भी चार अवस्थाये होती है। समाधिस्थ भिक्षु क्रोध, आलस्य, पछतावा, सन्देह, उद्धतपन आदि से रहित होकर सत्वो पर महाकरुणापूर्ण चित्त से विचरण करते हुये उपेक्षावान् रहकर पचस्कन्धो को दु खद, अनित्य एव अनात्मरूप समझते हुये तृष्णा का प्रहाण एव सस्कारो का शमन करके निर्वाण लाभ करता है।

समाधि की चार अवस्थाये निम्न है–

प्रथमावस्था मे साधक अनेक प्रकार के सशयो का स्वय निराकरण करता है। वितर्क, विचार, प्रीति, सुख व एकाग्रता नामक पॉच ध्यानागो सहित प्रथम ध्यान होता है। इस अवस्था मे सिद्धि प्राप्त करने से साधक अपूर्ण आनन्द तथा शान्ति का अनुभव करता है।

द्वितीय अवस्था मे साधक के अन्दर सभी सशयो से मुक्त होकर आर्य–सत्यो के प्रति श्रद्धा की भावना का विकास होता है। अध्यात्म सम्प्रसाद, प्रीति, सुख एव एकाग्रता नाम चार ध्यानागो सहित द्वितीय ध्यान होता है। इस अवस्था मे प्रगाढ चिन्तन के कारण उसका चित्त अतलस्पर्शी सागर के समान अक्षोभ्य हो जाता है। चित्त मे स्थिरता के आ जाने से इस अवस्था मे आनन्द तथा शान्ति के साथ–साथ ज्ञान भी रहता है।

तृतीयावस्था मे साधक के अन्दर आनन्द एव शान्ति के प्रति उदासीनता का भाव आता है। उपेक्षा, स्मृति, सम्प्रज्ञान, सुख और समाधि से युक्त पॉच ध्यानागो सहित तृतीय ध्यान होता है। इस अवस्था मे आनन्द एव शान्ति की चेतना का अभाव हो जाता है, किन्तु उसके साथ ही दैहिक सुख का भाव भी बना रहता है।

चतुर्थावस्था मे साधक को किसी भी प्रकार की अनुभूति क्षुब्ध नही कर पाती है। चित्त की सभी वृत्तियॉ पूर्णत निरुद्ध हो जाती है। अदु खासुखावेदना, उपेक्षापारिशुद्धि, स्मृतिपारिशुद्धि और समाधि इन चार ध्यानागो सहित चतुर्थ ध्यान होता है। इस अवस्था मे चित्त की साम्यावस्था, दैहिकसुख एव ध्यान के आनन्द का भान समाप्त हो जाता है। यहॉ पर साधक को पूर्णशान्ति, पूर्णविराग एव पूर्ण–निरोध की प्राप्ति होती है। सभी प्रकार के दु खो से मुक्त होकर वह 'अर्हत्' हो जाता है। वह सभी प्रकार के भयो से रहित होकर सचरण करता हुआ (अकुतोभय सचारी) सबसे निरासक्त होकर मुक्ति या निर्वाण को प्राप्त करता है। यह पूर्ण प्रज्ञा की अवस्था भी है। निर्वाण प्राप्त करने के पश्चात् साधक पूर्णशील, समाधि एव प्रज्ञा तीनो की प्राप्ति मे सफल होता है। जिन्हे बौद्ध दर्शन मे 'त्रिरत्न' कहकर पारिभाषित किया गया है।

शील, समाधि एवं प्रज्ञा– बुद्ध के चारो आर्य–सत्यो तथा आर्य अष्टागिक मार्ग का अनुशीलन करने पर हम देखते है कि भगवान् बुद्ध का मार्ग उपनिषत्प्रतिपादित मार्ग से पूर्णतया भिन्न नही है। हम प्रज्ञा मे "ऋते ज्ञानान्नमुक्ति" की झलक पाते है। शुद्ध ज्ञान तब तक उत्पन्न नही हो सकता है, जब तक शरीर उसे धारण करने मे सामर्थ्य न हो। ज्ञान की उत्पत्ति होने के लिये शरीर–शुद्धि की नितान्त आवश्यकता है। चूॅकि बुद्ध "शील" द्वारा शरीर के शोधन पर बल देते है इसलिये बुद्ध उपनिषदो द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त को स्वीकार करते है। शील, समाधि एव प्रज्ञा को बौद्ध दर्शन की आधारशिला माना गया है, क्योकि इनके अभ्यास से तृष्णा का क्षय होता है। बाह्य एव आभ्यन्तर

दोनो तरफ से हमे तृष्णा के पाश ने जकड रखा है और इससे छुटकारा पाने के लिये ही भगवान् बुद्ध ने शील, समाधि एव प्रज्ञा इन तीनो अचारो को माना है।

शील– शील का तात्पर्य समस्त सात्विक कर्मो से है। सभी पापो से विरत रहना, बुरे कर्मो की प्रवृत्तियो का नाश करना, सभी बुरे कर्मो को न करना तथा सभी प्रकार की तृष्णाओ का निरोध करना ही 'शील' कहलाता है। तृष्णा एव समस्त क्लेशो का निरोध हो जाने के पश्चात् शील के आचरण से भिक्षु मोक्ष को प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करता है। वह राग–द्वेष एव मोह को दूर करने वाली प्रथम सीढी (स्रोत आपन्न), इस लोक मे पुन जन्म लेकर निर्वाण लाभ करना (सकृदागामी) की साधना द्वारा आगे बढता हुआ यहाँ न आकर वही से(स्वर्गादि से) ही निर्वाण लाभ(अनागामी) द्वारा अन्तिम एव चतुर्थ 'अर्हत्व' को प्राप्त करता है।

साधारण रूप से सभी प्रकार के सात्विक कर्मो को शील के अन्तर्गत रखा जाता है। साधारण गृहस्थो एव भिक्षुओ दोनो के लिये कुछ साधारण शीलो का प्रवाधान किया गया है, जिनका पालन करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य माना गया है। सत्य, अस्तेय, अहिसा, नशे का परित्याग एव ब्रह्मचर्य इन पचशीलो को बौद्ध दर्शन मे माना गया है किन्तु भिक्षुओ के लिये अतिरिक्त पचशीलो को स्वीकार किया गया है ये है– अपराह्न भोजन, माला धारण, सगीत, स्वर्ण–रजत तथा महार्घ शैया का त्याग। भिक्षुओ को इस प्रकार दश शीलो का पालन करना आवश्यक है। दीर्घनिकाय के ३१वे सुत्त 'सिगालोवादसुत्त' मे गृहस्थो के लिये आचार का विस्तृत विवरण मिलता है। त्रिपिटक मे दो यानो–समययान एव विपस्सनायान का विधान है। निर्वाण के लिये समाधिरूपी साधन के द्वारा स्वतन्त्र रूप से अभ्यासी साधक को 'समययानी' कहते है समाधि के अभ्यास का अन्तिम फल चित्त की वृत्तियो का प्रत्यक्ष अनुभव है। इसे प्राप्त करने वाला व्यक्ति 'कामसक्खी' कहलाता है।

इस प्रकार शील का तात्पर्य कर्मो से दूर रहना होने के कारण सर्वप्रथम शील को धारण करना जरूरी है। शील से क्लेश एव दुष्कर्म दूर होते है। शील को धारण करने से साधक साधुता की ओर प्रथम दो स्थितियो– स्रोतापन्नभाव एव सकृदागामिभाव की ओर अग्रसर होता है। जिनका ऊपर स्रोतआपन्न एव सकृदागामी के रूप मे निरूपण किया गया है। अनागामी की अवस्था शील के पश्चात् आती है।

समाधि – सम्यक् समाधि के अर्न्तगत हम समाधि की चार अवस्थाओ का वर्णन कर चुके है, किन्तु एक अन्य दृष्टि से समाधि के दो भेद होते है।

जो व्यक्ति शील का अभ्यास करता है, उसको अपने मन को नियन्त्रित करना चाहिये। मन की चचलता पर नियत्रण पाने के बाद समाधि एव ध्यान का आश्रय लेना चाहिये। समाधि के दो क्रमिक सोपान उपचारसमाधि एव अप्पनासमाधि है।

मन सयम हेतु की जाने वाली प्रारम्भिक साधना क्रियाओ को उपचार समाधि कहा जाता है। इस समाधि मे सम्पूर्ण एकाग्रता प्राप्त कर लेने के बाद अप्पना समाधि की अवस्था आती है। अप्पना समाधि के तीन चरण माने गये है।

प्रथम चरण मे साधक को अहारादि सयम के द्वारा मन पर सयम करना होता है। दूषित आहार से शरीर मे दूषित विकृतियो का आगमन होता है। अत साधक को खान–पीने के प्रति आसक्ति का परित्याग करते हुये केवल उतना ही अल्पाहार करना चाहिये, जितना कि शरीर धारण हेतु आवश्यक है इस प्रकार वह शारीरिक क्लेशो एव तत्पश्चात् सासारिक क्लेशो से छूट जाता है।

द्वितीय चरण मे साधक शरीर क्षिति, जल, तेजस एव वायु इन चार तत्त्वो से बना है इस पर ध्यान लगाता है। बौद्ध दर्शन मे इसे 'चतुधातुववत्थानभावना' कहा जाता है।

तृतीय चरण मे साधक अपने मन को बौद्ध दर्शन के महान् तत्त्वो भगवान बुद्ध की महानता, बौद्धसघ, शील के महत्व, दान(चागानुस्सति), प्रकृति एव प्रलय (उपसमानुस्सति), मृत्यु के स्वरूप (मरणानुस्सति) पर बारम्बार विचार करने मे लगाता है। इसे 'अजुस्सति ' कहते है।[1]

समाधि के साथ–साथ ध्यान का भी विस्तृत विवरण बौद्ध दर्शन मे मिलता है। ध्यान की चार अवस्थाए होती है– प्रथम ध्यान(पथम्मझामम) मे दो क्रियाये सम्मिलित होती है– ध्यान की प्रथम क्रिया मे सर्वप्रथम भौतिक वस्तु पर चित्त एकाग्र करने के उपरान्त उसके सम्पूर्ण रूप, नाम, उपादेयता आदि के बारे मे चिन्तन किया जाता है। इस प्रकार चिन्तन की एकाग्रता को 'वितक्क' कहते है।

ध्यान की दूसरी क्रिया मे चित्त उस भौतिक वस्तु के गुण का ध्यान नहीं करता बल्कि सीधे उस पर स्थिर होकर वस्तु के अन्तस्तल मे प्रवेश करता है। इस अवस्था को विचार (स्थिरगति) कहते है। ये दोनो क्रियाये पोति (चित्त की प्रफुल्लता) एव सुख (चित्त मे विशेष आन्तरिक आनन्द) से सम्बन्धित है। प्रथम ध्यान के उदय होने से वासनाओ(कामछेदो), द्वेष(व्यापादो), आलस्य व प्रमाद (थीनमिद्रम्) तथा अशाति व अविनाश (उधच्चकुक्कुचम) एव सशय (विचिकिच्चा) के साथ–साथ अविद्या (अविज्जा) का भी नाश हो जाता है।

द्वितीय ध्यान(द्वितीयम् झानम्) – ध्यान की द्वितीय अवस्था मे मन की चचलता के नष्ट होने से स्थिरता की प्राप्ति होती है जिसको 'एकोदिभावम' के नाम से जाना जाता है। इस अवस्था मे चित्त एकाग्र,स्थिर, शान्त व निर्विषय हो जाता है तथा प्रीति, सुख, एकाग्रता व साधना एक साथ सयुक्त होती है।

तृतीय ध्यान (तितोयम् झानम्) – ध्यान की तृतीय अवस्था मे साधक वस्तुओ को देखकर प्रसन्न अथवा अप्रसन्न नहीं होता है, परन्तु उसके हृदय मे आतरिक आनन्द का

[1] विसुद्धि मग्ग– पृष्ठ १९७–२९४

प्रवाह होता रहता है जिसे 'सुख' कहा जाता है। यहॉ पर साधक को सावधान रहने की आवश्यकता होती है क्योकि ठीक प्रकार से चित्त वृत्तियो पर नियत्रण न रख पाने पर वह सुखभोग से नीचे प्रीतिभोग की अवस्था मे पहुॅच सकता है। इसके दो विशेष गुण सुख एव एकाग्रता है। ध्यान की इस अवस्था मे उच्चतम सुख की भावना विद्यमान रहती है।[1] इस अवस्था मे चित्त को एकाग्र करने के लिये पृथ्वी (मृत्तिका पिण्ड) का प्रयोग करते है।

चतुर्थ ध्यान(चतुथ्यम् झानम्) – ध्यान की इस अवस्था मे सुख एव दु:ख, राग एव द्वेष सभी के समूल नष्ट हो जाने के कारण साधक सभी तत्त्वो के प्रति उदासीन हो जाता है। इस अवस्था मे चित्त की समस्त वृत्तियॉ निवृत्त हो जाती है। जिसे बौद्ध दार्शनिक 'चेतोविमुत्ति' कहते है और साधक को 'अर्हत्' पद की प्राप्ति होती है, जिसके पश्चात् उसे पुनर्जन्म से छुटकारा मिल जाता है और उसके दु:खो की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है।

प्रज्ञा- शील एव समाधि से प्रज्ञा लाभ होने के कारण अविद्या नष्ट हो जाती है। अभिधर्म कोश[2] मे प्रज्ञा के तीन प्रकार –१ श्रुतमयी (आप्तप्रमाणजन्य निश्चय) २ चितामयी (युक्ति से उत्पन्न निश्चय) ३ भावनामयी (समाधिजन्य निश्चय) बताये गये है। इनमे से तृतीय प्रकार की प्रज्ञा सर्वश्रेष्ठ मानी गयी है क्योकि वह समाधिजन्य है। प्रज्ञा प्राप्त कर लेने से साधक को अनेक प्रकार की ऋद्धियॉ प्राप्त होती है। राजा अजातशत्रु से श्रामण्य फलो की चर्चा करते हुये भगवान् बुद्ध ने प्रज्ञा से प्राप्त फलो का विवेचन करते हुये बताया है कि प्रज्ञा से ज्ञानदर्शन, ऋद्धियॉ, द्विव्यश्रोत, परचित्तज्ञान, पूर्वजन्मस्मरण, दिव्यचक्षु की उपलब्धि होने के पश्चात् दु:खक्षय का ज्ञान हो जाता है। चित्त समस्त प्रकार के अज्ञानरूपी मलो यथा–कर्मविषयभोगेच्छा, जन्मग्रहण करने की इच्छा आदि से हमेशा के लिये मुक्त हो जाता है एव उसे निर्वाण की प्राप्ति होती है।[3]

---

[1] अतिमधुर सुखे सुखपारमिप्पत्तेपितान्तिझाने उपेखको। – विसुद्धिमग्ग पृष्ठ १६३

[2] अभिधर्मकोश –६/५

[3] दीघनिकाय – सामञ्जफलसुत्त पृष्ठ ३०–३२

इस प्रकार नित्य आत्मा को न मानते हुये भी बौद्ध दर्शन मे पुनर्जन्म, निर्वाण आदि को स्वीकार किया गया है। साधक भिक्षु अष्टागिक मार्गो का पालन करके निर्वाण लाभ करता है जिससे उसके दु खो की आत्यन्तिक निवृत्ति होने के साथ ही साथ पुनर्जन्म से भी छुटकारा मिल जाता है। भगवान् बुद्ध की समस्त शिक्षाओ का सार चार आर्य सत्यो, अष्टागिक मार्ग के साथ–साथ शील, समाधि एव प्रज्ञा द्वारा भी अभिव्यक्त होता है। अब हम अगले अध्याय मे साख्य एव योग दर्शन के मोक्ष सम्बन्धी विचारो पर प्रकाश डालेगे। योग–दर्शन का मोक्ष सम्बन्धी वर्णन तो अद्वितीय है प्राय सभी भारतीय दर्शनो मे (चार्वाक को छोडकर) योग की उपादेयता को स्वीकार किया गया है।

तृतीय अध्याय

सांख्य एवं योग दर्शन

प्रस्तुत अध्याय मे हम साख्य एव योग दर्शन के आत्म–तत्त्व का एक साथ विवेचन करेंगे। वस्तुत साख्य और योग दर्शन एक ही सिद्धान्त के दो पहलू हैं। साख्य दर्शन, जहॉ दर्शन के सैद्धान्तिक पक्ष को उजागर करता है, वही योग दर्शन उसके व्यावहारिक पक्ष की पूर्ति करता है। साख्यदर्शन मे तत्त्वमीमासीय समस्याओ पर विचार किया गया है वही योग दर्शन मे मानव जीवन के चरमलक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के लिये विभिन्न साधनो का वर्णन किया गया है, किन्तु यह विभाजन अक्षरक्ष सत्य नही है। योग मत यद्यपि व्यवहार को प्रधानता देता है किन्तु वह कोरा व्यावहारिक शास्त्र नही है, उसमे सिद्धान्तो का भी स्थान–स्थान पर विवेचन है। यद्यपि कही–कही पर योग के सिद्धान्त साख्य से पूर्णतया मेल नही खाते है, किन्तु फिर भी यह मत वैभिन्य इतना अधिक नही है कि इन दोनो दर्शनो मे पारस्परिक आत्मीयता का सम्बन्ध हटाया जा सके।

वस्तुत साख्य एव योग दर्शन मे प्रकृति, पुरुष, सृष्टि, प्रलय, महत् अहकार आदि सभी तत्त्व लगभग एक से है, किन्तु योग दर्शन मे समाधि मे सिद्धि की प्राप्ति के लिये छब्बीसवे तत्त्व के रूप मे ईश्वर की सत्ता स्वीकार कर ली गयी है।[1] जो साख्य से भिन्न है, इसलिये योग दर्शन सेश्वरवादी साख्य भी कहलाता है। गीता मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जो साख्य और योग को एक समान देखता है वही वस्तुओ को यावत्रूप मे देखता है।[2]

इस प्रकार साख्य और योग की समता को अक्षुण्ण रखते हुये इनके आत्मतत्त्व का विश्लेषण हम एक ही अध्याय मे करेगे।

---

[1] समाधि सिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्। — योग सूत्र– २/४५

[2] अ– एक साख्य च योग च य पश्यति स पश्यति। – गीता ५/५

ब– साख्ययोगौ पृथग्बाला प्रवदन्ति न पण्डित। – गीता ५/४

सांख्य – द्वैतवादी साख्य दर्शन का प्रणेता महर्षि कपिल को माना जाता है। महर्षि कपिल के विषय मे काफी विवाद है। कुछ पाश्चात्य विद्वान जैसे–मैक्समूलर एव कोलब्रुक आदि उनके अस्तित्व को स्वीकार नही करते किन्तु यहॉ पर उल्लेखनीय है कि पाश्चात्य जगत् के लोग भारत की प्रत्येक अच्छी चीज को पूर्वाग्रह से ग्रसित होकर ही विवेचित करते है। महर्षि कपिल 'प्रजापति कर्दम' और मनुपुत्री 'देवहुति' के पुत्र थे। कपिल को विष्णु का अवतार भी माना जाता है।[1] इन्होने अपनी माता को तत्त्व ज्ञान कौ उपदेश देकर साख्यदर्शन का प्रारम्भ किया था। श्रुतियो मे कपिल के जन्मते ही ज्ञान पाने की बात स्पष्टत कही गयी है।[2] साख्य दर्शन सबसे प्राचीन दर्शन है क्योकि उपनिषद् पुराण, महाभारत, गीता एव स्मृतियो आदि मे साख्य के सिद्धान्तो को समाहित किया गया है।

कपिल ने साख्य का कोई ग्रथ लिखा अथवा केवल छिटपुट उपदेश दिया था यह आज तक विवादग्रस्त है किन्तु श्री उदयवीर शास्त्री जी ने यह सिद्ध किया है कि कपिल साख्य दर्शन के प्रणेता एव वास्तविक व्यक्ति थे। वर्तमान 'साख्य सूत्र' उन्ही की रचना है जो पहले 'षष्टि तन्त्र' के नाम से प्रसिद्ध थी। कपिल को हिरण्यगर्भ, स्वयभू विष्णु, अग्नि आदि नामो से सम्बोधित किया गया है। यहॉ पर यह उल्लेखनीय है कि डा० दास गुप्ता[3] का मानना है कि कपिल का साख्य सेश्वरवादी रहा होगा, किन्तु सभवत आसुरि ने लोकरुचि को देखते हुये उसे बदलने का प्रयत्न किया, पर आसुरि की एक कारिका को छोडकर कुछ भी उपलब्ध नही होता इसलिये पचशिख ने 'कपिल' के सेश्वरवादी साख्य को अनीश्वरवाद का रूप रग दिया होगा।

साख्य साहित्य मे महर्षि कपिल की कोई रचना उपलब्ध नही है। वर्तमान समय के उपलब्ध ग्रथो मे साख्यदर्शन की जानकारी का मुख्य स्रोत ईश्वरकृष्ण की

---

[1] भागवत– ३/२५/१

[2] ऋषि प्रसूत कपिल यस्तमग्रे ज्ञानैविमर्ति जायमान च पश्येत्। – श्वेताश्वतर उपनिषद ५/२

[3] History of Indian Philosophy part -1 Page -221

साख्यकारिका ही सबसे प्राचीन है। इसके अतिरिक्त साख्य प्रवचन भाष्य, साख्य तत्त्व कौमुदी एव साख्यतत्त्व विवेचन आदि ग्रथो से भी साख्यदर्शन की जानकारी प्राप्त होती है।

योग दर्शन -

योग दर्शन पातञ्जल दर्शन के नाम से भी जाना जाता है, क्योकि महर्षि पतञ्जलि ने अपने कौशल से विविध स्रोतो से प्राप्त योग सामग्री को एकत्र करके योग दर्शन का प्रतिपादन किया था। डा० दास गुप्ता ने पतञ्जलि को योग दर्शन का प्रवर्तक न मानकर सकलनकर्त्ता माना है। विज्ञानभिक्षु एव वाचस्पति मिश्र ने भी इन विचारो का समर्थन किया है। योग दर्शन का आदि ग्रथ पतञ्जलि विरचित 'योगसूत्र' है। योग सूत्र चार वर्गो समाधिपाद, साधनापाद, विभूतिपाद एव कैवल्यवाद मे विभक्त है। व्यास ने इस पर व्यासभाष्य लिखा है जिस पर वाचस्पति मिश्र ने तत्त्व वैशारदी एव विज्ञान भिक्षु ने योग वार्तिक टीका लिखी है।

योग की महत्ता सभी भारतीय दर्शनो वेद, पुराण, उपनिषदो यहॉ तक कि जैन एव बौद्ध मे भी स्वीकार की गयी है। साख्य के सौद्धान्तिक पक्ष को स्वीकार करने के साथ–साथ व्यावहारिक होना योग दर्शन की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। साख्य के २५ तत्त्वो के अतिरिक्त व्यावहारिक पक्ष की पूर्ति के लिये योग दर्शन मे ईश्वर की सत्ता स्वीकार की गयी है।

द्वैतवादी साख्यदर्शन के प्रणेता महर्षि कपिल उपनिषदो द्वारा प्रमाणित आत्मा व ब्रह्म के ऐक्य का विरोध करते है। पुरुष एव प्रकृति को ससार का मूल कारण मानते हुये वे 'आत्मबहुत्वाद' को अगीकार करते है।

साख्य मत प्रकृति एव पुरुष की भिन्नता को स्वीकार करके दोनो के सम्बन्ध से जगत् का अविर्भाव स्वीकार करता है। साख्यदर्शन मे प्रकृति को जड एव एक तथा पुरुष को चेतन और अनेक माना गया है। साख्यकारिका के मगलाचरण मे ईश्वरकृष्ण ने प्रकृति व पुरुष की स्तुति करते हुये उनकी विशेषताओ को स्पष्ट करते हुये कहा है कि

जो एकाकी, त्रिगुणात्मिका, अनेकविध, व्यक्त रूप से प्रकट होने वाले महत् आदि विकारो को उत्पन्न करने वाली मूल प्रकृति है, उसको हम नमस्कार करते है। इसके साथ ही उन्होने बद्ध एव मुक्त दोनो प्रकार के पुरुषो को भी नमस्कार किया है अर्थात् जो पुरुष प्रकृति से स्वय को पृथक् न समझकर प्रकृति के धर्मो को अपना समझ बैठते है तथा जो प्रकृति को अनात्मवस्तु समझकर उसका त्याग कर देते है उन बद्ध एव मुक्त 'विवेकी' पुरुषो को भी हम नमस्कार करते है।[1]

साख्यदर्शन के आत्मत्त्व या पुरुष एव मोक्ष सिद्धान्त का वर्णन करने से पहले प्रकृति की व्याख्या करना आवश्यक है, क्योकि बिना प्रकृति के स्वरूप का निरूपण किये मोक्ष व आत्मतत्त्व कों वर्णन करना कठिन है। प्रकृति शब्द की व्युत्पत्ति 'प्र' और 'कृति' से मिलकर हुयी है 'प्र' का अर्थ है 'प्रकर्ष' और 'कृति' का अर्थ है 'दूसरे तत्त्व का आरम्भ करना' इस प्रकार 'प्रकर्षेण करोति इति प्रकृति' अर्थात् प्रकृष्ट रूप से जो सृष्टि का निर्माण करने वाली या जिस कारण से दूसरे तत्त्व की उत्पत्ति होती है, उसे प्रकृति कहते है। सारा जड जगत् इसी प्रकृति का व्यक्त रूप होने के कारण सार रूप मे प्रकृति के अतिरिक्त कुछ नही है। प्रकृति से ही सभी धर्मो की अभिव्यक्ति होती है और इसी मे सबका विलयन होता है। यह सभी धर्मो की अव्यक्त सत्ता होने के कारण अपने स्वरूप मे 'अव्यक्त' है। यह अन्तिम धर्मी है। दिक् और काल को भी प्रकृति का रूप माना गया है। वह दिक् और काल को जन्म देती है, इसलिये उनका स्वतन्त्र सत्ता के रूप मे उससे पृथक् अस्तित्व नही है।[2]

प्रकृति विश्व का मूल कारण है, किन्तु वह स्वय कारणहीन है, यदि प्रकृति का भी कोई कारण माना जाये तो उस कारण का भी कारण मानना पडेगा और इस प्रकार अनवस्था दोष प्रसक्त होगा। यह प्रधान विश्व का प्रथम कारण है। कारण होने के नाते

---

[1] अजामेका लोहितशुक्लकृष्णा, बह्वी प्रजा सृजमाना नमाम।
अजा ये ता जुषमाणा भजन्ते, जहत्येना भुक्तमोगा नुमस्तान्।।– साख्य कारिका, मगलाचरण–१

[2] साख्यकारिका – ३३, साख्य प्रवचन भाष्य २/१२

विश्व के सभी पदार्थ प्रकृति मे अव्यक्त रुप से मौजूद रहते है, इसलिये इसे 'अव्यक्त' कहा जाता है। प्रकृति का ज्ञान प्रत्यक्ष से सभव नही है, इसका ज्ञान केवल अनुमान के माध्यम से ही सभव है। प्रकृति जड है, क्योकि यह मूलत भौतिक पदार्थ है। सर्व-उत्पादक होने के कारण यह प्रकृति कहलाती है। प्रकृति नित्य परिणमनशील है, इसलिये जगत् के समस्त पदार्थो मे प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। प्रकृति अनेक पुरुष भोग्या है चूँकि यह नाना पुरुषो के आश्रित है, अतएव प्रकृति का ही बन्ध एव मोक्ष होता है। पुरुष मात्र साक्षी अथवा दृष्टा है। प्रकृति सुख दु ख मोहात्मक अर्थात् त्रिगुणात्मिका है, किन्तु अचेतन होने के कारण सुख, दु ख एव मोह का अनुभव नही कर सकती। यह प्रसव धर्मिणी है, क्योकि अव्यक्त से बुद्धि(महत् तत्त्व) की उत्पत्ति होती है। जड जगत् प्रकृति के गर्भ से कार्य रूप मे अभिव्यक्त होता है तथा प्रलय के समय वह पुन प्रकृति के गर्भ मे विलीन हो जाता है।

साख्य दर्शन मे प्रकृति, उसके २३ विकार तथा एक पुरुष को मिलाकर कुल पच्चीस तत्त्वो को माना गया है। प्रकृति के तेइस विकारो को व्यक्त कहते है। प्रकृति कारण होती है और विकृति उसका कार्य है। मूल प्रकृति किसी की विकृति अथवा विकार नही है। महत्तत्त्व, अहकार और पन्चतन्मात्राए ये प्रकृति एव विकृति दोनो है।[1] पॉच महाभूत, दस इन्द्रियॉ और मन ये १६ तत्त्व केवल विकृति है। ये नये तत्त्वो को उत्पन्न न करने के कारण प्रकृति नहीं कहलाते हैं। महत्तत्त्व अहकार की प्रकृति और मूल प्रकृति की विकृति है एव अहकार भी महत्तत्त्व की विकृति और तमोगुण के अधिक प्रकट होने से शब्दस्पर्शादि पन्चतन्मात्राओ की प्रकृति भी होता है और, यही अहकार तत्त्व सत्त्व गुण के अधिक होने से श्रोत, त्वक्, अक्षि, रसना एव प्राण इन पॉच ज्ञानेन्द्रियो और वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ इन पॉच कर्मेन्द्रियो और मन की प्रकृति होता है। पुरुष प्रकृति और विकृति कुछ भी नही है, वह असङ्ग, निर्गुण और निर्लेप है।[2]

---

[1] महदाद्या प्रकृतिविकृतय सप्त।। – साख्य कारिका ३

[2] षोऽशकस्तु विकारो' न प्रकृतिर्न' 'विकृति' पुरुष। – साख्यकारिका ३

साख्य दर्शन मे व्यक्त एव अव्यक्त मे अन्तर किया गया है। प्रकृति के परिणाम से उद्भूत तत्त्व व्यक्त कहलाते है व्यक्त अनित्य है, वह अव्यापी अर्थात् अपने सम्पूर्ण कारण को व्याप्त न करने वाला है जैसे–प्रकृति महत् तत्त्व को पूरी तरह व्याप्त करती है, किन्तु महत् प्रकृति को व्याप्त नही करता। अव्यक्त अहेतुमती है अर्थात् सबका कारण है, किन्तु उसका कोई कारण नही है वह कार्य कारण सम्बन्ध से रहित है। व्यक्त प्रकृति हेतुमत है अर्थात् व्यक्त प्रकृति के पदार्थो मे कार्य–कारण सम्बन्ध है। एक पदार्थ किसी एक का कार्य है तो किसी दूसरे का कारण है उसमे सरूप एव विरूप दोनो प्रकार के परिवर्तन होते रहते है। सभी परिणामो का कोई न कोई कारण अवश्य रहता है। अव्यक्त अविनाशी है, वही प्रकृति से उत्पन्न पदार्थ अर्थात् व्यक्त विनाशी है। अव्यक्त निराकार होने से निरवयव है, जबकि व्यक्त प्रकृति के अलग–अलग अवयव स्पष्टत परिलाक्षित होते है अत वह सावयव है। व्यक्त प्रकृति परतत्र है क्योकि तेइस तत्त्वात्मक पदार्थ समुदाय मे प्रत्येक कारण अपने कार्य को उत्पन्न करने के लिये प्रकृति का मुखापेक्षी है जबकि अव्यक्त स्वतन्त्र है, क्योकि उसे किसी की अपेक्षा नही है।[१]

यद्यपि व्यक्त एव अव्यक्त मे पर्याप्त वैषम्य है, किन्तु उनमे अनेक समानताये भी पायी जाती है। व्यक्त एव अव्यक्त दोनो सत्त्व, रजस् एव तमस् गुण वाले हैं। व्यक्त और अव्यक्त अलग नही है बल्कि ये सभी सम्मिश्रित होकर ही क्रियाशील होते है। प्रकृति एव उसके तत्त्व दोनो सामान्य है। ये दोनो ज्ञान के विषय है, ये अनेक पुरुषो द्वारा ग्रहण योग्य है। व्यक्त और अव्यक्त दोनो अविवेकी है। ये दोनो अचेतन अर्थात् जड है। इसके अतिरिक्त ये दोनो प्रसवधर्मी होने के कारण अपने सदृश या विदृश परिणामो को पैदा करने मे सलग्न रहते हैं।[२] वहीं पुरूष चेतन, गुणो से शून्य, त्रिगुणातीत व विवेकशील है।

---

[१] साख्यकारिका – १०

[२] साख्यकारिका –११

प्रकृति तीन गुणो से युक्त है। सत्त्व, रजस् और तमस् गुण से युक्त होने के कारण प्रकृति त्रिगुणात्मक कहलाती है। ये तीनो गुण प्रकृति के धर्म या स्वभाव नहीं इसके स्वरूप ही हैं। प्रकृति या अव्यक्त सत्त्व, रज, तम गुण का आधार नहीं अपितु तादात्मक है, जैसा कि 'सत्त्वदीनामतद्धर्मत्व तद्रूपत्वात्' इत्यादि साख्य प्रवचन सूत्र तथा एतेगुणा प्रधानशब्दवाच्या भवन्ति' इत्यादि योगभाष्य की पक्ति से स्पष्ट है। साख्य के गुण न्याय के चौबीस गुणो की भॉति द्रव्याश्रित धर्म नही अपितु द्रव्यरूप ही हैं, क्योकि साख्यदर्शन मे गुणी एव गुण मे भेद नहीं माना गया है पुन गुण से भिन्न ही गुणी का रूप होता है, किन्तु यहाँ तो सत्त्व, रज एव तम से भिन्न प्रकृति का कोई स्वरूप है ही नहीं ये तीनो प्रकृति के स्वरूप ही है। ये रस्सी के तीन रेशो के समान आपस मे मिलकर पुरुष को बॉधते है।

सत्त्व, रज एव तम तीनो गुणो का अलग–२ स्वभाव है। इन तीनो गुणो का स्वरूप एव स्वभाव साख्य कारिका[1] मे इस प्रकार मिलता है।

सत्त्वगुण – सत्त्वगुण लघु एव प्रकाशात्मक है। ज्ञान मे विषय–प्रकाशत्व एव इन्द्रियो मे विषयग्राहिता आदि सत्त्वगुण के कारण है। सत्त्व का स्वभाव प्रीत्यात्मक है अर्थात् यह आनन्द स्वरूप है। यह अमृतमय व जीवनदाता है। यह श्वेत है तथा यह बुद्धि प्रधान जीवो मे पाया जाता है। यह अतिसूक्ष्म है।

रजोगुण – यह गतिशील व उत्तेजक है। जहॉ कहीं भी गति पाई जाती है, वह इसी के कारण है। यह चचल होता है। सत्त्व व तमस गुण प्रवृत्तिहीन है उनमे क्रियाशीलता का अभाव पाया जाता है। रजोगुण के मिलने से ही सत्त्व व तम क्रियाशील होते है। इसका रग लाल है। यह दुखात्मक है।

तमोगुण – तमोगुण गुरु तथा अवरोधक होता है। गुरु का अर्थ भारी होती है और यह भारी होने के कारण आच्छादक होता है। यह ज्ञान प्राप्ति मे बाधक होता है। इसका स्वरूप मोहात्मक है। यह जडता तथा निष्क्रियता उत्पन्न करता है। इसका रग काला है।

---

[1] साख्यकारिका– १३

प्रकृति तथा गुणो मे तद्रूपता है। ये तीनो गुण परस्पर विरोधी होते हुये भी सहयोगी है। इनमे से कोई गुण न तो अकेला रहता है और न अन्य गुणो के सहयोग के बिना कार्य कर सकता है। जिस प्रकार अग्नि, बत्ती और तेल आपस में विरोधी हैं, फिर भी साथ मिलकर प्रकाश उत्पन्न करते है। उसी प्रकार तीनो गुण परस्पर विरोधी होते हुये भी मिलकर कार्य करते है। जब तीनो गुण समभाव मे रहते है तो यह अवस्था प्रकृति कहलाती है, किन्तु गुणो की साम्यावस्था मे क्षोभ उत्पन्न होते ही सृष्टि का द्वार खुल जाता है। प्रकृति अव्यक्त से व्यक्त मे आने लगती है और क्रमश उसकी सूक्ष्मता स्थूलता मे परिणत होती जाती है, अन्त मे यह स्थूलतम जगत् सत्ता मे आ जाता है। साख्य दर्शन मे जहॉ माना गया है कि गुणो मे यह क्षोभ पुरुष के सान्निध्य से उत्पन्न होता है। वही योग के अनुसार इस परिवर्तन की प्रेरणा ईश्वर से मिलती है।[1] साख्य ईश्वर को नही मानता है।

सत्त्व, रज एव तम तीनो गुणो मे एक दूसरे पर आश्रित रहने की अनिवार्यता है इन तीनो गुणो को अपनी सत्ता रखने मात्र के लिये भी अन्य दो की आवश्यकता रहती है। ये तीनो गुण एक दूसरे के अभिभावक, आश्रय बनने वाले, उत्पादक एव सहचारी होते है।

प्रकृति के सबसे प्रथम परिणाम को महत् या बुद्धि की सज्ञा दी जाती है। महत् से अहकार का अविर्भाव होता है, फिर अहकार तीनो गुणो सत्त्व, रजस् एव तमस् मे से प्रत्येक की उत्कृष्टता के कारण तीन भिन्न दशाओ मे परिणत होता है जिससे एक ओर ज्ञानेन्द्रियो, कर्मेन्द्रियो एव मनस् की उत्पत्ति होती है वही दूसरी ओर पचतन्मात्राओ की उत्पत्ति होती है। ये पचतन्मात्राये पुन पचमहाभूतो मे परिणत होती है। यह परिणाम तत्त्वान्तर परिणाम कहलाता है।

---

[1] योगसूत्र पर भोजवृत्ति– १/२४ भारतीय दर्शन– प्रो० हिरियन्ना २७४ से उद्धृत

इस तत्त्वान्तर परिणाम मे भी हम दो प्रकार देखते है। एक प्रकार वह है जिसमे उन तत्त्वो को रखा जा सकता है, जो स्वय विकार होते हुये भी अन्य तत्त्वो को उत्पन्न करते है। दूसरा प्रकार वह है जिसमे वे तत्त्व आते है जिनमे तत्त्वान्तरो को उत्पन्न करने की क्षमता नही होती है। दूसरे प्रकार के तत्त्व स्थूलरूप होते है, अत अपनी विशिष्ट सत्ता मे हमारे सामने स्पष्टत प्रातिभासित होते है, इसलिये इन्हे 'विशेष' कहा जाता है। द्वितीय प्रकार के विशेष तत्त्वो मे ग्यारह इन्द्रियॉ तथा पच महाभूत आते है। प्रथम प्रकार के तत्त्वो मे अहकार व पचतन्मात्राये आते है जिन्हे 'अविशेष' कहा जाता है। ये अविशेष प्रकृति के प्रथम विकार महत् तत्त्व मे स्थित रहते है। महत् तत्त्व आद्य होने के कारण प्रथम व्यक्त तत्त्व है। प्रकृति की अवस्था मे सभी विकार अव्यक्तावस्था मे रहते है। प्रकृति –विकृति से पुरुष भिन्न, असग व निर्लेप होता है।

मूल प्रकृति के अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण उसका ज्ञान होना असभव है। इसके अतिरिक्त महत् तत्त्व, अहकार व पचतन्मात्राये भी सूक्ष्म तत्त्व है, इसलिये इनका भी विशद् रूप से ज्ञान होना सभव नही है। प्रकृति की परम्परा मे इन्द्रियो या भूतो के समूह मे सोलह विकारो को विशद् रूप से जाना जा सकता है। षोड्श विकारो का विशद् रूप से ज्ञान होने पर पुरुष मे भेद ज्ञान अवश्य हो जाता है।

साख्य दर्शन मे प्रकृति की सत्ता की सिद्धि अनेकविध तर्को से की गयी है, किन्तु विषयान्तर होने के कारण प्रबन्ध विस्तार के भय से इसकी चर्चा यहॉ सभव नही है।

प्रकृति भोग्या है वह भोक्ता पुरुष की अपेक्षा करती है और पुरुष भोग्य प्रकृति की अपेक्षा करता है। पुरुष को अपवर्ग का लाभ करवाने के लिये ही प्रकृति का परिणाम होता है और जिस पुरुष को यह (अपवर्ग) प्राप्त हो जाता है उसके लिये प्रकृति का परिणाम समाप्त हो जाता है।

पुरुष

साख्यकारिकाकार ने स्पष्टत प्रकृति को अचेतन कहा है, जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सत्त्वगुण ज्ञानोत्पादन मे सहायक होते हुये भी स्वय चैतन्य नही है। इसमे विषय–बोध कराने की क्षमता है, परन्तु यह बोधमय नही है अत प्रकृति को विचारशक्ति, विषय–बोध शक्ति आदि मे परिणत होने के लिये चैतन्य की आवश्यकता है। यदि प्रकृति तीनो गुणो की साम्यावस्था है तो इसमे क्षोभ कहॉ से आता है। वाचस्पति मिश्र ने गुणो की प्रवृतियो का विभाजन करते हुये बताया है कि जब सृष्टि की अवस्था नही होती तब गुणो मे सदृश परिणाम होता है। सत्त्वगुण सत्त्वरूप से, रजस् रजो रूप से, तथा तमस् तमोरूप से ही परिणाम को प्राप्त होते है।[1] तब यहॉ प्रश्न यह उठता है कि तत्त्वान्तर परिणाम का प्रारम्भ कैसे होता है ? पुन दूसरा प्रश्न यह है कि प्रकृति जिसका परिणाम यह सारा ससार है वह स्वय अचेतन है और इसलिये उससे अभिव्यक्त जगत् मे चेतनता कैसे आती है? उसे पूर्णतया अचेतन होना चाहिये।

इन दोनो प्रश्नो का उत्तर हमे प्रकृति से सर्वथा भिन्न किसी अन्य तत्त्व की सत्ता को स्वीकार करने के लिये मजबूर कर देता है। साथ ही यहॉ यह भी आवश्यक है कि वह तत्त्व चेतन हो और उसकी सत्ता प्रकृति को तत्त्वान्तर परिणाम के लिये विक्षुब्ध करने वाली भी होनी चाहिये, क्योकि तत्त्वान्तर परिणाम का विश्लेषण करते हुये योगभाष्यकार तथा साख्यतत्त्वकौमुदीकार द्वारा कहा गया है कि– यह बिना किसी प्रयोजन के हो ही नही सकता, अत इस तरह का एक तत्त्व अवश्य है। वह इस तत्त्व को पुरुष का नाम देता है। इस तत्त्व को मिलाकर साख्य–दर्शन मे तत्त्वो की साख्या पच्चीस हो जाती है। साख्य एव योग दर्शन मे 'आत्मा' को ही 'पुरुष' कहा गया है।

---

[1] प्रतिसर्गावस्थाया सत्त्व रजस्तमश्च सदृशपरिणामनि भवति। – साख्यतत्त्व कौमुदी १६

साख्य एव योग दर्शन के अनुसार पुरुष 'चैतन्य स्वरूप' है चैतन्य उसका धर्म नही है अपितु वह चैतन्यमय है, क्योकि चैतन्य का धर्मी पुरुष को मानने से उसे चैतन्य से भिन्न मानना पडेगा और भिन्न होने से उसमे जडत्व की सभावना होने लगेगी इसलिये चैतन्य आत्मा का गुण न होकर स्वभाव है। जागृत, स्वप्न एव सुषुप्ति तीनो अवस्थाओ मे चैतन्य पुरुष मे विद्यमान रहता है।

पुरुष गुणो से शून्य होने के कारण निर्गुण है। इसमे सत्त्व, रज व तमोगुण का अभाव पाया जाता है, इसलिये इसे त्रिगुणातीत कहा गया है। चूँकि पुरुष को चलाने वाला या उसमें क्रिया उत्पन्न करने वाला रजोगुण इसमे नहीं है, इसलिये यह निष्क्रिय है।

पुरुष अहेतुमान् है अर्थात् यह कार्य–कारण मुक्त है,इसलिये पुरुष न तो प्रकृति है न विकृति।[1] वह नित्य तथा सर्वव्यापी है, व्यापक होने से ही यह सिद्ध होता है कि इसमे क्रिया नही होती इसलिये भी यह निष्क्रिय है।

पुरुष अपरिणामी है क्योकि परिणाम है एक धर्म का त्याग और दूसरे का ग्रहण। चूँकि पुरुष का कोई धर्म ही नही है अत किसी से विलग होने या सयुक्त होने का प्रश्न ही नही आता। आत्मा सर्वदा एक रूप है इसी से उसे कूटस्थ नित्य कहा जाता है और इसीलिये पुरुष नित्य शुद्ध भी है अर्थात् सुख–दु ख और मोह आदि जो प्रकृति के प्रत्येक परिणाम को आच्छादित किये हुये है इसका कभी स्पर्श भी नही कर पाते। पुरुष पाप–पुण्यो से सर्वथा शून्य होने के कारण शुद्ध है।

पुरुष उदासीन होने के कारण तटस्थ है। पुरुष निष्क्रिय अकर्त्ता है इसलिये उसमे इच्छा, सकल्प, द्वेष आदि का अभाव पाया जाता है। वह दिक् एव काल की सीमा के बाहर है। चूँकि आत्मा विषय सुख आदि को तथा इनके कारण पुण्य आदि कर्मो को नहीं करता है इसलिये वह अकर्ता है उसमे तिनके को भी टेढा करने की सामर्थ्य नहीं है ऐसा करने वाली तो प्रकृति ही है। पुरुष अप्रसवधर्मी है,क्योकि वह किसी को जन्म नहीं देता।

---

[1] साख्यकारिका – ३

पुरुष की सत्ता स्वयसिद्ध या सशयरहित है, क्योकि आत्मा का खण्डन करना, स्वय का खडन करना है। इसके अस्तित्व के खण्डन मे भी इसकी सिद्धि हो जाती है अर्थात् जो खडन कर रहा है वही चेतन आत्मा है, वह स्वय प्रकाश है।

पुरुष को साख्य दर्शन मे साक्षी एव दृष्टा माना गया है। चूँकि पुरुष चैतन्य स्वरूप है इसलिये वे वह सदैव ज्ञाता होने के कारण ज्ञान का विषय नहीं है। पुरुष अचेतन प्रकृति के सभी कार्यो को देखता है। वह विषयो का ग्रहण करने मे समर्थ है। अचेतन द्वारा विषयो का ग्रहण सभव नहीं है, इसलिये प्रकृति विषय मात्र है जबकि उसका दृष्टा पुरुष है।

पुरुष असग है, वह निर्लिप्त रहता है। यद्यपि बुद्धि एव पुरुष का सयोग होता है, किन्तु यह सयोग पुरुष की असगता को क्षति नहीं पहुँचाता। जिस प्रकार कमल पत्र जल मे मग्न होते हुये भी निर्लिप्त रहता है उसी प्रकार पुरुष भी निर्लिप्त है। पुरुष शरीर से भिन्न है। शरीर भौतिक है, जबकि आत्मा अभौतिक है। यह इन्द्रियो से भी भिन्न है,क्योकि इन्द्रियाँ अनुभव के साधन है जबकि पुरुष अनुभव के परे है।

पुरुष अलिग है, लिग उस तत्त्व को कहते है जिसका किसी अन्य मे लय हो जाता है, इस अर्थ मे पुरुष लिग नहीं है, क्योकि उसका लय सभव नहीं है। चूँकि पुरुष किसी अन्य सत्ता को सिद्ध करने का साधन नहीं है इसलिये भी वह अलिग कहलाता है।

पुरुष विभु एव निरवयव है, उसका कोई भी अवयय नहीं है, वह पूर्णरुपेण अवयवहीन है।पुरुष भोक्ता है, किन्तु वह विषयो को साक्षात् नहीं भोगता अपितु सुख दु खादि इन्द्रियो की सहायता से बुद्धि मे प्रातिभासित होते है। बुद्धि ऐसा पारदर्शी दर्पण है, जिसमे दोनो तरफ प्रतिबिम्ब दिखलाई पडता है एक ओर इसमे चेतना शक्ति और दूसरी ओर बाह्यजगत् प्रतिबिम्बित होता है। बुद्धि मे चेतनशक्ति के प्रतिबिम्बित होने से पुरुष अपने आपको बुद्धि से अभिन्न समझकर स्वय को 'मैं सुखी हूँ', 'मै दु खी हूँ' आदि मानकर भोक्ता

समझ बैठता है।[1] महर्षि पतजलि ने भी कहा है कि पुरुष तो सर्वत शुद्ध है, वह बौद्ध–बुद्धि सम्बन्धी प्रत्यय अर्थात् ज्ञानवृत्ति को देखता है। उस बुद्धि सम्बन्धी प्रत्यय को देखने के कारण ही वह अतदात्मक अर्थात् ज्ञातृत्वादि धर्मो से शून्य होकर भी तदात्मक अर्थात् बुद्धयात्मक ज्ञाता आदि के रूप से प्रातिभासित होने लगता है। बुद्धि स्वय अचेतन है, परन्तु पुरुष की चैतन्यशक्ति का सन्निधान होने से चेतनावाली मालूम होने लगती है।[2] दुख का मूल पुरुष और बुद्धि का परस्पर सम्बन्ध है। जब तक यह सम्बन्ध रहेगा तबतक दुख का नाश असभव है। जब पच्चीस तत्त्वो का ज्ञान हो जाता है तो मनुष्य की मुक्ति निश्चित है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि साख्य दर्शन मे पुरुष या आत्मा विशुद्ध चैतन्य स्वरूप, शरीर, इन्द्रिय, मन बुद्धि आदि से विलक्षण, स्वप्रकाश, निरवयव, उदासीन, असग, निष्क्रिय , साक्षी, अलिग, निर्गुण, अकर्त्ता व दृष्टा है।[3]

साख्यकारिका मे हमे पुरुष के दो रूप का आभास होता है। ईश्वरकृष्ण ने पुरुष को सभी कर्मो के कर्तृत्व एव भोक्तृत्व के प्रति उदासीन बतलाकर उसके दृष्टा होने का समर्थन किया है उन्होने एक तरफ दसवीं व ग्यारहवीं कारिका मे जहॉ पुरुष को एक व सर्वव्यापी माना है। वहीं अठारहवींकारिका[4] मे पुरुष के बहुत्व को सिद्ध करने का प्रयास किया है। पुरुष बहुत्ववादका प्रतिपादन उन्होने निम्न तर्को के आधार पर किया है।

---

[1] "बुद्धि दर्पणे पुरुष प्रतिबिम्बसक्रान्तिरेव बुद्धि प्रतिसवेदित्व पुस तथा च दृशिच्छायापन्ना बुद्धयाससृष्टा शब्दादयो भवन्ति दृश्या इत्यर्थ ।।

– योगसूत्रतत्त्व वैशारदी २/२० हरिभद्रसूरि पर महेन्द्र जैन की टीका

[2] "शुद्धोऽपि पुरुष प्रत्यय बौद्धमनुपश्यति, तमनुपश्यन्न तदात्मापि तदात्मक इव प्रतिभासते।"

– योगभाष्य २/२०

[3] अ– तस्माच्च विपर्यासात्सिद्ध साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यम्माध्यस्थ्य द्रष्ट्त्वमकर्तृभावश्च।। —साख्यकारिका १९

ब– तस्मात् तत्सयोगादचेतन चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीन ।। —वही २०

स– त्रिगुणमविवेकि विषय सामान्यमचेतनम्प्रसवधर्मि।
व्यक्त तथा प्रधानम्, तद्विपरीतस्तथा च पुमान्।। —वही ११

[4] जन्ममरणकरणाना प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्व सिद्ध त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव।।" —वही १८

उस पुरुष के प्रति मोक्ष रूप प्रयोजन को सिद्ध करके भी अन्य पुरुषो को मोक्षारूढ कराने के लिये तत्पर रहती है। अत यदि पुरुष एक होता तो एक के विवेक ज्ञान से सबको विवेक ज्ञान हो जाता और सभी मोक्षापन्न हो जाते। परन्तु ऐसा नही होता है पतञ्जलिसूत्र[1] से भी पुरुष बहुत्व की सिद्धि होती है।

इस प्रकार साख्य दर्शन मे पुरुष बहुत्व का प्रतिपादन किया गया है तब यहॉ यह प्रश्न उठता है कि साख्य दर्शन मे पुरुष के स्वरूप के विषय मे विरोधात्मक बातो का समाधान किस प्रकार हो सकता है? यहॉ पर पुरुष की उपर्युक्त विशेषताओ को देखने से यह स्पष्ट है कि जिस पुरुष की ऊपर चर्चा की गयी है वह सदैव त्रिगुणात्मक अर्थात् तीनो गुणो से युक्त है इसलिये वह बद्ध पुरुष है। इसके अतिरिक्त दूसरा पुरुष जो त्रिगुणो से शून्य है तथा जिसे 'ज्ञ' कहा गया है दोनो के स्वरूप मे स्पष्टत भेद परिलक्षित होता है। अत यहॉ पर यह कहा जा सकता है कि साख्य दर्शन मे पुरुष के दो भेद बद्ध एव मुक्त माने गये हैं। मुक्त पुरुष को 'ज्ञ' कहा गया है जो एक सर्वव्यापी, त्रिगुणातीत व निर्लिप्त है। वही बद्ध पुरुष त्रिगुणो से युक्त, प्रति शरीर भिन्न एव कर्म भोगादि मे लिप्त है, इसी बद्ध पुरुष को मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस बद्ध पुरुष का ज्ञान अनुमान के द्वारा होता है। तब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि 'ज्ञ' का ज्ञान किस प्रकार सभव है ? इस प्रश्न के उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि 'ज्ञ' को आगमगम्य माना गया है। यद्यपि इसका प्रतिपादन करने वाली कोई कारिका नहीं है, किन्तु ईश्वरकृष्ण ने प्रत्यक्ष, अनुमान एव आगम को प्रमेय की सिद्धि के लिये प्रमाण माना है। साख्य के व्यक्त एव अव्यक्त तत्त्वो का ज्ञान तो प्रत्यक्ष एव अनुमान के द्वारा ही हो जाता है, इसलिये 'ज्ञ' के प्रमाण के लिये ही कारिकाकार ने आगम को प्रमाण के रूप मे मान्यता प्रदान की है। अत 'ज्ञ' आगम्यगम्य है। डा० उमेश मिश्र का मानना है कि सोलहवी एव सत्राहवी कारिका के मध्य कोई ऐसी कारिका रही होगी जिसमे 'ज्ञ' का

---

[1] कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्ट तदन्यसाधारणत्वात्। — पातञ्जलयोगसूत्र

तथा बद्ध पुरूष का सम्बन्ध स्पष्ट किया गया होगा, किन्तु यह कारिका नष्ट हो गयी है।[1] परन्तु लुप्तकारिका का प्रश्न गलत है, क्योकि साख्य के टीकाकार वाचस्पति मिश्र आदि ने 'ज्ञ' बद्ध एव मुक्त पुरुष के भेद को स्पष्ट नही किया है।

पुरुष के अस्तित्व के प्रमाण – जिस प्रकार प्रकृति की सत्ता सिद्ध करने के लिये साख्य विचारको ने प्रौढ प्रमाण दिये है वैसे ही पुरुष की सत्ता को भी प्रमाणित किया है। ईश्वरकृष्ण पुरुष के अस्तित्व के सम्बन्ध मे सत्राहवीं कारिका मे प्रमाण देते है।[2]

संघातपरार्थत्वात्– अव्यक्त और व्यक्त आदि सघात रूप होने से परोपकारक है इसलिये ये दूसरो के उपभोग के लिये होते है। ये स्वय अपना उपभोग नही करते, इनका विद्यमान होना ही इनके किसी उपभोक्ता के होने की सूचना देता है। जैसे–कुर्सी, पलग आदि बैठने वालो के लिये है। कुर्सी को देखकर बैठने वाले का अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार इन तत्त्वो को देखकर इनके उपभोग करने वाले पुरुष का अनुमान किया जाता है। पुरुष कारण के लिये ही प्रकृति, महदादिक आदि सब सघात हैं।

त्रिगुणादिविपर्ययात् – यदि हम इन सघातो का प्रयोजन किसी अन्य सघात वाले के लिये माने तो उस सघात का भी प्रयोजन किसी और के लिये मानना पडेगा इस प्रकार अनवस्था दोष की उत्पत्ति होगी। इसलिये त्रिगुणात्मक प्रकृति से नितान्त भिन्न किसी अन्य तत्त्व को मानना पडेगा जो त्रिगुणातीत हो यही तत्त्व पुरुष है। चूँकि गुण सुख–दु ख स्वभाव वाले है अत इनका भोक्ता कोई ऐसा है जो सुख–दु ख से भिन्न स्वभाव वाला हो। फलस्वरूप त्रिगुणो से भिन्न स्वभाव वाले पुरुष की सत्ता सिद्ध है।

अधिष्ठानात् – सुखात्मक, दु खात्मक एव मोहात्मक जितने भी पदार्थ हैं उनका कोई न कोई अधिष्ठाता दृष्टिगत होता है, इसलिये बुद्धि अहकार आदि सघात का भी कोई

---

[1] भारतीय दर्शन – डा० उमेश मिश्र पृष्ठ २६८ से उद्धृत।

[2] "सघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृतेश्च।।" – साख्यकारिका –१७

अधिष्ठाता होना चाहिये। जिस प्रकार रथ का अधिष्ठाता सारथी है, ठीक उसी प्रकार प्रकृति के उपभोग सघात का अधिष्ठाता पुरुष है। त्रिगुणात्मक प्रकृति एव उसके विकार जड होने के कारण ही किसी पुरुष के द्वारा प्रेरित होकर अपनी सृष्टि क्रिया का उत्पादन करते है। वे बिना पुरुष की सहायता के सृष्टि नही कर सकते। अत वह अधिष्ठाता पुरुष ही है।

<u>**भोक्तृभावात्**</u> – त्रिगुणात्मक वस्तुओ के लिये भोक्ता अपेक्षित होने से भी पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है। भोक्ता का अर्थ है सुख, दु ख एव मोहरूप वस्तुओ का भोग करने वाला। यह भोक्ता चेतन ही हो सकता है। चूँकि प्रकृति भोग्या है, इसलिये भोक्ता की अनुपस्थिति मे भोग्या प्रकृति का कोई अर्थ नहीं है अत इस प्रकृति का भोक्ता पुरुष या जीवात्मा है।

<u>**कैवल्यार्थ प्रवृत्तेश्च**</u> – ससार मे पुरुष दु खो के अनवरत चक्र से मुक्ति प्राप्त करने की चेष्टा करते है। कैवल्य जिसे शास्त्र एव दिव्य–दृष्टि महर्षि त्रिविध दु ख की सार्वकालिक निवृत्ति के रूप मे स्वीकार करते है वह बुद्धि इत्यादि के विषय मे असभव है, क्योकि दु ख इत्यादि तो इनका स्वरूप ही है। फिर ये अपने स्वरूप से वियुक्त या पृथक् कैसे किये जा सकते है? किन्तु बुद्धि इत्यादि से भिन्न कोई तत्त्व, जिसका स्वरुप दु ख इत्यादि नही है इससे पृथक् किया जा सकता है। इसलिये शास्त्र मे एव महर्षियो ने कैवल्य के लिये प्रवृत्ति होने से भी सुख दु खात्मक तत्त्वो से भिन्न पुरुष की पृथक् सत्ता सिद्ध की है। अत यदि हम चेतन पुरुष न माने तो मोक्ष निरर्थक हो जाता है। अत मोक्ष की प्राप्ति मे प्रवृत्त होने वाला साधक पुरुष ही है।

इस प्रकार उपर्युक्त सिद्धान्तो के द्वारा साख्यदर्शन मे पुरुष की सत्ता को सिद्ध किया गया है। अब पुरुष व प्रकृति के विवेचन के बाद हम इनमे किस प्रकार सम्बन्ध स्थापित होता है इसे विवेचित करेगे।

पुरुष एवं प्रकृति का सम्बन्ध

पुरुष एव प्रकृति को मानने के कारण ही साख्य दर्शन द्वैतवादी है। द्वैतवादी दर्शन की सबसे बडी समस्या यह है कि इन दोनो तत्त्वो के बीच सम्बन्ध का निरूपण किस प्रकार है? उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्रकृति व पुरुष दोनो मे अन्धकार व प्रकाश की भॉति अन्तर है। तब यह प्रश्न उठता है कि इन दो विरोधी तत्त्वो मे सयोग कैसे सभव है? प्रकृति जड है जबकि पुरुष चेतन है। प्रकृति विषय है और पुरुष विषयी है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है और पुरुष निर्गुण है। प्रकृति एक है, पुरुष अनेक है प्रकृति सक्रिय है और पुरुष निष्क्रिय है। प्रकृति भोग्या है, पुरुष भोक्ता है। प्रकृति बन्धन का कारण है जबकि पुरुष मुक्त है। अत ये दो निरपेक्ष तत्त्व आपस मे किस प्रकार सम्बन्ध स्थापित करते है ? इतना ही नहीं हम देखते है कि हममे जो चेतन तत्त्व है, वह अचेतन शरीर के साथ ही नही बल्कि सम्पूर्ण अचेतन विश्व के साथ बडा ही सामञ्जस्य पूर्ण व्यवहार कर रहा है। इसके अतिरिक्त यह चेतन तत्त्व शरीरादि के सुख दु ख को अपना समझने लगता है तब प्रश्न यह उठता है कि इन दो सर्वथा विरोधी धर्म वाले तत्त्वो मे साम्य बुद्धि कैसे आती है?

दूसरी तरफ सयोग की व्याख्या करने पर हम देखते है कि दो विभु पदार्थो का सयोग नही होता, क्योकि सयोग या तो दो चल पदार्थो का होता है या एक चल और एक अचल पदार्थ का होता है, किन्तु दोनो अचल पदार्थ सयोग नही कर सकते। विभुओ का चल होना सोचा ही नही जा सकता है लेकिन विभुओ का स्वाभाविक सयोग अवश्य हो सकता है किन्तु उसे भी यहाँ नही माना जा सकता क्योकि उस अवस्था मे पुरुष और प्रकृति दोनो के नित्य होने के कारण सयोग नित्य हो जायेगा और साख्य दर्शन मे स्पष्टत कहा गया है कि पुरुष और प्रकृति का सयोग ही बधन है और सयोग–नाश ही मोक्ष है अत मोक्ष की सभावना भी जाती रहेगी। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रकृति व पुरुष का यह सयोग वास्तविक नहीं है और इस सयोग का कोई विशेष प्रयोजन है।

साख्यकारिका मे ईश्वरकृष्ण ने स्पष्ट रूप से ईश्वर की सत्ता नही मानी है। पुरुष के सान्निध्य से ही सृष्टि प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। प्रकृति और पुरुष का सयोग अध और पगु सयोग की भॉति है। जिस प्रकार एक अधा व एक लगडा व्यक्ति जगल मे रास्ता भटक जाने के बाद एक दूसरे की मद्द से जगल पार कर लेते है उसी प्रकार प्रकृति पुरुष की मदद् से सृष्टि का प्रारम्भ करती है। यह सयोग मे कोई साधारण सयोग नही होता, जैसे दो भौतिक द्रव्यो रथ और घोडे मे सयोग होता है, अपितु यह सयोग एक विशेष प्रकार का होता है। प्रकृति दर्शनार्थ पुरुष की अपेक्षा करती है और पुरुष कैवल्यार्थ अपना स्वरूप पहचानने के लिये प्रकृति की सहायता लेता है।[1]

तब यहॉ यह शका उपस्थित होती है कि ये दो विरोधी तथा स्वतन्त्र तत्त्व आपस मे किस प्रकार मिलते है। साख्य दर्शन मे इसका समाधान करते हुये कहा गया है कि प्रकृति एव पुरुष मे वास्तविक सयोग नही होता है बल्कि पुरुष के सान्निध्यमात्र से प्रकृति की साम्यावस्था भग होती है और सृष्टि की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

परन्तु यहॉ यह समस्या उत्पन्न होती है कि पुरुष निष्क्रिय होने के कारण सर्वदा प्रकृति के साथ रहेगा और जिससे सर्वदा विकास की प्रक्रिया होती रहेगी और प्रलय की व्याख्या करना कठिन हो जायेगा और विकास का कोई भी अर्थ नही रह जायेगा। प्रकृति की साम्यावस्था तथा तीनो गुणो की कल्पना बेकार है।

इसका निराकरण करते हुये साख्य दर्शन मे कहा गया है कि प्रकृति एव पुरुष का वास्तविक सयोग नही होता बल्कि यहॉ पर सयोग का आभास होता है। यह सयोग प्रतिबिम्बात्मक है। यह सयोग पुरुष और प्रकृति का न होकर पुरुष और प्रकृति के प्रथम विकार बुद्धि का है जो कि प्रकृति से कार्य–कारण सम्बन्ध के द्वारा सम्बन्धित है, अतएव बुद्धि पारदर्शी दर्पण की भॉति है जो बिम्बो का ग्रहण करती है। बुद्धि मे चेतनाशक्ति के

---

[1] पुरुषस्य दर्शनार्थ कैवल्यार्थ तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि सयोगस्तत्कृत सर्ग ।। – कारिका–२१

प्रतिबिम्बित होने से पुरुष अपने आपको बुद्धि से अभिन्न समझ लेता है। जिस प्रकार स्वच्छ जल मे प्रतिबिम्बित चन्द्रमा निष्कम्प होते हुये भी जल मे प्रतिबिम्बित होने के कारण जल के कम्पन से स्वय मे कम्पन से युक्त होने का मिथ्याभिमान करने लगता है। उसी प्रकार निर्मल पुरुष भी बुद्धि मे प्रतिबिम्बित होने के कारण प्रकृति के धर्मो का मिथ्याभिमान करने लगता है और बुद्धि भी पुरुष की चैतन्यशक्ति का सन्निधान होने से चेतनावाली मालुम होने लगती है। इस तादात्म्य से बुद्धि की वृत्तियॉ पुरुष की सी प्रातिभासित होने लगती है और पुरुष बुद्धि के रूप वाला हो जाता है। इस प्रकार इस सयोग से अचेतन बुद्धि चेतनवती सी तथा पुरुष कर्त्ता व भोक्ता सा हो जाता है।

इस प्रकार पुरुष और प्रकृति का सयोग परस्परापेक्षा प्रयुक्त होता है प्रकृति भोग्या होने के कारण भोक्ता पुरुष की अपेक्षा करती है और पुरुष भोग्य प्रकृति की अपेक्षा करता है अत परस्परापेक्षा से दोनो का सयोग होता है, जिससे सृष्टि का बिस्तार होता है।

<u>मोक्ष की अवधारणा</u> –

साख्य दर्शन भारतीय परम्परा की मान्यताओ के अनुरूप ही बधन और मोक्ष की व्याख्या करता है और मुक्ति प्राप्त करने के उपायो का वर्णन करता है। साख्य का मोक्ष सिद्धान्त बडा ही क्रातिकारी है। मोक्ष की अवस्था मे पुरुष को किसी बाह्य वस्तु या लोक की प्राप्ति नही होती अपितु वह उसकी अपने स्वरूप मे अवस्थिति है, जो प्रकृति व पुरुष मे विवेक ज्ञान के द्वारा प्राप्त होती है इसी से इसे विवेकख्याति या 'सत्त्वपुरुषान्यताख्याति' कहा गया है। साख्य ससार को दु खमय मानता है उसने ससार को त्रिविध दु खो से युक्त माना है–

<u>आध्यात्मिक</u> – दु ख वे दु ख हैं, जो मनुष्य के अपने शरीर एव मन से उत्पन्न होते हैं जैसे–भूख, सिरदर्द, क्रोध, द्वेष एव भय। यह दु ख शारीरिक व मानसिक दो प्रकार का होता है। वात, पित्त और कफ त्रिदोषो की विषयिता से उत्पन्न दु ख शारीरिक व काम, क्रोध, लोभ, मोह व ईर्ष्या आदि से उत्पन्न दु ख मानसिक दु ख कहलाते हैं।

आधिभौतिक – बाह्य पदार्थो के प्रभाव से उत्पन्न होने वाले दु ख आधिभौतिक दु ख कहलाते है। जैसे–तीर का लगना, कॉटे की चुभन सर्प दश आदि आधिभौतिक दु ख है।

आधिदैविक – जिन दु खो की उत्पत्ति बाह्य और अलौकिक कारणो से होती है। वे आधिदैविक दु ख कहलाते है। जैसे –सदी–गर्मी से मिलने वाला दु ख एव भूत–प्रेत से मिलने वाला दु ख।

साख्य दर्शन मे इन्हीं त्रिविध दु खो को बन्धन का कारण माना गया हे अत दु ख के अभिघातक(विनाशक) कारण को जानने की इच्छा करनी चाहिये।[1] जिससे अपवर्ग की प्राप्ति हो सके। साख्य दर्शन मे जहॉ अपवर्ग की प्राप्ति आत्मज्ञान से ही सभव मानी गयी है, वही योग दर्शन मे मोक्ष प्राप्ति का साधन योगाभ्यास को माना गया है। साख्य की मान्यता है कि बधन का कारण अज्ञान है। पुरुष अपने वास्तविक स्वरुप कि वह शुद्ध चैतन्य सत्ता है को भूल जाता है। वस्तुत पुरुष तो इन दु खो के प्रभावो से मुक्त है इनकी अनुभूति बुद्धि को होती है, किन्तु अज्ञान के कारण आत्मा बुद्धि से अपना पार्थक्य नही समझता तथा स्वय को सुखी–दु खी महसूस करने लगता है। वह अपने नित्य शुद्ध स्वरूप को भूलकर अपने को इन्द्रिय, शरीर व मन समझने लगता है। बुद्धि मे प्रकाशित अपने प्रतिबिम्ब से तादात्म्य स्थापित करने के कारण आत्मा अन्त करणावच्छिन्न चैतन्य के रूप मे अर्थात् जीव के रूप मे प्रतीत होने लगता है यही पुरुष का अज्ञान है और यही उसके बधन का कारण है।

साख्य बधन को और अधिक स्पष्ट करते हुये इसे तीन भागो मे विभाजित करता है। बधन का यह विभाजन उन उपास्य पदार्थो के आधार पर है जिनके साथ पुरुष का दोष पूर्ण तादात्म्य हो जाता है।

प्राकृतिक बन्ध- जो लोग प्रकृति को पुरुष समझकर पूजा करते है। वे प्राकृतिक बन्ध मे है।

---

[1] दु खत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ – साख्यकारिका–1

विकासात्मक बन्ध – जो प्रकृति के विविध विकारो यथा पच महाभूतो, ज्ञानेन्द्रियो इत्यादि को पुरुष समझकर पूजते है, वे विकासात्मक बन्ध मे है।

व्यक्तिगत बन्ध – जो लोग यज्ञ करते है, दान देते है क्योकि वे व्यक्तिगत ईश्वर की सत्ता मे विश्वास करते है। इसलिये वे व्यक्तिगत बध मे है।

योगदर्शन मे चतुर्व्यूह प्रसग के अर्न्तगत बन्धन व मोक्ष का वर्णन किया गया है। यह चतुर्व्यूह ही योग दर्शन का सार है जिसे योग मे निम्न प्रकार पारिभाषित किया गया है।

हेय – ससार मे सबसे हेय और अप्रिय वस्तु दुख है। इन दुखो के प्रति हेय–बुद्धि रखनी चाहिये जो द्वेष के कारण को नष्ट कर सके। मनुष्य को अतीत दुख, वर्तमान दुख और अनागत दुख मे से केवल अनागत दुख के प्रति ही द्वेष भाव रखना चाहिये[1] क्योकि उसी पर विजय प्राप्त की जा सकती है। अतीत दुख व वर्तमान दुख के समक्ष मनुष्य असहाय और पराजित है।

हेय-हेतु – जड बुद्धि एव चैतन्य पुरुष का सयोग ही हेय का मूल कारण है।[2] अविद्या मूलक इस सयोग के कारण ही पुरुष व जड बुद्धि अपने को एक दूसरे से अभिन्न समझकर व्यवहार करने लगते है।

हान – 'हान' व्यूह मे यह बताया गया है कि सासारिक दुखो से किस प्रकार मुक्ति सभव है। अविद्या को नष्ट करना ही 'हान' है। अविद्या के पूर्णत नष्ट हो जाने पर पुरुष व बुद्धि का पुन सयोग नही स्थापित होता है।[3]

हानोपाय – इस व्यूह मे हान का उपाय क्या है अर्थात् अविद्या का पूर्णतया नाश किस प्रकार सभव है यह बताया गया है। अविद्या का पूर्णतया नाश 'अविलुप्त विवेक ख्याति' से ही सभव है। प्रकृति एव पुरुष के भेद का ज्ञान होना ही अविद्या के विनाश हेतु आवश्यक है।[4]

---

[1] हेय दुखमनागतम् – योगसूत्र २/१६

[2] दृष्टदृश्ययो सयोगो हेयहेतु । –योगसूत्र २/१७

[3] तद्भावात् सयोगाभावो हान तद्दृशे कैवल्यम् । – योगसूत्र २/२५

[4] विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपाय । – योगसूत्र २/२६

साख्य एव योग दर्शन के अनुसार बधन वास्तविक नही है। वस्तुत पुरुष नित्य मुक्त है। पुरुष के स्वरूप का अभाव बधन है और स्वरूप का ज्ञान मोक्ष है। पुरुष को अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान तभी होता है जब वह अचेतन प्रकृति तथा अन्त करणादि से स्वय को भिन्न मान लेता है। यह पुरुष एव प्रकृति के भेद का ज्ञान ही 'विवेकज्ञान' है। यही मोक्ष का कारण है।

साख्य दर्शन के अनुसार 'व्यक्त', 'अव्यक्त' एव 'ज्ञ' इन तीनो तत्त्वो को सम्यक रूप से जान लेने पर दु खत्रय से सदा के लिये निवृत्ति हो जाती है। इन तीनो तत्त्वो का ज्ञान कराकर मोक्ष अथवा कैवल्य की प्राप्ति कराना ही साख्य दर्शन का उद्देश्य है। बधन का मूल कारण अविवेक है। प्रकृति एव उसके पच्चीस तत्त्वो का ज्ञान प्राप्त करते हुये स्वय को प्रकृति से अलग समझना ही विवेक बुद्धि है।

ईश्वरकृष्ण का मानना है कि मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान से ही सभव है। कर्म से नहीं क्योकि मोक्ष निस्त्रैगुण्य है। कर्म यथार्थ स्वप्न की तरह होता है। अत इससे मुक्ति संभव नही है चूँकि कर्म दु खात्मक भी होते है अत इनके द्वारा प्राप्त मोक्ष भी दु खात्मक ही होगा इसके साथ ही कर्मो के अनित्य होने के कारण मोक्ष भी अनित्य हो जायेगा। अच्छे, बुरे या उदासीन कर्मो से बधन की प्राप्ति हो सकती है मोक्ष की नही। अच्छे कर्मो से स्वर्ग की तथा बुरे कर्मो से नरक की प्राप्ति सभव है,[1] किन्तु साख्य दर्शन मे स्वर्ग एव नरक को सासारिक माना गया है। साख्य दर्शन मे कहा गया है कि स्वर्ग एव नरक सासारिक जीवन की भॉति दु खदायी है। अत अपवर्ग की प्राप्ति कर्म के द्वारा सभव नही है। मोक्ष की अवस्था मे आत्मा मे कोई भी विकार न रहने के कारण उसमे गुण या धर्म का आविर्भाव नही होता है।

इस प्रकार मुक्ति ज्ञान से ही सभव है यह जाग्रत अनुभव की तरह यथार्थ है। वस्तुत इस ज्ञान को केवल मन से ही समझ लेना पर्याप्त नहीं है बल्कि इसकी साक्षात्

---

[1] साख्यकारिका—४४

अनुभूति भी परमावश्यक है। यह इस प्रकार होता है– मै(यह) नही हूँ (नाऽस्मि) अर्थात् मै अचेतन विषय या ज्ञेय नही हूँ। यह मेरा नही है अर्थात् जो भी ज्ञेय विषय है वह सब मेरा नही है। जब यह ज्ञान हेत्वाभास से सुदृढ हो जाता है एव निर्विकल्प अनुभव का रूप ले लेता है, तब इसे केवल या विशुद्ध ज्ञान कहते है। यह विशुद्ध चैतन्य ही पुरुष का स्वरूप है और यह स्वरूप ज्ञान ही मोक्ष है।

इस अनुभूति को पाने के लिये श्रवण, मनन, निदिध्यासन की आवश्यकता होती है। कुछ विचारको ने इसके हेतु योग के अष्टाग मार्ग को अपनाने का आदेश दिया है। जिसके फलस्वरूप आत्मा मोक्ष प्राप्त करती है। जिसका हम आगे उल्लेख करेगे। वस्तुत साख्य के मूल ग्रथ साख्यकारिका मे मोक्ष के साधन के विषय मे केवल इतना उल्लेख है कि प्रकृति और पुरुष के परस्पर भिन्न होने का ध्यान रखना चाहिये।

साख्य पुरुष को चूँकि विशुद्ध चैतन्य रूप मानता है अत मोक्ष की अवस्था पुरुष के शुद्ध चैतन्य की अवस्था है। चूँकि मोक्ष त्रिगुणातीत है अत मोक्ष आनन्दमय नही है। यहाँ साख्य का शकर से मतभेद है। यद्यपि न्याय के विपरीत और शकर के समान वे भी पुरुष (आत्मा) को विशुद्ध चैतन्य मानते है तथापि वे शकर के विपरीत मोक्ष को आनन्द की अवस्था नही मानते हैं।

प्राय प्रत्येक मनुष्य की हमेशा यही इच्छा रहती है कि उसके सभी दु खो का हमेशा के लिये अन्त हो जाये और उसे सर्वदा आनन्द की प्राप्ति हो परतु ऐसा होना सभव नहीं है। केवल आनन्द ही आनन्द को कोई भी प्राप्त नहीं कर सकता है। इस नश्वर शरीर के कारण सभी सुखो का दु ख मिश्रित और क्षणिक होना अनिवार्य है। इसी कारण साख्य दर्शन मे मोक्ष को आनन्दमय न मान करके दु खो की आत्यान्तिक निवृत्ति माना गया है।

साख्य दर्शन के अनुसार कैवल्य किसी अपूर्ण से पूर्ण अवस्था की प्राप्ति नहीं है। अपितु मोक्ष की प्राप्ति तभी सभव है जब पुरुष या आत्मा इस तत्त्व का अनुभव करता है कि वह देश व काल की परिधि से परे है आत्मा शरीर, मन, इन्द्रिय से भिन्न नित्य, मुक्त तथा

अमर है। अपने इस वास्तविक स्वरूप की अनुभूति के साथ आत्मा शरीर के विकारो से प्रभावित नहीं होता वह केवल उनका साक्षी बन जाता है।

पुरुष को जब प्रकृति, उसके सभी विकार, पचतन्मात्राओ, इन्द्रियो, पचमहाभूतो आदि से स्वय के पार्थक्य का ज्ञान हो जाता है, तब उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर वह उस दर्शक की भॉति हो जाता है जो नाटक देखते समय किसी नर्तकी को देखता है और दोबारा उसी नर्तकी को देखने पर 'मै तो इसे देख चुका हूँ' कहकर उसकी उपेक्षा कर देता है। उसी प्रकार पुरुष भी प्रकृति के सम्पर्क मे आने पर यह प्रकृति मुझसे भिन्न है और मै इसे जान गया यह समझकर उसकी उपेक्षा कर देता है।

तब प्रश्न यह उठता है कि यदि पुरुष को मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान प्राप्ति के साथ हो जाती है तो ज्ञान–प्राप्ति के बाद भी यह शरीर क्यो विद्यमान रहता है ? इस प्रश्न के उत्तर मे साख्यकारिका मे कहा गया है कि यद्यपि पच्चीस तत्त्वो का ज्ञान हो जाने के पश्चात् पुरुष मुक्त हो जाता है, फिर भी कर्म सस्कारो के कारण जीव शरीर को धारण किये रहता है। ज्ञान से भविष्य मे किये जाने वाले कर्म तो नष्ट हो जाते है, किन्तु प्रारब्ध कर्मो का भोग किये बिना शरीर का नष्ट होना सभव नहीं। प्रारब्ध कर्मो के समाप्त हो जाने पर शरीर भी विनष्ट हो जाता है।

साख्य दर्शन दो प्रकार की मुक्तियो को मानता है। जीवन मुक्ति एव विदेह मुक्ति। सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति होते ही मनुष्य उसी क्षण मुक्त हो जाता है। भले ही शरीर प्रारब्ध कर्मो के फलस्वरूप कुछ समय के लिये ससार मे रहता है। जिस प्रकार कुम्हार का चाक उसके हाथ हटा लेने पर भी पूर्ण वेग के कारण थोडी देर घूमता रहता है, फिर वेग समाप्त हो जाने पर बन्द हो जाता है। उसी प्रकार मुक्त महात्माओ का शरीर भी प्रारब्ध कर्म के अनुसार चलता रहता है, परन्तु मुक्त व्यक्ति शरीरधारी होने पर

भी शरीर से कोई सम्बन्ध नही रखता है। इस प्रकार जीवन मुक्ति की अवस्था मे ज्ञान का अभ्युदय हो जाता है, परन्तु शरीर प्रारब्ध कर्म–वश चलता रहता है।

मृत्यु के अनन्तर जब देह से भी मुक्ति हो जाती है, तो उस अवस्था को विदेह–मुक्ति कहते है। जब प्रारब्ध कर्म समाप्त हो जाते है तो पुरुष इस शरीर को छोड देता है और पूर्ण कैवल्य की प्राप्ति करता है। यहॉ यह उल्लेखनीय है कि साख्य आचार्य विज्ञानभिक्षु केवल 'विदेहमुक्ति' को ही मानते है, क्योकि जब तक शरीर मे आत्मा रहती है उसे शारीरिक व मानसिक विकारो का सामना करना ही पडता है।

इस प्रकार साख्य–दर्शन के अनुसार मोक्ष पूर्ण निरोध की अवस्था है। यह सभी दु खो से निवृत्ति की अवस्था है। इस अवस्था मे आत्मा अपनी पूर्ण चेतना को प्राप्त कर लेता है।

साख्य–दर्शन के अनुसार बधन तथा मोक्ष लौकिक एव व्यावहारिक हैं। बधन प्रकृति का होता है पुरुष या आत्मा का नहीं । पुरुष का बधन मानना एक भ्रम है क्योकि पुरुष तो वस्तुत नित्य, मुक्त एव शुद्ध है और यदि पुरुष का बधन मान लिया जाये तो उसे मोक्ष की प्राप्ति हो ही नहीं सकती क्योकि तब इस यथार्थ बन्धन का विनाश सभव नहीं होगा प्रकृति ही बधन मे पडती एव मुक्त होती है।[1] पुरुष बन्धन और मोक्ष से असपृक्त है। पुरुष न तो बधन मे पडता है और न मुक्त होता है। बधन एव मोक्ष तो भिन्न–भिन्न रुपो मे प्रकृति का होता है। प्रकृति स्वत अपने को धर्म, अधर्म, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य एव अनैश्वर्य इन सातो रूपो मे बॉधती है।[2] पुन ज्ञान के द्वारा मुक्त होती है। लेकिन साख्य के अनुसार उसकी यह बधन मोक्ष प्रक्रिया उसके स्वार्थ के निमित्त न होकर पुरुष के लिये है अर्थात् पुरुषार्थ है।[3] वाचस्पति मिश्र भी कहते है कि पुरुष का बधन मे पडना और मोक्ष हेतु

---

[1] तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि ससरति कश्चित्।
ससरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृति ।। – साख्यकारिका–६२

[2] रूपै सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृति । – साख्यकारिका–६३

[3] प्रो० सगमलाल पाण्डेय भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण पृष्ठ स० २०६ से उद्धृत

प्रयत्नशील होना उसके भ्रम का प्रतीक है। वस्तुत मुक्ति तो प्रकृति ही पाती है जिससे पुरुष अपने स्वरूप मे स्थित हो पाता है। साख्य द्वारा स्थापित आधारभूत मान्यताओ के आलोचक विज्ञानभिक्षु भी इससे सहमत है उनके अनुसार यदि पुरुष वास्तव मे बन्धनग्रस्त होता है तो उसे सौ जन्मो के बाद भी मोक्ष की अनुभूति नहीं होगी।

साख्य ने प्रकृति की तुलना नर्तकी से की है। जिस प्रकार एक नर्तकी रगमच पर अपना प्रदर्शन करके चली जाती है उसी प्रकार प्रकृति भी पुरुष के समक्ष अपना प्रदर्शन करके निवृत्त हो जाती है।[1] जब पुरुष प्रकृति के वास्तविक स्वरूप को देख लेता है, तब वह विवेक ज्ञान के द्वारा मुक्त हो जाता है और प्रकृति भी पुरुष का भोग और अपवर्ग रूपी प्रयोजन करके निवृत्त हो जाती है। साख्य के अनुसार प्रकृति का सृष्टि रचना मे कोई स्वार्थ नहीं है। वह केवल पुरुष के भोग व मोक्ष के लिये ही नाना प्रकार के रूपो को धारण करती है।[2] साख्य सूत्रकार भी इसी बात को कहते है।[3] जब प्रकृति व पुरुष प्रयोजन सम्पन्न हो जाते है तो सदा के लिये प्रकृति पुरुष से विरत हो जाती है।

साख्य दर्शन मे मोक्ष को अभावात्मक माना गया है। यह अवस्था तीनो गुणो की निवृत्ति की अवस्था है। साख्य दर्शन मे अनेको पुरुषो के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। इसलिये कुछ पुरुषो के मोक्ष के बाद भी अन्य पुरुषो के भोग हेतु विश्व की सृष्टि होती रहती है। सक्रिय रहना प्रकृति का स्वभाव है,किन्तु मोक्ष की प्राप्ति होने के पश्चात् प्रकृति की यह प्रक्रिया उस पुरुष के लिये रुक जाती है अर्थात् जिस पुरुष को मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है वह प्रकृति से पूर्णत विरक्त हो जाता है।

साख्य बधन व मोक्ष के सदर्भ मे पुनर्जन्म की भी व्याख्या करता है। इस सिद्धान्त को मानने के कारण साख्य दो प्रकार के शरीर की अवधारणाओ को जन्म देता

---

[1] रगस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथानृत्यात्।
पुरुषस्य तथाऽऽत्मान प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृति ।। —कारिका—५९

[2] प्रतिपुरुषविमोक्षार्थ स्वार्थ इव परार्थ आरम्भ ।। — कारिका—५६

[3] प्रधान सृष्टिपरार्थस्वतोऽप्यभोक्तृत्वाद् उष्ट्रकुङ्कुमवहनवत्।। — साख्यसूत्र—३/५८

है। साख्य के अनुसार शरीर के दो रूप होते है– सूक्ष्म और स्थूल। स्थूल शरीर का निर्माण पचमहाभूतो से होता है जबकि सूक्ष्म शरीर का निर्माण पचतन्मात्राओ, पचज्ञानेन्द्रियो, पचकर्मेन्द्रियो, बुद्धि, अहकार एव मन से होता है।[1] साख्य पुर्नजन्म की व्याख्या इसी सूक्ष्म शरीर के आधार पर करता है। उसके अनुसार पुरुष का पुर्नजन्म नही होता क्योकि वह सर्वव्यापी है। पुर्नजन्म केवल सूक्ष्म शरीर का होता है प्रत्येक पुरुष के साथ एक सूक्ष्म शरीर जुडा रहता है और केवल मोक्ष प्राप्ति की अवस्था मे उससे अलग होता है। जन्म और मृत्यु केवल स्थूल शरीर का बदलना है सूक्ष्म शरीर का नही।[2] सूक्ष्म शरीर मे पिछले विचार और कर्मो के सारे सस्कार सुरक्षित रहते हैं। विवेक ज्ञान की प्राप्ति पर सूक्ष्म शरीर भी पुरुष का साथ छोड देता है। इसी को मोक्ष कहते है। यही पर पुनर्जन्म की श्रृखला समाप्त हो जाती है। साख्यकारिकाकार ने स्पष्टत कहा है कि कोई पुरुष बद्ध और मुक्त नही होता है, न कोई पुनर्जन्म लेता है, बद्ध, मुक्त और पुनर्जन्म तो प्रकृति का होता है।[3]

इस प्रकार साख्य दर्शन के अनुसार सम्यक् ज्ञान के द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति सभव है। विशुद्ध ज्ञान हो जाने पर पुरुष का प्रकृति से सर्वथा वियोग हो जाता है। इस अवस्था मे शरीर के सभी धर्मो की समाप्ति हो जाती है तथा प्रकृति के सारे व्यापार बन्द हो जाते है इस प्रकार प्रकृति व पुरुष दोनो का एक–दूसरे के प्रति उदासीन हो जाना ही अपवर्ग है।[4] यह सुख–दु ख विहीन अवस्था है यहॉ यह उल्लेखनीय है कि साख्य दर्शन कैवल्य की साक्षात् प्राप्ति कराने वाली अपरोक्षानुभूति के बारे मे प्राय मौन रहता है। वह केवल इतना ही कहता है कि पुरुष व प्रकृति को परस्पर भिन्न होने का ध्यान करना चाहिये।

---

[1] तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्य ।
एते स्मृता विशेषा, शान्ता घोराश्च मूढाश्च।। — साख्यकारिका–३८

[2] एम० हिरियन्ना पेज २६२ से उद्धृत।

[3] साख्यकारिका–६२

[4] तत्त्ववैशरदी पृष्ठ – २२६ से उद्धृत।

साख्यदर्शन मे मोक्ष की अवधारणा के अध्ययन के उपरान्त अब हम योग दर्शन के मोक्ष सम्बन्धी विचारो पर प्रकाश डालेगे। योग ही साख्य के व्यवहारिक पक्ष की पूर्ति करता है। योग दर्शन का उद्देश्य भी अन्य भारतीय दर्शनो की ही भॉति आत्मा के वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति है। आत्मा के इस स्वरूप की प्राप्ति तभी सभव है जब समस्त प्रकार की चित्तवृतियो का निरोध हो जाये। योग का अर्थ ही है 'चित्तवृत्तियो का निरोध'[1] चित्तवृत्तियो के निरोध के उपरान्त आत्मा अपनी वास्तविक स्थिति को प्राप्त कर लेता है।[2]

योग दर्शन मे दु ख का कारण क्लेश को बताया गया है। यद्यपि क्लेश का अर्थ ही दु ख होता है, परन्तु योग दर्शन मे अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक पॉच क्लेशो का वर्णन किया गया है।[3] क्लेशो के कारण ही मनुष्य का चित्त अशुद्ध होकर ससार के विषयो के प्रति प्रेरित होता है। क्लेशो के रहते हुये मनुष्य जितने प्रकार के कर्म करता है, वे सब सस्कार के रूप मे अन्त करण मे एकत्रित होते रहते है। सस्कारो के समुदाय का नाम कर्माशय है। इस कर्माशय का कारण क्लेश है और जब तक ये क्लेश विद्यमान रहते है, तब तक जीव को कर्माशय का फल भोगने के लिये विभिन्न योनियो मे बार–बार जन्म लेना पडता है। उसे अच्छे कर्मो के कारण उत्तम योनियो तथा बुरे कर्मो के कारण नरक की यातना भोगनी पडती है।

क्लेशो के अपने–अपने विशेष गुण होते है। इसके साथ ही इनके कुछ सामान्य धर्म भी होते है। इन क्लेशो के कारण ही चित्त के सत्त्वादि गुणो का अधिकार दृढतर होता है अर्थात् सत्त्व, रज एव तम इन गुणो का परस्पर अभिर्भाव एव उद्रेक का क्रम निरन्तर चलता रहता है, गुणो मे वैषम्य अर्थात् परिणाम की उत्पत्ति होती है और प्रकृति के अन्दर महद्‌ादि का कार्य-कारण प्रवाह निरतर प्रवर्तित होता रहता है। इस प्रकार ये पॉच क्लेश परस्पर एक दूसरे की मदद् करते हुये कर्म विपाक की उत्पत्ति करते हैं।

---

[1] योगाश्चित्तवृत्तिनिरोध । – योगसूत्र १/२

[2] योगसूत्र १/३

[3] अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा क्लेशा। –योगसूत्र २/३

अविद्या का पाश बहुत ही कठोर है यह अविद्या मोह के नाम से भी जानी जाती है। यह अकाट्य पाश वासना की ग्रथियो और जन्म–जन्मान्तर के सचित सस्कार रज्जुओ से कसकर तैयार हुआ है। पुरुष नहीं जानता है कि उसने न जाने कितने जन्मो से प्रकृति को ही पुरुष समझने का अभ्यास किया है। ये जन्म–जन्मान्तर से प्राप्त अज्ञान सहज ही छूटने का नहीं है। यद्यपि महर्षि पतजलि ने कहा है कि अनित्य मे नित्यत्त्व, अशुचि मे शुचित्व, दुख मे सुख और अनात्मा मे आत्मा की प्रतीति अविद्या का लक्षण है।[1]

प्रत्यक्षादि प्रमाणो के द्वारा भोगो को दुखदायक देखते हुये भी जिसके कारण मनुष्य उन्हे सुखदायक समझता है, उसे अविद्या कहते है। आत्मा से भिन्न जो शरीरादि है उसमे आत्मा का ज्ञान होना भी अविद्या है। इसी कारण, यह ससार बन्ध है और मूल कारण अविद्या से छुटकारा पाना ही मोक्ष है।

इस अविद्या के चार पाद है। अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। दृक–शक्ति (आत्मा) और दर्शन शक्ति (बुद्धि) इन दोनो आत्म और अनात्म पदार्थो मे एकात्मता के सदृश जो एकाकारता की आपत्ति ही वही अस्मिता है।[2] जब अनात्म बुद्धि मे आत्म–बुद्धि रूप अविद्या होती है, तभी अस्मिता की उत्पत्ति होती है। वहाँ अविद्यावस्था मे भी यद्यपि बुद्धि मे सामान्यत अह बुद्धि रहती है, तथापि उस बुद्धि का विषय, भेद और अभेद दोनो रहता है, क्योकि उस काल मे अत्यन्त अभेद का ज्ञान नहीं होता। इसके बाद बुद्धि मे रहने वाले गुणो का पुरुष मे आधान करने से 'मैं कर्त्ता हूँ', 'मै भोगी हूँ' इस प्रकार जो अत्यन्त एकता का भ्रम है वही 'अस्मिता' नामक क्लेश है। जब तक एकता का भ्रम नहीं होता तब तक परस्पर अध्यास–मात्र से भोग की सिद्धि नहीं होती। चूँकि बुद्धि परिणामशील है और आत्मा अपरिणामी, इसलिये दोनो अत्यन्त भिन्न है। इस स्थिति मे दोनो मे एकता की प्रतीति के बिना भोग असभव है अत दोनो मे भोग सिद्धि के हेतु अभेद का भ्रम होना अनिवार्य है।

---

[1] अनित्याशुचि दुखानात्मसुनित्यशुचि सुखात्मख्यातिरविद्या। – योगसूत्र –२/५

[2] दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतैवास्मिता। – योगसूत्र –२/६

राग – सुख की प्रतीति के पीछे रहने वाला क्लेश 'राग' है। जो पुरुष सुख का एक बार अनुभव कर चुका है, उसके चित्त मे सुखानुभवजन्य एक प्रकार का सस्कार उत्पन्न होता है। उस सस्कार से सुख की अनुस्मृति होती है, जिससे सुख के साधनो के विषय मे जो तृष्णा होती है, उसका नाम राग है।[1]

द्वेष – दु ख की प्रतीति के पीछे रहने वाला क्लेश 'द्वेष' है। मनुष्य को दु ख की अनुभूति होने पर जब दु ख को उत्पन्न करने वाले साधनो को त्यागने की इच्छा होती है, उसी को द्वेष कहा जाता है।[2]

अभिनिवेश – पूर्व जन्म मे अनुभूत मरणजन्य जो दु ख है, तद्नुभवजन्य जो वासना है, उससे बिना कारण स्वभावत ही उत्पन्न होने वाला जो मरणभय है, उसी को अभिनिवेश कहते है।[3] मरणभयरूपी क्लेश सभी प्राणियो मे स्वाभाविक रूप से अनादिकाल से चला आ रहा है। अभिनिवेश का अर्थ है– 'अत्यन्त गहराई मे प्रविष्ट'। कोई भी जीव मृत्यु की कामना नहीं करता और मृत्युभय से अपनी रक्षा का उपाय करता है। मृत्यु का भय कृमि कीट से लेकर बडे–बडे विद्वान महर्षियो तक को समान रूप से अत्यन्त गहराई से व्याप्त है।

चित्तवृत्तियाँ – महर्षि पतञ्जलि ने योग की परिभाषा देते हुये चित्तवृत्ति के निरोध का नाम योग बताया है। योग दर्शन मे चित्त शब्द को प्रयोग बुद्धि के लिये किया गया है। चित्त या बुद्धि जड है और पुरुष चेतन है, किन्तु अविद्या के कारण बुद्धि व पुरुष मे परस्पर सयोग हो जाता है और पुरुष स्वय को कर्त्ता अथवा भोक्ता समझने लगता है। बुद्धि व पुरुष के सयोग से बुद्धि–वृत्तियाँ चेतनवती हो उठती है और चित्त स्वय को चेतन समझकर चेतन की तरह कार्य करने लगता है। यही चित्त की वृत्ति है। त्रिगुणात्मक चित्त या बुद्धि ने ही अपने प्रख्या, प्रवृत्ति तथा स्थिति रूप से पुरुष के लिये ऐश्वर्य, विषय मे भोग आदि उपस्थित किया है। तमस् की अधिकता के कारण चित्त पुरुष के लिये अधर्म, अज्ञान, तथा अवैराग्य

---

[1] सुखानुशयी राग। – योगसूत्र –२/७

[2] दु खानुशयी द्वेष। – योगसूत्र २/८

[3] स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेश। – योगसूत्र २/९

एव रजस् की प्रधानता होने पर धर्म, वैराग्य व ऐश्वर्य से युक्त होता है जबकि प्रख्याशील अवस्था मे यह अणिमा आदि ऐश्वर्य का प्रेमी होता है।

योगशास्त्र के अनुसार चित्तवृत्तियो के निरोध से ही मोक्ष की प्राप्ति सभव है।[1] भव–बधन से मुक्ति चाहने वाले साधको के लिये अपने स्वरूप का बोध होना अत्यन्त आवश्यक है। जब पुरुष चित्त के सयोग से मुक्त हो जाता है तभी उसके लिये मोक्ष की प्राप्ति सभव है। पुरुष व बुद्धि के सम्बन्ध का विच्छेद तभी हो सकता है, जब चित्त की समस्त वृत्तियो का निरोध हो जाता है। उस समय पुरुष अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। वृत्तियॉ ससार मे प्रवृत्तियो के कारण ही होती हैं। चूँकि वे वासनाओ, धर्म एव अधर्म को उत्पन्न करने वाली है इसलिये वे क्लेश को जन्म देती है और क्लिष्ट कहलाती है। ये वृत्तियॉ योग साधना मे विघ्न उत्पन्न करने वाली होती है। पॉच क्लेशो अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश का क्षय करने वाली वृत्तियॉ अक्लिष्ट कही गयी है। ये वृत्तियॉ योग साधना मे सहायता करती है। वृत्तियो से सस्कार और सस्कार से वृत्तियॉ उत्पन्न होती है। जिस प्रकार रात के बाद दिन और दिन के बाद रात होने का चक्र निरन्तर चलता रहता है उसी प्रकार 'वृत्ति सस्कार चक्र' भी अहर्निश रूप से चलता रहता है और जब वृत्तियो का निरोध हो जाता है तब यह चक्र भी समाप्त हो जाता है। यद्यपि चित्त की असख्य वृत्तियॉ है पर महर्षि पतञ्जलि ने इन्हे पॉच श्रेणियो प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति[2] मे बॉटा है।

प्रमाण – योग दर्शन मे तीन प्रकार के प्रमाण–प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द माने गये हैं। विषयो का अन्त करण और इन्द्रियो के साथ बिना किसी व्यवधान के होने वाले भ्रमरहित एव सशयरहित ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण। प्रत्यक्ष के सहारे युक्तियो के द्वारा प्राप्त होने

---

[1] योगश्चित्त वृत्ति निरोध । – योगसूत्र १/२

[2] प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतय । – योगसूत्र १/६

वाला अप्रत्यक्ष ज्ञान अनुमान प्रमाण। तथा वेदशास्त्र व आप्त पुरुषो के वचन से प्राप्त होने वाला ज्ञान आगम प्रमाण कहलाता है।[1]

विपर्यय – विपर्यय मिथ्या ज्ञान को कहते है।[2] जब किसी वस्तु का ज्ञान उसके वास्तविक रूप के बजाय दूसरे रूप मे होता है, उसे विपर्यय वृत्ति कहते है। जैसे– रज्जु मे सर्प का ज्ञान या शुक्ति मे रजत् का आभास होना। जिस ज्ञान का निश्चित प्रमाण द्वारा बोध हो जाता है, वह मिथ्या ज्ञान है। हमे निश्चित प्रमाण के द्वारा शुक्ति व रज्जु का बोध हो जाता है। जिन इन्द्रियो के द्वारा यथार्थ ज्ञान होता है, उन्हीं इन्द्रियो के द्वारा मिथ्या ज्ञान भी होता है वाचस्पति मिश्र एव विज्ञानभिक्षु ने सशय को 'विपर्यय' कहा है।

विकल्प – केवल शब्द ज्ञान से उत्पन्न होने वाला, किन्तु वस्तु शून्य अर्थात् जिस वस्तु का ज्ञान हो उस वस्तु का अत्यन्त अभाव रहे ऐसा ज्ञान विकल्पवृत्ति कहलाता है।[3] विविध प्रकार की कल्पना ही विकल्प वृत्ति है जैसे–'बध्यापुत्र'। हम देखते है कि बध्यापुत्र का कोई अस्तित्व नही है, किन्तु शब्दो के द्वारा हमे उसका आभास होता है। अत केवल शब्द के आधार पर अविद्यमान पदार्थ की कल्पना करने वाली चित्त की वृत्ति विकल्पवृत्ति कहलाती है।

निद्रा – किसी वस्तु के अभाव को आलम्बन करने वाली वृत्ति निद्रा है।[4] जिस अवस्था मे मनुष्य को किसी भी विषय का ज्ञान नही रहता है, केवल ज्ञान के अभाव की ही प्रतीति होती है, उस ज्ञान के अभाव का ज्ञान जिस चित्तवृत्ति के आश्रित रहता है, उसे निद्रावृत्ति कहते है। योग दर्शन मे निद्रा को अभाव रूप न मानकर ज्ञान रूप माना गया है क्योकि सोकर उठने वाले पुरुष को जागृत अवस्था मे 'मै खूब हसा', 'मै खूब रोया' आदि कहते हुए पाया जाता है। अत निद्रा की अवस्था मे भी ज्ञान की सिद्धि होती है।

---

[1] प्रत्यक्षानुमानागमा प्रमाणानि। – योगसूत्र १/७

[2] विर्पययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्। –योगसूत्र १/८

[3] शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्प। – योगसूत्र १/९

[4] अभावप्रत्यालम्बनावृत्तिर्निद्रा। – योगसूत्र १/१०

स्मृति – यह चित्त की पॉचवी वृत्ति है। अनुभूत किये हुए विषय का ठीक–ठीक उसी रूप मे स्मरण होना स्मृति है। चारो वृत्तिया, प्रमाण, विपर्यय, विकल्प एव निद्रा के समान स्मृति को भी एक वृत्ति माना गया है।[1] इन चारो वृत्तियो द्वारा अनुभव मे आये हुए विषयो के जो सस्कार चित्त मे पडे रहते है, किसी निमित्त को पाकर पुन स्फुरित हो जाते है। इन सस्कारो का पुन स्फुरित हो जाना ही स्मृति है।

ये पॉचो चित्तवृत्तियॉ सुख–दुख मोहात्मक होने से त्रिगुणात्मक होने के कारण क्लेश रूप ही है। ये सभी वृत्तियॉ जीव को सुख–दुख का अनुभव कराती हुई बन्धन का कारण होती है। इन्ही वृत्तियो का निरोध तत्त्व ज्ञान से होता है और दुख की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। जब ये वृत्तियॉ अक्लिष्ट रूप होती है तब वे जीव के क्लेशो का क्षय करने वाली होती है। क्लिष्ट व अक्लिष्ट दोनो प्रकार की वृत्तियो के निरोध से ही समाधि मे सिद्धि की प्राप्ति होती है।

योग मे वृत्तियो का निरोध उनका न होना नही है, अपितु सत्कार्यवादी योग दर्शन मे निरोध से तात्पर्य तिरोभाव है। चित्त–वृत्तियो का तिरोभाव अभ्यास और वैराग्य से होता है।[2] तप, ब्रह्मचर्य, विद्या एव श्रद्धा के साथ दीर्घकाल तक निरन्तर अनुष्ठान से वृत्ति निरोध करने को अभ्यास कहते है। दृष्ट विषयो तथा आनुश्रविक विषयो से तृष्णा हटा लेने पर व्यक्ति जब विषयो को अपने वश मे कर लेने का बोध करते है, तब उसे वैराग्य कहते है।[3]

चित्तभूमियॉ - योग दर्शन मे गुणो की प्रधानता के आधार पर मानसिक अवस्था के भिन्न–भिन्न रूपो को माना गया है। ये चित्त की पॉच भूमियॉ है– क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध।

---

[1] अनुभूतविषयासम्प्रमोष स्मृति। – योगसूत्र १/११

[2] अभ्यासवैराग्याम्या तन्निरोध। – योगसूत्र १/१२

[3] दृष्टानुश्रविकविषय वितृष्णस्य वशीकार सञ्ज्ञा वैराग्यम्। – योगसूत्र १/१५

१ **क्षिप्त** – क्षिप्त अवस्था मे चित्त मे रजोगुण की प्रधानता होती है। रजोगुण की बहुलता के कारण विषय की ओर प्रेरित जो चित्त है वह क्षिप्त कहलाता है। इस प्रकार का चित्त प्राय दैत्यो, दानवो व धन के मद से उन्मत्त विभ्रमित पुरुषो मे पाया जाता है।

२ **मूढ** – मूढ अवस्था मे चित्त मे तमोगुण की प्रधानता होती है। तमोगुण के बढने से कृत्याकृत्य, विवेकशून्य, क्रोधादि से अभिभूत तथा निद्रादि से युक्त जो चित्त है वह मूढ कहलाता है। मादक द्रव्यो का सेवन करने वालो, राक्षस–प्रेत आदि मे चित्त की यह भूमि पाई जाती है।

३ **विक्षिप्त** – सत्त्वगुण का अविर्भाव होने के कारण चित्त यद्यपि कुछ देर के लिये किसी विषय मे लग जाता है, परन्तु रजस् के कारण वह पुन भटक जाता है। इस प्रकार वह सफलता और असफलता के बीच इधर–उधर भटकता रहता है। यह अवस्था योग–जिज्ञासुओ तथा देवताओ मे पायी जाती है। सत्त्व गुण की अधिकता होने के कारण, रजोगुण के रहते हुये भी इस अवस्था मे स्थिरता आ जाती है।

४ **एकाग्र** – यह चित्त की चतुर्थ अवस्था मानी गयी है। इस अवस्था मे चित्त रजोगुण–तमोगुण रूपी मल के सम्पर्क से रहित होने के कारण विशुद्ध सत्त्व प्रधान किसी सूक्ष्म तत्त्व के आलम्बन से, निर्वात देश मे रहने वाली स्थिर दीप–शिखा की तरह निश्चल रहता है। चित्त की यह अवस्था एकाग्र कही गयी है। विक्षिप्त अवस्था मे चित्त जहाँ रजोगुण के लेश अश से युक्त रहता है। वहाँ एकाग्रावस्था मे चित्त मे रजोगुण का लेशमात्र भी नहीं रहता है। वह केवल विशुद्ध सत्त्व गुण प्रधान होता है। प्रारम्भिक साधना करने वाले योगियो मे यह चित्त भूमि पायी गयी है।

५ **निरुद्ध** – चित्त की इस भूमि मे समस्त वृत्तियो का निरोध हो जाता है और केवल सस्कार मात्र शेष रहता है। इस अवस्था को निरुद्ध कहा जाता है। इस अवस्था मे चित्त अपनी स्वाभाविक शान्त अवस्था मे रहता है। इस अवस्था मे चित्त मे स्थिरता का प्रादुर्भाव पूर्ण रूप से होता है।

क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त अवस्थाये योगानुकूल नही मानी गयी है। केवल एकाग्र व निरुद्ध अवस्था को ही योगानुकूल माना गया है, क्योकि ये दोनो अवस्थाये स्वरूपावास्थिति का हेतु और क्लेश कर्मादि का परिपन्थी होने के कारण समाधि की साधिका होती है।

क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त चित्त की साधारण अवस्थाये है जबकि एकाग्र और निरुद्ध असाधारण अवस्थाये है। एकाग्र भूमि की प्राप्ति होने पर सभी प्रकार के क्लेश कर्मादि बन्धनो का टूटना शुरू हो जाता है वही निरुद्धावस्था मे साधक समाधि मे स्थिर हो जाता है चित्त वृत्तियो का जब पूर्णतया निरोध हो जाता है तो आत्मा का स्वरूप स्पष्टत दिखाई देने लगता है यही अवस्था योग या समाधि है।

योग के अष्टाग मार्ग–

योग दर्शन मे चित्तवृत्तियो का निरोध करने के लिये योग–मार्ग की व्याख्या की गयी है। चित्त के अनेक विकारो से दूषित होने के कारण आत्म–ज्ञान सभव नहीं हो पाता है। जब मनुष्य का हृदय शुद्ध एव बुद्धि निर्मल हो जाती है तभी आत्मज्ञान सभव है। चित्त की समस्त वृत्तियो का निरोध करके उसकी शुद्धता और पवित्रता के लिये योग मे आठ–साधन बताये गये है। ये अष्टाग साधन है–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।[1] मनुष्य को इन अष्टाग मार्गो पर चलने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। ये साधन, मन, वचन और काय की शुद्धि करके उसे दोष या विकारो से रहित करके अन्तिम योग साधना के लिये शक्ति सम्पन्न करके उसमे अर्हता लाने के उद्देश्य से माने गये है।

१ **यम** - यम का अर्थ है 'सयम'। कायिक, मानसिक व वाचिक सयम को यम कहते है। मिथ्या, हिसा, मैथुन, तथा परिग्रह का अभाव ही यम है। यम के पॉच अग है– अहिसा, सत्य, अस्तेय व अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य।[2]

---

[1] यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोष्टाड्गानि। – योगसूत्र २/२९

[2] अहिसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा । – योगसूत्र २/३०

अ **अहिसा** – योगदर्शन मे अहिसा का अर्थ केवल किसी प्राणी के प्रति हिसा न करना ही नही है, बल्कि उनके प्रति क्रूर व्यवहार का परित्याग करना भी है।

ब **सत्य** – सर्वभूतो की हितकामना से खूब परीक्षा करके कोई वस्तु जैसी देखी, सुनी व अनुमान की गयी हो, उसको उसी प्रकार कहना सत्य का लक्षण है।

स **अस्तेय** – चोरी न करना, किसी दूसरे के धन का अपहरण अथवा इच्छा न करना अस्तेय कहलाता है।

द **ब्रह्मचर्य** – सभी प्रकार के मैथुन का परित्याग अथवा जितेन्द्रिय होना ब्रह्मचर्य है।

य **अपरिग्रह** – अति आवश्यक वस्तुओ को छोडकर किसी अन्य वस्तु को न लेना अपरिग्रह कहलाता है। ये सभी यम हमारे अन्तस् की वासना को शुद्ध करने वाले है।

२ **नियम** – बाह्य शरीर व मन की शुद्धि के लिये जो अनुष्ठान अपेक्षित है उन्हे नियम कहा गया है। नियम की एक अन्य परिभाषा के अनुसार जो शुभ कार्यो मे प्रवृत्त कराते है, वे नियम है।[१] नियम भी पॉच प्रकार के माने गये है– शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय व ईश्वर प्राणिधान।[२]

अ **शौच**– बाह्य शुद्धि अर्थात् स्नानादि के द्वारा बाह्य शरीर की शुद्धि तथा अभ्यन्तर शुद्धि अर्थात् मानसिक, शुद्धि, यथा–मैत्री, करुणा आदि के द्वारा शुद्धियॉ ही शौच है।

ब **सन्तोष** – यथालब्ध से ही प्रसन्न रहने का नाम सन्तोष है। इसके अभ्यास से सासारिक तृष्णा का क्षय होता है।

स **तप** – सर्दी–गर्मी आदि ऋतुओ के प्रभाव को समभाव से सहना तथा कठिन व्रतो का पालन करना ही तप है।

द **स्वाध्याय** – अध्यात्म–ग्रथो का नियमपूर्वक अध्ययन करना स्वाध्याय है।

य **ईश्वर प्राणिधान** – ईश्वरोपासना और उनको सब कुछ अर्पित कर देना ईश्वर प्राणिधान है।

---

[१] नियमन्ति प्रेरयन्तीति नियमा। (व्याकरण के अनुसार)

[२] शौचसन्तोषतप स्वाध्यायेश्वरप्राणिधानानि नियमा।– योगसूत्र २/३२

३ **आसन** – इस अनुष्ठान मे पुरुष को 'आसन' अर्थात् बैठने की स्थिति का उपदेश दिया गया है। शरीर को सुख देने एव उसको स्थिर रखने वाले जो बैठने के तरीके है, वे आसन कहलाते है।[1] पद्मासन, सिद्धासन, वीरासन, मयूरासन, सिहासन, भद्रासन आदि अनेक प्रकार के आसन है। इनमे से जो सुखदायी हो और जिससे स्थिर रूप से बैठा जा सके उसी आसन को अपनाना चाहिये। इन आसनो का हमारे सामान्य जीवन मे बहुत महत्त्व है। इनके नियमित अभ्यास द्वारा अनेक व्याधियो से छुटकरा पाया जा सकता है।

४ **प्राणायाम** – शरीर को स्वस्थ्य और मन को स्थिर रखने के लिये प्राणायाम बहुत आवश्यक है। प्राणादि वायु ही अन्तकरण को धारण करने वाला है। अत उसके नियत्रण से अन्तकरण या चित्त के नियत्रण मे बहुत सहायता मिलती है। श्वॉस वायु के स्थगित होने से चित्त मे स्थिरता का उदय होता है। प्राणायाम का वास्तविक फल ही चित्त की एकाग्रता है। प्राण वायु के चचल होने के कारण ही चित्त मे चचलता आती है और चचल चित्त ध्यान, धारणा व समाधि के लिये उपयोगी नहीं होता। इस प्रकार श्वॉस–प्रश्वॉस की स्वाभाविक निरन्तर प्रवहणशील जो गति है उसका विच्छेद हो जाना या रुक जाना ही 'प्राणायाम' है।[2] प्राणायाम 'रेचक', 'कुम्भक' तथा 'पूरक' तीन प्रकार का माना गया है। रेचक व पूरक मे यद्यपि गति रहती है, तथापि स्वाभाविक गति का विच्छेद वहाँ भी होता है। बाह्य वायु का अन्तप्रवेश श्वॉस है तथा अन्तवायु का बाहर निकलना प्रश्वॉस है। श्वॉसपूर्वक गति का अभाव पूरक तथा प्रश्वॉसपूर्वक गति का अभाव रेचक प्राणायाम कहा जाता है। कुम्भक मे बाह्य व अभ्यन्तर दोनो का सकोच हो जाता है। श्वॉस गति को भीतर रोकना ही कुम्भक है। प्राणायाम किसी योग्य गुरु से सीखना चाहिये। प्राणायाम से इन्द्रियो के मल नष्ट हो जाते हैं और प्रकाश का आवरण

---

[1] स्थिरसुखमासनम्। –योगसूत्र २/४६

[2] श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेद प्राणायाम। – योगसूत्र २/४९

भी क्षीण हो जाता है।[1] ससार का मूल कर्म जो प्रकाश का आच्छादक है वह प्राणायाम से दुर्बल होकर क्षीण होता रहता है। यह प्राणायाम का अवान्तर फल है। इसका मुख्य फल तो धारणा के लिये योग्यता प्राप्त करना है। जब यम, नियम, आसन व प्राणायाम के नियमपूर्वक अनुष्ठान से योगी का मन परिमार्जित हो जाता है, तभी वह धारणा का अधिकारी होता है। प्राणायाम के बिना मन सस्कृत या शुद्ध नहीं हो सकता है और मन के सस्कार के बिना योगी मे धारणा करने की योग्यता नहीं आती। अत धारणा की योग्यता की प्राप्ति प्राणायाम द्वारा ही सभव है।

५ <u>प्रत्याहार</u> – विषयो की ओर से, इन्द्रियो को निर्विकार आत्मा मे आसक्त चित्त के अनुकूल कर देना ही प्रत्याहार है। सासारिक रागविद्ध विषयो मे जब मन चलता है तब इन्द्रियॉ भी ललक कर उसी ओर चल पडती है। मन का सयम हो जाने से उनका सयम स्वत हो जाना चाहिये, परन्तु कभी-कभी ऐसा नहीं होता है। कभी–कभी यह मन इन्द्रियानुगामी होता है। विषय का इन्द्रिय प्रत्यक्ष होते ही मन ललचाने लगता है इसलिये मन का सयम पर्याप्त नहीं है, बल्कि इन्द्रियो का निरोध भी आवश्यक है। यही प्रत्याहार है। इस प्रकार अपने विषयो के सम्बन्ध से रहित होने पर इन्द्रियो का चित्त के स्वरूप मे तदाकार सा हो जाना ही प्रत्याहार है।[2] इस अवस्था मे इन्द्रियो के सामने विषयो के रहने पर भी हम देख, सुन व सूँघ नहीं सकते है। यह अवस्था अत्यन्त कठिन है किन्तु असभव नहीं। इसकी सिद्धि के लिय दृढ सकल्प और प्रौढ इन्द्रियनिग्रह की आवश्यकता पडती है। प्रत्याहार के लिये वस्तुत मन का सयम ही मुख्य है। यह एक प्रकार से प्राणायाम का ही फल है।

उपर्युक्त पॉचो अनुष्ठान योग के बहिरग साधन है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम व प्रत्याहार का योग से साक्षात् सम्बन्ध नही है। ये एक प्रकार से धारणा, ध्यान व समाधि की तैयारी मात्र है। अब हम योग के अतरग साधनो की विवेचना करेगे।

---

[1] तत क्षीयते प्रकाशावरणम्। – योगसूत्र २/५२

[2] स्वविषयेस प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणा प्रत्याहार। – योगसूत्र २/५४

६ **धारणा** – चित्त वृत्ति को आभ्यन्तर या बाह्य किसी भी विषय मे लगा देना अथवा बॉध देना ही धारणा है। इसमे चित्त को अभीष्ट विषय पर जमाया जाता है। धारणा वस्तुत समाधि का प्रथमोपाय मात्र है। इसमे चित्त का स्थिरीकरण मूलाधार, नाभिचक्र, हृदय, पुण्डरीक, ललाट आदि आभ्यन्तर विषय अथवा देवगण या उनकी प्रतिमाओ आदि बाह्य विषयो पर करने का अभ्यास किया जाता है। महर्षि पतञ्जलि ने कहा है कि देश विशेष मे चित्त को दृढ करना ही धारणा है।[1] जब धारणा परिपक्व हो जाती है तब ध्यान की स्थिति आती है।

७ **ध्यान** – ध्येयाकार चित्त की एकाग्रता ही ध्यान है।[2] ध्यान की अवस्था मे चित्तवृत्ति का प्रवाह निरन्तर एक ही दिशा मे होना चाहिये, किसी अन्य विषय की ओर नही। अर्थात् चित्तवृत्ति जिस देश या स्थान (नाभि या देव प्रतिमा) मे लग चुकी हो उसी मे एकाग्रता का होना ध्यान है। ध्यान के द्वारा विषय का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। पहले भिन्न–भिन्न अशो का बोध होता है। तत्पश्चात् अविराम ध्यान के द्वारा वस्तु का सम्पूर्ण चित्र सामने आ जाता है और उसके असली तथा वास्तविक स्वरूप का दर्शन हो जाता है। ध्यान का लक्षण एकाग्रता है। धारणा व ध्यान मे अन्तर यह है कि धारणा मे ध्येय वस्तुत विच्छिन्न प्रतीत होता है जबकि ध्यान मे ध्येय की एकरूपता स्पष्ट दिखाई देती है। धारणा आधार विषयक वृत्ति है जबकि ध्यान आधेय विषयक।

८ **समाधि** – यह अन्तिम योगाग है। इस अवस्था मे ध्येय वस्तु की ही चेतना रहती है। इस अवस्था मे ध्येय विषय और ध्यान की क्रिया दोनो अलग–अलग नहीं रहती है, बल्कि समाधि की अवस्था मे ध्यान ध्येय मे खो जाता है।[3] धारणा, ध्यान और समाधि ये तीन अग मिलकर 'सयम' शब्द से अभिहित हैं। तीनो के अर्थ मे इसे परिभाषिक शब्द समझना चाहिये।[4]

---

[1] देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। – योगसूत्र ३/१

[2] तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। – योगसूत्र ३/२

[3] समाधिर्ध्यानमेव ध्येयाकार निर्भास प्रत्ययात्मके स्वरूपेण शून्यमिव यदाभवति ध्येय स्वभावा वेशा तदा समाधि रित्युच्यते। – व्यासभाष्य, योगसूत्र ३

[4] त्रयमेकत्र सयम योगसूत्र –३/४ तदस्य त्रयस्य तालिकी परिभाषा सयम इति व्यासभाष्य।

समाधि दो प्रकार की मानी गयी है– सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। सम्प्रज्ञात समाधि को सविकल्प एव सबीज समाधि कहते है। असम्प्रज्ञात समाधि को निर्विकल्प एव निर्बीज समाधि भी कहते है।

<u>**सम्प्रज्ञात समाधि**</u> – मे केवल बाह्य विषयक चित्तवृत्तियो का ही निरोध होता है। आत्मविषयक सात्त्विकी चित्तवृत्ति बनी ही रहती है। यह चित्त की वह अविचलित और अक्षुब्ध अवस्था है, जिसमे ध्येय वस्तु के उपर चित्त चिरकाल तक स्थिर रहता है। इस अवस्था मे चित्त के समाहित होने के लिये किसी आलम्बन के न होने के कारण इसे सबीज समाधि कहते है।

इस प्रकार जिस अवस्था मे ध्येय(आत्मा) का ज्ञान सम्यक् प्रकार से होता है वही सम्प्रज्ञात समाधि है। सम्प्रज्ञात समाधि चार प्रकार की होती है– वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत।

वितर्कानुगत – स्थूल विषयक साक्षात्कार का नाम वितर्क है। जब किसी स्थूल विषय के आलम्बन से चित्त को एकाग्र किया जाता है तो वह समाधि वितर्कानुगत सप्रज्ञात समाधि होती है। जैसे – मूर्ति पर ध्यान केन्द्रित करना।

विचारानुगत – स्थूल स्वरूप का ज्ञान हो जाने के उपरान्त जब एकाग्र चित के आलम्बन का विषय सूक्ष्म होता है तब वह अवस्था विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है। इस अवस्था मे तन्मात्राये मन को एकाग्र करने का माध्यम बनती हैं।

<u>**आनन्दानुगत**</u> – सत्त्व गुण की अधिक उत्कृष्टता के लिये जब उससे भी सूक्ष्म इन्द्रियो को आश्रय का विषय बनाकर चित्त की तदाकाराकारित वृत्ति के साथ आनन्द के अनुभव के पृथक् अस्तित्व का ज्ञान होने पर आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है।

<u>**अस्मितानुगत**</u> – मन की एकाग्रता का जब अह आश्रय होता है तो ध्यान का विषय अस्मिता या अहकार ही होता है तथा अन्यवृत्तियो का अभाव हो जाता है तो अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि होती है।

सम्प्रज्ञात समाधि मे पुरुष–प्रकृति की भिन्नताख्याति लक्षणात्मिका जो वृत्ति है, जिसमे विशुद्ध सत्त्व ही प्रधान रहता है, उसका निरोध नही होता।

सम्प्रज्ञात समाधि एक प्रकार से असम्प्रज्ञात समाधि का द्वार है। सम्प्रज्ञात समाधि के अनन्तर जब पूर्ण व अचल अवस्था का उदय होता है तब चित्त शान्त प्रवाह मे बहता है, किन्तु इसमे ज्ञाता ज्ञेय का अन्तर बना रहता है और इस अन्तर की समाप्ति असम्प्रज्ञात समाधि मे होती है।

<u>असम्प्रज्ञात समाधि</u>[1]– सम्प्रज्ञात समाधि की अन्तिम अवस्था मे भी चित्त के लिये कोई न कोई आलम्बन बना ही रहता है, किन्तु जब ध्यान करते–करते चित्त का कोई भी आलम्बन शेष नही रहता और उसका सम्बन्ध सभी प्रकार के विषयो से समाप्त हो जाता है और वह ज्ञान, ज्ञाता व ज्ञेय की त्रिपुटी से भिन्न हो जाता है, तो यही अवस्था असम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है। इस अवस्था मे समस्त वृत्तियो का निरोध हो जाता है। इस समाधि मे सभी वृत्तियो का निरोध हो जाने के कारण चित्त शात, निश्चल एव नि स्पृह हो जाता है। समस्त कर्माशय व क्लेशो का नाश हो जाता है। सस्कार शेष रह जाते हैं। परन्तु ये प्राचीन सस्कार योगपक्षीय सस्कार कैवल्य पक्ष के सस्कारो से निवृत्त हो जाते है। उनके निवृत्त हो जाने पर पुरुष अपने रूप मे प्रतिष्ठित होकर योग के बल से मुक्त और शुद्ध हो जाता है। यह समाधि दो प्रकार की होती है। १ उपाय प्रत्यय और २ भव प्रत्यय । 'उपाय प्रत्यय' 'असम्प्रज्ञात समाधि' योगियो की होती है और उन योगियो को जो सम्प्रज्ञात योग को पूर्णतया सिद्ध करने के फलस्वरूप निर्विप्लव विवेकख्याति का लाभ कर चुके है और उससे आगे भी योग साधना मे रत रहने वाले होते है। 'तत्रोपायप्रत्ययो योगिना भवति'। जबकि 'भव प्रत्यय' असम्प्रज्ञात समाधि विदेहो तथा प्रकृतिलीनो को होती है। 'भवप्रत्ययोविदेह प्रकृतिलयानाम्'। विदेहो तथा प्रकृतिलीनो को तत्तद्रूप प्राप्त होते ही सकलज्ञानहीन सस्कारमात्रावशिष्ट

---

[1] तस्यापिनिरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजसमाधि । – योगसूत्र १/५१

स्थितिस्वत प्राप्त हो जाती है। यह स्थिति 'असम्प्रज्ञात समाधि' की होती है तथा यह सामाध्यावस्था 'भव प्रत्यय' कहलाती है। समाधिभाव मे उदय हुई ऋतभरा प्रज्ञा से उत्पन्न सस्कार-क्लेश के क्षय का सम्पादन करते है। इसी प्रज्ञा के कारण चित्त के भटकने का अधिकार सर्वदा के लिये छिन जाता है।

इस प्रकार उर्पर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि जब साधक चित्त वृत्तियो का निरोध करना प्रारम्भ करता है तो उसे एक लम्बी यात्रा के लिये प्रस्थान करना पडता है। इस योग मार्ग मे योगी के समक्ष अनेक प्रकार के प्रलोभन आते है परन्तु योगी को अपने आत्मसाक्षात्कार रूपी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये दृढ रहना चाहिये उसे चाहे किसी भी प्रकार का प्रलोभन दिया जाये उसे विचलित नही होना चाहिये। योग साधना मे प्रत्येक चरण बढने पर योगी की प्रज्ञा सूक्ष्मतम पदार्थो, गुणो, उनकी समस्त स्थितियो का धर्मो सहित धीरे-धीरे प्रत्यक्ष की भॉति स्पष्ट रूप ग्रहण करने लगती है। उसके सस्कार भी क्षीण हो जाते है तथा वह प्रज्ञा मे स्थित हो जाता है जो साधक को सासारिक बधनो से मुक्त करके मोक्ष की ओर ले जाती है। योग की भिन्न-भिन्न अवस्था मे पहुँचकर साधक भिन्न-भिन्न चमत्कारो को प्राप्त करता है। योग की चार अवस्थाये मानी गयी है-

१ योग साधन के अभ्यास मे प्रवृत्त साधक को 'कल्पिक' कहते है अभ्यास के अभाव से इसमे किसी प्रकार का चमत्कार नही होता है।

२ दूसरी अवस्था मे साधक समाधि मे कुछ सिद्धियॉ प्राप्त कर लेता है और उसका चित्त जब निर्विचार समाधि मे समाहित हो जाता है तब उसमे एक प्रकार की प्रज्ञा का उदय होता है। यह प्रज्ञा सत्य ही सत्य का पालन करने वाली होती है उसमे मिथ्या की गध भी नही रहती है। इसे ऋतभरा प्रज्ञा कहते है। इस प्रज्ञा को प्राप्त करके योगी 'मधुभूमिक' कहलाता है।

३ योग की तृतीय अवस्था मे साधक पचमहाभूतो एव इन्द्रियो पर विजय प्राप्त कर लेता है। परन्तु चित्त ज्ञानादि चमत्कार प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था को 'प्रज्ञाज्योति' कहा गया है।

४ योग की चतुर्थ अवस्था मे असम्प्रज्ञात समाधि सिद्धि योगी का एकमात्र चित्त को लय करने का ध्येय रहता है। सब भावनाओ का अतिक्रमण करने के कारण योगी मे कोई आकाक्षा शेष नही रहती है। इस अवस्था का योगी 'अतिक्रान्त भावनीय योगी' कहलाता है।

कैवल्य – वह चरम अवस्था जहाँ पहुँचकर साधक का पुन त्रिगुणो से कभी मेल नही होता है कैवल्य कहलाती है। गुणो से साधक का मेल होना ही सभी दु खो का कारण है और अविद्या के कारण साधक इस कुसग मे फँस जाता है। अत जब अविद्या की समाप्ति हो जाती है, तो साधक का यह कुसग भी छूट जाता है और उसकी अपने स्वरूप मे स्थिति होती है। साधक की यह स्वस्वरूप (अपने स्वरूप) मे स्थिति ही कैवल्य कहलाती है।[1] सर्वज्ञ होने पर योगी वैराग्य के द्वारा क्लेश उत्पन्न करने वाले बीजो का भी क्षय कर देता है और पुन इन बीजो मे क्लेश अकुरित करने की शक्ति नही रह जाती है। इस प्रकार आत्मा को गुणो से आत्यन्तिक वियोग प्राप्त करके अपने स्वरूप मे प्रतिष्ठित होना ही कैवल्य है।

इधर त्रिगुणात्मिका प्रकृति भी अपने रज और तम गुण से ऊपर उठकर अपने शुद्ध सत्त्वरूप से पुरुषरूप का ही अनुकरण करती है। फिर वह मिथ्याभोगो से शून्य हो जाती है। यही अवस्था कैवल्य है।[2]

इस प्रकार अष्टाग मार्ग का पालन करके योगी कैवल्य को प्राप्त करता है। जहाँ उसे निजस्वरूप की प्राप्ति होती है।

---

[1] तद्भावात् सयोगाभावोहान तद्दृशे कैवल्यम्। – योगसूत्र २/२५

[2] सत्यपुरुषयो शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति। – योगसूत्र ३/५५

चतुर्थ अध्याय

न्याय–वैशेषिक दर्शन

पूर्व अध्याय की भॉति प्रस्तुत अध्याय मे हम न्याय और वैशेषिक दोनो वस्तुवादी दर्शनो का एक साथ विवेचन करेगे। न्याय व वैशेषिक दोनो समान तन्त्र है ये दोनो दर्शन अपने उद्‌गम स्थल से भिन्न–भिन्न होते हुए भी आगे चलकर नदी की दो धाराओ की भॉति आपस मे मिल गये। न्याय दर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम है। इनका दूसरा नाम अक्षपाद होने के कारण न्याय दर्शन 'अक्षपाद दर्शन' भी कहलाता है। गौतम ने न्याय दर्शन के मूलग्रन्थ "न्यायसूत्र" की रचना की। वैशेषिक दर्शन का प्रवर्तक महर्षि कणाद् को माना जाता है। इन्होने वैशषिक के मूलग्रन्थ "वैशेषिक सूत्र" की रचना की । महर्षि कणाद् का अन्य नाम उलूक होने के कारण यह दर्शन "औलूक्य दर्शन' के नाम से भी जाना जाता है, किन्तु आगे चलकर अन्नभट के तर्कसग्रह एव विश्वनाथ के भाषा–परिच्छेद या कारिकावली मे दोनो दर्शनो का एक साथ प्रतिपादन किया गया है। इसके अतिरिक्त न्यायवार्तिक, न्यायसूची निबन्ध, न्यायमजरी, न्यायकुसुमाजलि, प्रशस्तपादभाष्य, या पदार्थ -घर्मसग्रह, किरणावली, उपस्कार आदि ग्रन्थो से न्याय–वैशेषिक की जानकारी प्राप्त होती है।

वैशेषिक दर्शन मे तत्त्वमीमासा का प्रधान है, वही न्याय दर्शन मे तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमासा को महत्त्व दिया गया है। न्याय व वैशेषिक दर्शनो मे कुछ बिन्दुओ पर मतभेद है यथा–वैशेषिक दर्शन मे सिर्फ प्रत्यक्ष एव अनुमान को प्रमाण के रूप मे स्वीकार किया गया है वहीं न्याय दर्शन मे प्रत्यक्ष व अनुमान के अतिरिक्त शब्द और उपमान सहित प्रमाणो की सख्या चार स्वीकृत की गयी है।

इन दोनो दर्शनो मे दूसरा अन्तर यह है कि वैशेषिक दर्शन मे सात पदार्थो – द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय व अभाव को माना गया है और इनका सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। वहीं न्यायदर्शन सोलह पदार्थो प्रमाण, प्रमेय, सशय, प्रयोजन, दृष्टान्त,

सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति ओर निग्रह को माना गया है। न्याय दर्शन मे आत्मतत्व का विवेचन प्रमेय के अन्तर्गत किया गया है। इस प्रकार दोनो दर्शनो मे मूलत यही दो अन्तर है। शेष बातो मे दोनो दर्शनो मे समानता पाई जाती है।

न्याय व वैशेषिक दर्शन मे आत्मतत्त्व का विवेचन समान रूप से किया गया है। इसके अतिरिक्त दोनो दर्शनो का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। न्याय दर्शन के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति तत्त्वज्ञान के द्वारा होती है और तत्त्वज्ञान की प्राप्ति प्रमाणो का ज्ञान होने पर सभव है। नैयायिक सोलह पदार्थो के ज्ञान को ही मोक्ष प्राप्ति का साधन मानते है। वही वैशषिक दर्शन के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति धर्म से सभव है। महर्षि कणाद् ने स्पष्ट रुप से उल्लिखित किया है कि धर्म मोक्ष का साधन है, इससे तत्त्व ज्ञान और नि श्रेयस की प्राप्ति होती है।[1] इसलिये धर्म का विवेचन ही उनका प्रतिपाद्य विषय है। वैशेषिको के अनुसार सात पदार्थो के ज्ञान से ही नि श्रेयस की प्राप्ति होती है। वैशेषिक इन्ही सात पदार्थो मे न्याय के सारे पदार्थो को अन्तर्विष्ट कर लेता है। न्याय और वैशेषिक दोनो एक ही सिद्धान्त के दो पक्षो को उपस्थित करते हैं। वैशेषिक का झुकाव जहाँ प्रमेय की ओर अधिक है वहीं न्याय का उद्देश्य प्रमेयो की प्रमा के लिये उपेक्षित प्रमाणो की प्रमाणिकता सिद्ध करने का है। न्याय दर्शन मे प्रमाणो का प्रतिपादन करके प्रमेय विषयक अवधारणाओ को स्पष्ट किया गया है। वहीं वैशेषिक दर्शन प्रमेय विवेचन के अतिरिक्त अपने प्रमाण विषयक मत की व्याख्या करता है।

न्याय दर्शन मे जिन सोलह पदार्थो को स्वीकार किया गया है। प्रमेय इनमे से दूसरा है। ज्ञान के विषय को प्रमेय कहा जाता है। महर्षि गौतम ने अपने न्याय सूत्र मे बारह प्रमेयो आत्मा, शरीर, पचज्ञानेन्द्रियो, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दु ख और अपवर्ग को माना है।[2] न्याय दर्शन के अनुसार इन प्रमेयो का ज्ञान प्राप्त

---

[1] यतोऽभ्युदयनि श्रेयससिद्धि स धर्म। — वैशषिक सूत्र – १/१/२

[2] आत्मशरीरेन्द्रियार्थ बुद्धिमन प्रवृत्ति दोषप्रेत्यभावफलदु खापवर्गास्तु प्रमेयम्। — न्याय सूत्र १/१/९

करना आवश्यक है। इनमे से आत्मा व अपवर्ग का हम प्रसगानुसार आगे विवेचन करेगे शेष प्रमेय इस प्रकार है–

शरीर – सुख–दु ख आदि भोगो का आयतन या आधार शरीर है। यह शरीर विभिन्न व्यापारो का आधार है। चूँकि शरीर के द्वारा ही सुख एव दु ख का भोग किया जाता है, इसलिये 'भोगायतन'[1] भी कहते है। न्यायसूत्र के अनुसार चेष्टा, इन्द्रिय और अर्थो का आधार शरीर ही है। इच्छित वस्तु की अभिलाषा और अनिच्छित वस्तु को दूर करने के लिये जो क्रिया की जाती है उसे 'चेष्टा' कहते है। चूँकि पॉचो ज्ञानेन्द्रियॉ शरीर मे ही निवास करती है इसी कारण शरीर प्रत्यक्षत इन्द्रियाश्रय है। इसी प्रकार वह अर्थाश्रय इसलिये कहा जाता है कि इन्द्रिय और अर्थो के सन्निकर्ष से जो दु ख का प्रतिसवेदन होता है। वह शरीर मे ही होता है।[2] यह शरीर नश्वर है। अपने प्रारब्ध कर्मो के अनुसार आत्मा भिन्न–भिन्न शरीरो को धारणा करती व भोगती है तथा भोग की समाप्ति हो जाने पर शरीर की समाप्ति हो जाती है, किन्तु आत्मा का क्षय नहीं होता, बल्कि वह पुर्नजन्म ग्रहण करता है यह पुर्नजन्म का चक्र तब तक चलता रहता है जब तक आत्मा को मोक्ष की प्राप्ति नही हो जाती है। आत्मा व शरीर का सम्बन्ध अनादि है।

इन्द्रिय – जिनके द्वारा आत्म–तत्त्व बाह्य वस्तुओ का भोग करता है, वे इन्द्रियॉ है। इन्द्रियॉ शरीर से सयुक्त रहने के कारण भोग का साधन है। ये दो प्रकार की होती हैं। बाह्येन्द्रिय व अन्तररिन्द्रिय। मन अन्तररिन्द्रिय है जबकि चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक् एव श्रोत ये पॉच बाह्येन्द्रियॉ है। इनके द्वारा क्रमश देखना, चखना, सूँघना, छूना एव सुनना ये कार्य सम्पादित किये जाते है। ये इन्द्रियॉ क्रमश तेज, जल, पृथ्वी, वायु और आकाश इन पचमहाभूतो के प्रतिरूप हैं।

---

[1] तस्य भोगायतनम् – तर्कभाषा

[2] चेष्टोन्द्रियार्थश्रय शरीरम् – न्यायसूत्र १/१/११

अर्थ – इन्द्रियो द्वारा भोग की जाने वाली वस्तुओ के समूह को 'अर्थ' कहते है। रूप, रग, गध, स्पर्श और शब्द ये क्रमश तेज, जल, पृथ्वी, वायु एव आकाश आदि के गुण है। वैशेषिक दर्शन मे द्रव्य, गुण, कर्म आदि अर्थ कहे गये है।

बुद्धि – न्याय दर्शन मे बुद्धि को ज्ञान या उपलब्धि का ही समानार्थक माना गया है। इसमे ज्ञान का नाम ही बुद्धि है। न्याय दर्शन मे बुद्धि कोई पृथक् इन्द्रिय न होकर अर्थ का ग्राहक है। अर्थ का ग्राहक होने के कारण इसे उपलब्धि या अर्थोपलब्धि कहा गया है।

मनस्- दु ख–सुख का जो ज्ञान है, उसके साधन इन्द्रिय का नाम मनस् है। सुख–दु ख, इच्छा, राग, द्वेष आदि आत्मा के गुणो का ज्ञान मन के द्वारा ही होता है। न्याय दर्शन मे मन की सत्ता के प्रमाणन मे कहा गया है कि एक साथ कई ज्ञान की उत्पत्ति न होने देना, इस बात का प्रमाण है कि पदार्थ और इन्द्रियो के सम्पर्क के अतिरिक्त ज्ञान का कारण 'मन' का भी इन्द्रियो के साथ सम्पर्क हुये बिना ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। मन अणु रूप एव नित्य है। चूँकि मन अणु रूप है इसलिए यह सब इन्द्रियो के साथ एक ही काल मे नहीं रह सकता है। कभी–कभी हम देखते है कि इन्द्रियो का पदार्थो के साथ सन्निकर्ष होने पर भी हमे उसका ज्ञान नहीं हो पाता इसका कारण यह है कि इन्द्रियो के साथ मन के सयोग का अभाव होता है। अत पदार्थो के ज्ञान के लिये इन्द्रिय व पदार्थो के सन्निकर्ष के साथ–साथ मन का इन्द्रियो से सम्पर्क होना आवश्यक है। प्रत्येक जीवात्मा के साथ एक मन रहता है जो एक आत्मा को दूसरे आत्मतत्त्व से पृथक् रखता है। इसी कारण न्याय मत मे आत्मा को अनेक माना गया है।

प्रवृत्ति– मन, वचन व शरीर से जो कुछ व्यापार या क्रिया की जाती है, उसे प्रवृत्ति कहते है। ये तीनो क्रियाये शुभ व अशुभ के भेद से दो–दो प्रकार की होती है। इस प्रकार प्रवृत्तियो की सख्या छ हो जाती है। शुभ प्रवृत्तियो के कारण हममे अच्छे कर्मो यथा–दान देना, सत्य का पालन करना, दूसरो की सेवा करना व मन मे दया का भाव उत्पन्न होता है। वहीं हिंसा, अस्तेय, अनृत, परनिन्दा, नास्तिकता आदि क्रियाये अशुभ प्रवृत्तियो के कारण होती है।

दोष– जिसके कारण प्रवृत्ति होती है, उसी का नाम दोष है। ये तीन प्रकार का होता है–राग, द्वेष, एव मोह। इनके कारण ही कायिक, वाचिक तथा मानसिक प्रवृत्तियाँ होती है। किसी पदार्थ को जानकर उससे सुख का अनुभव करके मनुष्य मे राग व उससे दु ख का अनुभव करके मनुष्य मे द्वेष की उत्पत्ति होती है। अत द्वेष व मोह के वश मे होकर प्राणी वह काम करता है जिससे सुख व दु ख मिलता है। अनुभव का कारण प्रवृत्ति होने की वजह से राग–द्वेषादि दोषो को प्रवृत्ति का परिणाम कहा जाता है।

प्रेत्यभाव– मृत्यु के पश्चात् पुनर्जन्म लेने को प्रेत्यभाव कहा जाता है। मनुष्य का सम्बन्ध स्पष्ट रुप से शरीर, इन्द्रिय, मन, सवेदना व बुद्धि से है। जब मनुष्य की मृत्यु हो जाती है तब इन सभी सम्बन्धो की समाप्ति हो जाती है। पुनर्जन्म के होने पर यही सम्बन्ध दूसरे शरीर से होता है। यह सम्बन्धाभ्यास अपवर्ग की प्राप्ति होने तक निरन्तर चलता रहता है।

फल - प्रवृत्ति व दोष के परिणाम को ही फल कहते है। सुख व दु ख के साक्षात्कार का नाम ही फल है। हम जो भी कर्म करते है उन कर्मो के अनुसार हमे सुख या दु ख रूपी फल की प्राप्ति होती है। कुछ कर्म तुरन्त फल देते है तो कुछ कर्म बाद मे फल देते है और कुछ कर्म जन्म–जन्मान्तर तक फलो को प्रदान करते रहते है। जन्म–जन्मान्तर मे फल देने वाले कर्म अदृष्ट को उत्पन्न करते है जो उचित समय आने पर कर्म–फल प्रदान करता है। एक शरीर द्वारा किये गये कर्मो का फल दूसरे शरीर को अदृष्ट व आत्मा की एकता के कारण भोगना पडता है।

दु:ख– न्याय दर्शन मे दु ख को ग्यारहवे प्रमेय के रूप मे स्वीकृत किया गया है। अपवर्ग के स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए हम दु ख के स्वरूप की विस्तृत विवेचना करेगे। इच्छाविघातजन्य पीडा का नाम न्याय दर्शन मे दु ख है। न्याय वैशेषिक दर्शन मे दु ख को एक गुण माना गया है। गुण वैशेषिक दर्शन मे दूसरे पदार्थ के रूप मे स्वीकार किया गया है। गुण का आश्रय द्रव्य है। बिना किसी द्रव्य रूपी आधार के गुण नहीं रहता है। दूसरे द्रव्य पर निर्भर रहने के कारण ही इसे गुण कहते हैं। गुण का स्वतत्र अस्तित्व नहीं होता है,

यह पराश्रित ही है। यथा–लाल रग किसी द्रव्य मे ही हो सकता है, किन्तु इसका स्वतत्र रूप अस्तित्व असभव है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार 'द्रव्यो के आश्रित गुण रहित और सयोग एव विभाग का निरपेक्ष कारण न होने वाला अपितु सापेक्ष कारण हाने वाला पदार्थ गुण है।'[1] दु ख आत्मा का गुण है। क्योकि यह आत्मा पर आश्रित है इसी कारण इसे गुण कहा जाता है। इसका स्वतत्र अस्तित्व नहीं है। दु ख का कोई गुण न होने के कारण यह स्वय गुण रहित है। दु खो को क्लेश, पीडा एव सताप भी कहते हैं। ससार का कोई भी जीव दु ख से रहित नहीं है। दु ख तीन प्रकार का होता है– आध्यात्मिक, आधिभौतिक, व आधिदैविक। शरीर व मन से उत्पन्न होने वाले दु ख को आध्यात्मिक दु ख कहते है। इस दु ख का निवारण आन्तरिक उपायो से ही सभव है। सर्प, बिच्छू, व्याघ्र आदि से उत्पन्न होने वाला दु ख आधिभौतिक दु ख कहलाता है। राक्षस, यक्ष, गन्धर्व, ग्रह आदि के आवेश मे जिस दु ख की प्राप्ति होती है उसे आधिदैविक दु ख कहते है। आधिभौतिक एव आधिदैविक दु खो का निवारण बाह्य उपायो से सभव है। शरीर, छ इन्द्रियॉं, छ विषय और छ बुद्धि– रासना चाक्षुष, श्रावण, घ्राणज, त्वाच तथा मानस और सुख–दु ख को मिलाकर कहीं–कहीं इक्कीस प्रकार के दु खो को माना गया है। शरीर आदि को दु ख का साधन होने के कारण ही दु ख माना गया है। न्याय दर्शन मे दु ख का आदि कारण मन को माना गया है। विश्वनाथ पचानन के अनुसार– दु ख आदि के साक्षात्कार मे मन करण है। तर्कदीपिका मे भी कहा गया है कि मन स्वय अस्पृश्य पदार्थ होते हुये भी क्रिया करने मे समर्थ है।

अपवर्ग- दु खो की आत्यन्तिक निवृत्ति को ही न्याय दर्शन मे अपवर्ग की सज्ञा से विभूषित किया गया है। अपवर्ग की अवस्था मे सभी कर्मो के नष्ट हो जाने के फलस्वरूप पुनर्जन्म नहीं लेना पडता है। मोक्ष अभयद एव अजर–अमर है। इस अवस्था मे आत्मा सभी प्रकार के दु खो से मुक्त हो जाती है।[2] मोक्ष का विस्तृत विवेचन हम प्रसगानुसार अन्त मे करेगे।

---

[1] द्रव्याश्रय्यगुणवान् सयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्। – वैशेषिक सूत्र–१/१/१६

[2] तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्ग – न्यायसूत्र १/१/२२

आत्मा

न्याय–दर्शन मे माना गया है कि गुण के रहने के लिये किसी न किसी आधार का होना परम आवश्यक है। बुद्धि, सुख–दु ख, राग–द्वेष, इच्छा आदि गुणो के आधारभूत द्रव्य की खोज करने पर हम पाते है कि पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, दिक्, शरीर, मन एव इन्द्रियॉ इन गुणो के आधार नही हो सकते है, क्योकि पृथ्वी, जल, वायु, एव तेज प्रत्यक्ष गोचर है और इनके कार्यभूत अनेको वस्तुए है परन्तु इनमे से किसी मे भी बुद्धि, सुख–दु ख आदि की प्राप्ति नही होती है। इसी तरह काल एव आकाश भी मनुष्य से बाहर प्राप्त होने के कारण गुणो का आश्रय नही हो सकते है क्योकि सुख–दु ख एव बुद्धि आदि को हम मनुष्य के बाहर नही पाते है इसलिये इनके आश्रय के रूप मे आत्मा नामक द्रव्य की सत्ता स्वीकार की गयी है।

देहादि के सघात मे दो पृथक्–पृथक् सत्ताये है शरीर और ज्ञानेन्द्रियॉ। शरीर मे ज्ञानेन्द्रियो की चेतना या ज्ञान के आधार पर चेतना का भ्रम होता है। इनमे से इन्द्रियो को भी आत्मा नही माना जा सकता है क्योकि इन्द्रियॉ केवल अपने–अपने विषय यथा–जिह्वा स्वाद को, घ्राण गन्ध को, नेत्र रूप को एव त्वचा स्पर्श को ही ग्रहण करने मे समर्थ है इसके अतिरिक्त ये एक–दूसरे के विषय को ग्रहण नही कर पाती है इसलिये इन्द्रियो को आत्मा नही कहा जा सकता है। चूँकि इन्द्रियो से अलग–अलग रूप मे चेतनाओ का प्रादुर्भाव होता है अत कोई सत्ता है जो उन्हे व्यवस्थित करके ज्ञानार्जन करता है और यह सर्वज्ञ, सर्वविषयग्राही सत्ता आत्मा है, जो इन्द्रिय रूपी साधन के द्वारा ज्ञानार्जन करता है।

इसी प्रकार शरीर को भी आत्मा नही माना जा सकता है क्योकि यदि शरीर आत्मा होता तो शव मे भी चैतन्य का आभास मिलता। यदि शरीर को नित्य चेतन

आत्मा माना जाये तो शरीर के मृत होने की सभावना भी समाप्त हो जायेगी इसलिए शरीर भी आत्मा नही है।[1]

मन को भी आत्मा नहीं माना जा सकता है। मन केवल इन्द्रिय होने के कारण आत्मा नहीं है। यद्यपि इन्द्रियाँ नाना रूपो मे पृथक्–पृथक् होकर अपने–अपने विषयो को ग्रहण करती है, किन्तु मन उन सम्पूर्ण विषयो को ग्रहण करता है। अत स्मृत्यादि विषय जो आत्मा की सत्ता को स्वीकार करने का आधार है वही मन के धर्म भी हो सकते है। इस आक्षेप के उत्तर मे न्याय दर्शन मे कहा गया है कि मन यद्यपि बाह्य विषयो को ग्रहण करने मे सहायक है, किन्तु वह सर्वविषयग्राही नहीं है क्योकि वह आन्तरिक सुख–दुख की अनुभूति मे स्वतत्र साधन के रूप मे है। साधन साधक नहीं हो सकता है। आन्तरिक विषय बाह्य विषयो से सर्वथा भिन्न है इन्द्रियाँ आन्तरिक विषय सुख–दुख आदि का ग्रहण नहीं कर सकती है इसलिये इनके ग्रहण के लिये पृथक् इन्द्रिय की आवश्यकता है जो कि मन है। अत मन को भी गुणो का आधार नहीं माना जा सकता है।

तब यह निष्कर्ष निकलता है कि इन सभी गुणो का आधार शरीर, मन, इन्द्रियादि से भिन्न कोई पृथक् द्रव्य है और इसी द्रव्य का नाम आत्मा है। वैशेषिक दर्शन मे आत्मा के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिये अनेक तर्क दिये गये है।[2]

इच्छा, बुद्धि, सुख–दुख, राग–द्वेष आदि का विश्लेषण करने पर हम पाते है कि इनकी अनुभूति स्वय मे होती है। अत कोई ऐसा द्रव्य है जो इन समस्त अनुभूतियो को ग्रहण करता है और वह द्रव्य आत्मा है। किसी वस्तु की इच्छा का कारण भूतकाल मे उस वस्तु से मिलने वाले सुख का स्मरण है। वस्तु की इच्छा का होना यह प्रमाणित करता है कि आत्मा ने भूत काल मे जिस वस्तु से सुख का अनुभव या दुख की अनुभूति प्राप्त की थी वह आत्मा आज भी उस तरह की वस्तु देखकर सुख के प्राप्ति की इच्छा या उस वस्तु

---

[1] शरीरस्य न चैतन्य मृतेषु व्यभिचरित। – न्यायसिद्धान्त मुक्तावली

[2] प्राणापान निमेषोन्मेष जीवनमनोगति इन्द्रियान्तर विकारसुखदुखेच्छाद्वेष प्रयत्नाश्चात्मनो।
– वै० सू०–३/२/४

के प्रति द्वेष भाव को रखता है जो कि स्मरण पर निर्भर है। अत आत्मा की सत्ता है। प्राणवायु के विविध व्यापारो के द्वारा भी आत्मा की सिद्धि होती है। श्वॉस–प्रश्वॉस से शरीर फूलता तथा सकुचित होता है यह प्रक्रिया किसी चेतन तत्त्व के द्वारा ही सभव है अत आत्मा का अस्तित्व है। इसी प्रकार हम देखते है कि हमारी शारीरिक क्रियाये जैसे–पलको का गिरना एव उठना किसी चेतन अधिष्ठाता की ओर सकेत करते है जो शरीर व इन्द्रिय तथा मन से भिन्न है, क्योकि श्वॉस, प्रश्वॉस पलको के गिरने तथा उठने का व्यापार इन तीनो से निरपेक्ष चलते रहते है अत आत्मा की सत्ता प्रमाणित होती है।

जिस प्रकार कोई गृह–स्वामी अपने घर की देख–रेख करता है और उसे सजाता–सवॉरता है ठीक उसी प्रकार आत्मतत्त्व भी शरीर की देख–रेख करता है। हम देखते है कि शरीर मे घाव आदि लगने पर वह दवा आदि लगाने से ठीक हो जाते है। यह शरीर मे स्थित आत्मा के कारण ही सभव है।

इच्छित वस्तुओ की प्राप्ति के लिये मन का बाह्य इन्द्रियो से मिलना भी किसी चेतन सत्ता का अनुमान कराता है। जिस प्रकार बच्चा अपनी इच्छा के अनुसार गेद को इधर–उधर फेकता रहता है। ठीक उसी प्रकार आत्मा भी मन को इधर–उधर दौडता रहता है।

इस प्रकार न्याय दर्शन मे राग–द्वेष, प्रयत्न तथा सुख–दु ख इच्छा आदि गुणो के गुणी रूप मे अनुमान द्वारा आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया गया है।

आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा भी होता है। वैशेषिक दर्शन मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि आत्मा को यौगिक प्रत्यक्ष के द्वारा जाना जा सकता है, परन्तु सर्वसाधारण के लिये यह अगम्य सा ही है।[1] उद्योतकर भी कहते है कि आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान प्रत्यक्ष से भी होता है। आत्मा के अस्तित्व का खडन करना स्वय का खडन करना है,[2] इसलिये आत्मा अखण्डनीय है। ज्ञानादि गुणो का गुणी आत्मा ही है,

---

[1] न्यायकदली पृष्ठ – १९६ प्रो० सगम लाल पाण्डेय, भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण पृष्ठ १६१ से उद्धृत।
[2] तदात्मगुणसद्भावादप्रतिषेध। – न्यायवार्तिक – ३/१/१४

क्योकि आत्मा के बिना ज्ञान का होना असभव है। आत्मा का मानस प्रत्यक्ष माना गया है जो समाधि की अवस्था मे सभव है। यहॉ पर यह उल्लेखनीय है कि प्राचीन न्याय दर्शन मे प्रत्यक्ष की चर्चा नही की गयी है केवल अनुमान व शब्द प्रमाण के द्वारा ही आत्मा की सत्ता को सिद्ध किया गया है, किन्तु नव्य–न्याय मे आत्मा को प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा भी प्रमाणित किया गया है। यदि आत्मा की सत्ता न मानी जाये तो ज्ञान का प्रत्यय व विषय भिन्न–भिन्न होगे जिससे दो ज्ञानो या दो विषयो मे कोई सम्बन्ध स्थापित नही हो सकेगा। इसलिये इस सम्बन्ध को सम्बन्धित करने वाला आधारभूत तत्त्व आत्मा ही है।

इस प्रकार उपर्युक्त तर्कों के द्वारा न्याय–वैशेषिक दर्शन मे आत्मा की सत्ता को स्वीकार किया गया है। जो शरीर, मन, इन्द्रिय, बुद्धि आदि से भिन्न है क्योकि ये सभी अनित्य हैं, जबकि आत्मा नित्य है। ये सभी आत्मा रूपी द्रव्य के गुण है। इन सभी साधनो का प्रयोग करने वाला तत्त्व आत्मा ही है।

आत्मा का स्वरूप– न्याय–वैशेषिक दर्शन मे आत्मा को द्रव्य रूप माना गया है जो नित्य होने के कारण निरवयव है, वह ज्ञाता, कर्त्ता तथा भोक्ता है। आत्मा विभु और अनेक है। यह स्वरूपत अचेतन है, किन्तु चैतन्य उसका आगन्तुक गुण है। केशवमिश्र के अनुसार आत्मत्व जाति के आश्रय को आत्मा कहते है। वह देह, इन्द्रिय आदि से भिन्न, प्रत्येक शरीर मे एक है। प्रतिसन्धान, स्मरण और प्रत्यभिज्ञान करने वाला तत्त्व आत्मा है। न्यायसूत्र मे महर्षि गौतम ने इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख–दु ख और ज्ञान को आत्मा का लिग कहा है।[1] वहीं वैशेषिक दर्शन मे महर्षि कणाद् ने आत्मा को पारिभाषित करते हुये कहा है कि– इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख–दु ख और ज्ञान के अतिरिक्त प्राण, अपान, निभेष, उन्मेष और जीवन आत्मा के लिग है। अन्नभट्ट के अनुसार ज्ञान के अधिष्ठान को आत्मा कहते है। देश एव काल की दृष्टि से देश व काल भी ज्ञान के आश्रय है, परन्तु समवाय सम्बन्ध के आधार पर अन्तत आत्मा ही ज्ञान का आश्रय है।

---

[1] इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदु खज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति। – न्यायसूत्र १/१/१०

न्याय दर्शन मे आत्मा को एक द्रव्य के रूप मे स्वीकार किया गया है। आत्मा के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिये जो तर्क प्रस्तुत किये गये है उनसे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा बुद्धि, सुख–दुख, इच्छा, प्रयत्न आदि गुणो का आश्रय होने के कारण द्रव्य है।

न्याय–वैशेषिक के अनुसार आत्मा नित्य है, वह विभु परिमाण वाला है। आत्मा को अणु एव मध्यम परिमाण वाला, नहीं माना जा सकता है। यदि आत्मा को अणु रूप मान लिया जाये तो वह शरीर के किसी एक ही भाग को व्याप्त कर सकेगा चूँकि चैतन्य आत्मा का गुण है इसलिये वह चैतन्य से अलग नहीं रह सकता है। जहॉ पर हमे चेतनता का अनुभव होता है वहीं पर हम आत्मा के अस्तित्व का अनुमान करते है और आत्मा को अणु परिमाण का मानने पर आत्मा शरीर के जिस विशेष भाग से सम्बन्धित होगा वही हिस्सा चैतन्य से युक्त होगा तथा शेष हिस्सा चैतन्य रहित होगा वह हिस्सा मृत शरीर के समान होगा। आत्मा को अणु रूप मानने पर मन के साथ उसका कर्त्ता और करण का सम्बन्ध भी नहीं हो सकेगा। प्रमेय निरूपण करते करते समय मन को अणु रूप सिद्ध किया जा चुका है। अत इन दोनो अणुओ मे प्रयोक्ता और साधन का सम्बन्ध नहीं स्थापित हो सकता अत आत्मा का परिमाण अणु रूप मानने पर सुख–दुखादि उपलब्धियो को समझना असभव होगा। इस प्रकार आत्मा को अणु रूप नहीं माना जा सकता है।

इसी प्रकार आत्मा को मध्यमपरिमाण वाला भी नहीं माना जा सकता है। जैन दर्शन मे आत्मा को मध्यमपरिमाण वाला माना गया है उसके अनुसार आत्मा जिस शरीर मे निवास करता है उसी के आकार वाला हो जाता है किन्तु नैयायिक इसका खण्डन करते है। न्याय वैशेषिक दर्शन के अनुसार आत्मा को शरीर के परिमाण वाला नहीं माना जा सकता है क्योकि शरीर तो छोटा–बडा होता रहता है। चीटीं के शरीर मे रहने वाला आत्मतत्त्व हाथी के शरीर मे छोटा पड जायेगा तथा हाथी के शरीर मे रहने वाला आत्मतत्त्व चीटीं के शरीर मे प्रविष्ट नहीं हो सकेगा। अत आत्मा को मध्यमपरिमाण वाला नहीं माना जा सकता है। आत्मा को मध्यमपरिमाण वाला मानने पर उसके अनित्यत्व का प्रसग भी उपस्थित होगा क्योकि देह के समान देह का परिमाण भी अनित्य है।

इस प्रकार आत्मा के मध्यमपरिमाण व अणु परिमाण वाला न सिद्ध होने पर उसे विभु परिमाण वाला मानना पडेगा। विभु होने के कारण ही आत्मा मे पाये जाने वाले गुणो की सर्वत्र उपलब्धि सिद्ध होती है। सुख–दु ख, इच्छा, द्वेष आदि जो आत्मा के गुण है वे हमे सभी जगह प्राप्त होते है आत्मा अर्मूत द्रव्य होने के कारण एक जगह से दूसरी जगह गमन करने मे असमर्थ है। अत आत्मा के गुणो का सर्वत्र पाया जाना उसके विभुत्व को सिद्ध करता है। यद्यपि वह विभु है तथापि उसका अनुभव केवल शरीर के अन्दर ही होता है। अत आत्मा विभु परिमाण वाला है।

आत्मा नित्य है, उसका कोई अवयव नहीं है । चूँकि आत्मा निरवयव है अत इसका विनाश नहीं होता है, क्योकि किसी वस्तु के विनाश के तीन कारण होते है– यदि आत्मा अवयवी है तो उसके अवयवो के विनाश द्वारा, यदि वह उत्पन्न हुई वस्तु है तो किसी अन्य निमित्त के द्वारा तथा यदि वह किसी पर आश्रित है तो उसके आश्रय के विनाश के द्वारा उसका विनाश सभव है किन्तु हम देखते है कि आत्मा निरवयव है इसलिये उसके अवयवो के द्वारा उसके विनष्ट होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। न ही आत्मा किसी पर आश्रित है और न ही आत्मा की उत्पत्ति का कोई कारण खोजा जा सकता है अत आत्मा का विनाश होना सभव नहीं है। इस प्रकार आत्मा नित्य है। आत्मा निरवयव होने के कारण ही अविनाशी है। आत्मा को ईश्वर न तो पैदा कर सकता है और न ही मार सकता है।

आत्मा को नित्य न मानने पर कर्मवाद का अन्त हो जायेगा क्योकि यदि आत्मा को विनाशशील मान लिया जाये तो उसके आश्रित कर्मो का भी विनाश मानना पडेगा फिर कर्मो के अनुसार फल की प्राप्ति नहीं हो पायेगी अत आत्मा नित्य है। इसी प्रकार आत्मा को अनित्य मानने पर परलोक की व्याख्या करना कठिन होगी। परलोक की प्राप्ति के लिये ऋषियो व सज्जन पुरुषो के प्रयत्नो द्वारा भी यह सिद्ध होता है कि आत्मा नित्य है।

आत्मा के नित्यत्व के सम्बन्ध मे प्रमाण देते हुये जयन्त भट्ट ने बहुत सुन्दर वर्णन किया है। नवजात शिशु के कार्य–कलाप यथा हॅसना, रोना व दुग्धपान की प्रवृत्ति भी

आत्मा के नित्यत्व का सूचक है। बालक के दुग्धपान की इच्छा का कारण दूध पीने से प्राप्त हुये सुख का स्मरण है। इसी तरह वह नवजात शिशु हँसता व मुस्कराता है जो कि प्रसन्नता के कारण होता है, जबकि नवजात शिशु के वर्तमान जीवन मे प्रसन्नता को उत्पन्न करने वाली घटनाओ का अभाव होता है। अत इस हर्ष का कारण नवजात शिशु के पूर्व जन्म का अनुभव है जिनका वह स्मरण करता है। जयन्त भट्ट के अनुसार हर्ष की स्मृति होने से ही शिशु के मुख मे विकास दृष्टिगोचर होता है। स्मृति अनुभव के आधार पर होती है, परन्तु इस जन्म मे अनुभव न होने से पूर्वजन्म के अनुभव के कारण ही यह स्मृति हो रही है अत आत्मा नित्य है।[1]

इस प्रकार सिद्ध होता है कि नवजात शिशु का शरीर तथा इन्द्रियाँ वर्तमान जन्म से सम्बन्धित है किन्तु उसकी आत्मा का पूर्वजन्म मे अवश्य किसी न किसी शरीर से सम्बन्ध रहा होगा। शरीर के विनष्ट होने पर भी आत्मा के नित्य होने के कारण उसका विनाश नहीं होने की वजह से ही उसमे पूर्वजन्म के सस्कार या अनुभव विद्यमान रहते है।

इस प्रकार उपर्युक्त तर्कों के द्वारा आत्मा का नित्यत्व सिद्ध होता है। यद्यपि आत्मा नित्य है तथापि उसमे पाये जाने वाले राग, द्वेष, इच्छा प्रयत्न आदि गुण अनित्य हैं। वस्तुत आत्मा निर्गुण है। इन सभी गुणो की प्राप्ति आत्मा को शरीर से सम्बद्ध होने पर ही होती है। प्रारम्भ मे आत्मा को प्रमाणित करने के लिये दिये गये तर्कों से सिद्ध है कि आत्मा शरीरादि से भिन्न है अत वह इन गुणो से भी परे होने एव ज्ञानादि का अधिकरण होने पर भी तत्त्वत ज्ञानवान या चेतन नही है।

आत्मा ज्ञाता है, किन्तु वह ज्ञान का विषय नहीं होता। वह स्वत प्रकाश न होकर जड है। यहाँ आत्मा को जड मानने से तात्पर्य है कि आत्मा ज्ञान से भिन्न है। ज्ञानादि शरीर व मन के सयोग से आत्मा मे उत्पन्न होने वाले आगन्तुक धर्म है।

---

[1] तस्मान्मुखविकास्य हर्षो हर्षस्य च स्मृति ।
स्मृतेरनुभवो हेतु स च जन्मान्तरे शिशो ।
– न्यायमजरी पृष्ठ – ४७० आचार्य बलदेव उपाध्याय पृ० ५९१ से उद्धृत

आत्मा मे कर्म करने की शक्ति होने के कारण वह कर्त्ता है। कर्त्ता तथा दु ख सुख आदि का आश्रय होने के कारण ही आत्मा भोक्ता है, वह दु ख–सुख आदि गुणो का अनुभव करता है।

आत्मा अचेतन है, किन्तु चैतन्य उसका आगन्तुक गुण है। आत्मा मे चेतना का सचार मन, इन्द्रियो तथा बाह्य जगत् के द्वारा होता है। चैतन्य का उदय आत्मा मे तभी होता है जब उसका सम्पर्क मन के साथ, मन का सम्पर्क इन्द्रियो के साथ तथा इन्द्रियो का सम्पर्क बाह्य जगत् के साथ होता है। यदि आत्मा में इस प्रकार का सम्पर्क नही होता तो उसमे चैतन्य का आविर्भाव नही हो सकता आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप सुषुप्ति और मोक्ष की अवस्था मे स्पष्ट होता है जहॉ पर वह चैतन्य से शून्य रहता है अत चैतन्य आत्मा का आगन्तुक गुण है।

न्याय व वैशषिक दर्शन मे आत्मा को अनेक माना गया है यहॉ आत्मा विभु होने पर भी एक नहीं है। आत्माओ की सख्या अनत है। प्रत्येक आत्मा के साथ एक मनस् रहता है जो मोक्ष की अवस्था मे आत्मा से अलग हो जाता है और बधन की अवस्था मे निरन्तर आत्मा के साथ रहता है। आत्मा के अनेकत्व के सम्बन्ध मे निम्न तर्क दिये जाते है।

हम ससार के सभी मनुष्यो को भिन्न–भिन्न परिस्थितियो मे देखते है यथा–कुछ लोग धनवान है, तो कुछ निर्धन है। कोई व्यक्ति दु खी है तो कोई व्यक्ति सुखी है, इससे भी सिद्ध होता है कि इन सभी लोगो मे आत्माये भिन्न–भिन्न है क्योकि यदि आत्मा एक होती तो सभी व्यक्ति समान रूप से धनवान निर्धन या सुखी–दु खी दिखलाई पडते। अत ऐसा न होने के कारण आत्मा अनेक है।

हम देखते है कि ससार मे जितने भी प्राणी पाये जाते है उनके विचार व भाव भिन्न–भिन्न होते हैं प्रत्येक व्यक्ति मे पाया जाने वाला विचार उसी व्यक्ति का होता है किसी दूसरे का नहीं अत आत्मा अनेक है क्योकि यदि आत्म–तत्त्व एक होता तो सभी प्राणियो के विचार एव भावो मे समानता अवश्य पायी जाती। इसी के साथ मुक्ति की

व्याख्या भी आत्मा के अनेकत्व को प्रमाणित करती है यदि आत्मा एक होती तो एक व्यक्ति के मुक्त होते ही सभी व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त कर लेते और सभी लोगो को मोक्ष की अवस्था को प्राप्त करने के लिये प्रयत्न न करना पडता परन्तु ऐसा नहीं है सभी व्यक्ति अलग–अलग रूप से मोक्ष की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील रहते है अत इससे प्रमाणित होता है कि आत्मा अनेक है।

चूँकि आत्मा अनेक है इसलिये उसमे पृथक्त्व का गुण भी होता है। जो द्रव्य अनेक है वह स्पष्ट रूप से एक दूसरे से पृथक् होगा अत आत्मा मे पृथक्त्व है।

हमे अपने आत्मा का अव्यवहित ज्ञान होता है लेकिन अन्य आत्माओ का ज्ञान व्यवहित रूप मे उनके व्यवहार आदि के द्वारा होता है।

इच्छा, द्वेष, सुख–दु खादि का आश्रय होने के कारण आत्मा मे सयोग एव विभाग की प्राप्ति होती है। दु ख एव सुख के उत्पन्न एव विनष्ट होने के कारण आत्मा का इनसे सयुक्त होना सयोग तथा आत्मा का इनसे पृथक् होना विभाग है। अत आत्मा मे सयोग एव विभाग होता रहता है।

इस प्रकार न्याय दर्शन के अनुसार आत्मा विभु, नित्य, जड या अचेतन अनेक एव मन, इन्द्रिय तथा शरीर से सयुक्त रहने के कारण इच्छा, द्वेष, सुख–दु ख, प्रवृत्ति आदि गुणो से सम्पन्न है। आत्मा का विभु, नित्य, अचेतन तथा अनेक होना उसके स्वाभाविक गुण हैं जो उसमे सदैव विद्यमान रहते हैं। वही ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दु ख , धर्म–अधर्म आदि उसके आगन्तुक गुण हैं।

न्याय दर्शन मे आत्मा के बधन के कारण की खोज करने पर हम पाते है कि सकल दु ख का मूल कारण जन्म ग्रहण करना है। यदि मनुष्य का जन्म नही होता तो उसे दु खो की प्राप्ति नही होती। जन्म ग्रहण करने का कारण धर्म और अधर्म है। धर्माधर्म या शुभाशुभ कर्मो का कारण प्रवृत्ति है। प्रवृत्ति के वाचिक, मानसिक तथा कायिक तीन रूप है। प्रवृति का कारण दोष है। राग, द्वेष एव मोह को न्याय दर्शन मे

दोष कहा गया है। दोष का कारण मिथ्या–ज्ञान है मिथ्या–ज्ञान से ही अनुकूल वस्तु राग तथा प्रतिकूल वस्तु मे द्वेष की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार इस कार्य-कारण मे परम्परा से सिद्ध होता है कि बन्धन का आदि कारण मिथ्या–ज्ञान है। अत इस मिथ्या ज्ञान के कारण ही आत्मा, शरीर, इन्द्रिय अथवा मन से अपना पार्थक्य नही समझता और इन्हे अपना अग मानकर इन विषयो के साथ तादात्म्य स्थापित करके स्वय को सुखी–दु खी आदि महसूस करने लगता है। बधन की अवस्था मे आत्म–तत्त्व को सासारिक दु खो के आधीन रहना पडता है। वह निरन्तर जन्म ग्रहण करके दु खो को भोगता है। इस बधन का अन्त अपवर्ग की अवस्था मे होता है। मोक्ष के स्वरूप को स्पष्ट करने से पूर्व हम आत्मा के आगन्तुक गुणो बुद्धि या ज्ञान, इच्छा, सुख–दु खादि का विवेचन करेगे क्योकि मोक्ष की अवस्था मे इनका त्याग करना परमावश्यक होने के कारण इनके स्वरूप का ज्ञान होना आवश्यक है।

बुद्धि – अर्थ का ग्रहण करना 'बुद्धि' है। बुद्धि को ही ज्ञान भी कहा गया है। बुद्धि अपने आश्रय द्रव्य को पूर्णरूपेण व्याप्त करती है। जब आत्मा तथा मन का सयोग होता है तब ज्ञान की उत्पत्ति होती है। एक ज्ञान से दूसरे ज्ञान तथा सस्कार की उत्पत्ति होती है। यह असवायिकारण न होकर निमित्त कारण है। यह अपने आश्रय द्रव्य को अन्य द्रव्यो से पृथक् सिद्ध करने की विशेषता रखती है। ज्ञान अनित्य है क्योकि यह उत्पन एव विनष्ट होता रहता है। हमारे अपने प्रतिदिन के व्यवहार मे भी ज्ञान का उत्पत्ति एव विनाशशील होना व्यजित होता है यह अनित्य ही नहीं बल्कि अन्य विनाशशील पदार्थो की अपेक्षा शीघ्र नष्ट होने वाला है।

यह ज्ञान आत्मा का ही गुण है। आत्मा के अतिरिक्त इसका आश्रय इन्द्रियो तथा उसके विषय को नही माना जा सकता है क्योकि हम देखते हैं कि इन्द्रियो व विषयो के नष्ट हो जाने पर भी ज्ञान बना रहता है यथा–हम रसना द्वारा किसी वस्तु के स्वाद को चखते हैं भविष्य मे किसी दुर्घटनावशात् रसना के न रहने पर अथवा जिस वस्तु को

हमने चखा था उसके भी न रहने पर हमे उस वस्तु के स्वाद का ज्ञान रहता है इस प्रकार इन्द्रियादि के न रहने पर भी हमे स्मृति के द्वारा उस वस्तु का ज्ञान रहता है। यहॉ पर ध्यातव्य है कि ज्ञाता के न रहने पर ज्ञान सभव नही है अत यह सिद्ध है कि यहॉ पर ज्ञाता आत्मा ही है जो ज्ञानरूपी गुण का आश्रय है। यह स्मृतिरूपी ज्ञान हमे आत्मा एव मन के सयुक्त होने पर ही प्राप्त होता है। यहॉ पर मन को भी ज्ञान का आश्रय कहा जा सकता है, किन्तु हम देखते है रूप, रस, स्पर्श, गन्ध एव शब्द आदि का ज्ञान हमे एक साथ प्राप्त होता है यह ज्ञान हमे अलग–अलग इन्द्रियो के द्वारा प्राप्त होता है इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि कोई एक अन्तरिन्द्रिय भी है जो इन ज्ञानो को व्यवस्थित एव ग्रहण करती है और वह मन है। अत मन का आश्रय आत्मा ही है। इस प्रकार ज्ञान आत्मा का आगन्तुक गुण है।

इच्छा- जब हम भूतकाल मे किसी वस्तु के माध्यम से सुख को प्राप्त करते है तो पुन उस वस्तु को देखकर के उसके माध्यम से मिले सुख का स्मरण करते है तथा उसको प्राप्त करने की अभिलाषा रखते हैं। किसी वस्तु को प्राप्त करने की अभिलाषा इच्छा कहलाती है। आत्मा और मन के सयोग से ही इच्छा की उत्पत्ति होती है। जैसा कि उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि इच्छा की उत्पत्ति का कारण सुख एव स्मृति होते है। इच्छा के अनेको रूप यथा लालसा, वासना एव क्षुधा है। स्मरणकर्त्ता के रूप मे आत्मा इसका आश्रय है।

धर्म एव अधर्म– मनुष्य शरीर से जो दनादि या दूसरे की रक्षा करने आदि का पुण्य कर्म करता है, मन के द्वारा सबकी भलाई की चेष्टा करता और किसी व्यक्ति का किसी भी प्रकार का अहित नही सोचता उसी पुण्यमय प्रवृत्ति को धर्म कहा जाता है। धर्म के उदय होने पर नि श्रेयस की उत्पत्ति होती है। आत्मा एव मन का सयोग होने पर धर्म की उत्पत्ति होती है।

अधर्म वह है। जिसके द्वारा पाप एव अनिष्ट की उत्पत्ति होती है। दूसरो को सताना, परेशान करना, वेद विरोधी कर्मो को करना तथा धर्म विरोधी आचरण करना ही अधर्म कहलाता है। धर्म तथा अधर्म का फल लम्बी अवधि मरणोपरान्त भी प्राप्त होता है। अच्छे एव बुरे कर्मो को करने अथवा न करने से एक प्रकार का स्थायी प्रभाव पडता है जो लम्बे समय तक अपने फलो को प्रदान करता है। एक जन्म मे इन फलो का न भोग सकने पर आत्मा को दूसरे जन्म मे अपने अच्छे अथवा बुरे कर्म के अनुसार फल भोगना पडता है। अत अनेको जन्म होने का कारण ये ही है। धर्म एव अधर्म का प्रभाव चूँकि बहुत दिनो तक अदृष्ट रहता है, इसीलिये इसको अदृष्ट नाम दिया गया है। अन्नभट्ट के अनुसार विहित कर्मो से उत्पन्न अदृष्ट को धर्म और निषिद्ध कर्मो से उत्पन्न अदृष्ट को अधर्म कहते है। धर्म से सुख की तथा अधर्म के फलस्वरूप दु ख की उत्पत्ति होती है। जीवात्मा को किस प्रकार की देह मिलेगी यह उसके पूर्वजन्म के कर्मो के द्वारा ही निर्धारित होता है। यद्यपि जीवात्मा न तो पशु है, न पक्षी, न मनुष्य किन्तु उसे उसी नाम से पुकारा जाता है, जिस प्रकार के शरीर को वह प्राप्त करता है। प्राप्त शरीर के अनुसार ही उसे हाथी, मनुष्य, घोडा, मच्छर, तितली आदि नामो से पुकारा जाता है।

न्याय वैशषिक दर्शन के अनुसार आत्मा की एक शरीर से दूसरे शरीर मे प्रविष्टि मन के द्वारा होती है और परमाणु से निर्मित होने के कारण मन नित्य है। फलो का भोग प्राप्त करने के लिये आत्मा का पुनर्जन्म होता है, और अदृष्ट के अनुरूप प्राप्त नयी देह मे वह मन की सहायता से शीघ्र प्रविष्ट होता है। मुक्तावस्था को छोडकर शेष सभी अवस्थाओ मे आत्मा अदृष्ट से युक्त रहता है। अदृष्ट से युक्त होने के कारण ही प्रलयकाल मे शरीर की सूक्ष्म उपस्थिति सभव हो पाती है। जन्म का स्थान, समय, परिवार एव परिस्थितियॉ आदि सभी अदृष्ट के द्वारा ही निर्धारित होते है। प्रत्येक आत्मा को अपने पूर्वजन्म के कर्मो का फल भोगना ही पडता है।

धर्म एव अधर्म की उत्पत्ति का मूल कारण वासना है। वासना के कारण किये गये प्रयत्नो द्वारा धर्म और अधर्म की उत्पत्ति होती रहेगी फलस्वरूप मनुष्य पुर्नजन्म के

क्र मे फँसा ही रहेगा। तत्त्व ज्ञान के द्वारा ही वासना तथा धर्म–अधर्म का विनाश सभव । इस प्रकार धर्म तथा अधर्म अनेको जन्मो तक आत्मा से सम्बन्धित रहते हैं, इसी ारण वे शरीरादि के गुण न होकर आत्मा के ही गुण है।

ेष- इच्छित वस्तुओ को प्राप्त करने का प्रयत्न राग तथा अनिच्छित वस्तुओ के ारित्याग का प्रयत्न द्वेष कहलाता है। इन दोनो की उत्पत्ति मन एव आत्मा के सयोग से ोती है। यह भी आत्मा का ही गुण है। राग, द्वेष एव मोह को ही न्याय दर्शन मे 'दोष' कहा गया है। राग, द्वेष एवं मोह की उत्पत्ति मानसिक प्रवृत्तियो के कारण होती है अत इनका उच्छेद मानसिक प्रवृत्तियो के उच्छेद पर निर्भर करता है। राग मे वासना, लालच, उत्कृष्ट अभिलाषा, तृष्णा व लालसा सम्मिलित है। जबकि द्वेष मे क्रोध, ईर्ष्या, दुर्भावना, निष्ठुरता एव घृणा अनादि सम्मिलित है। मोह के अर्न्तगत मिथ्या बोध, सशय, दर्प, अहकार व प्रमाद आते है। जीवात्मा के लिये सबसे बुरा मोह है क्योकि मोह के कारण ही राग एव द्वेष की उत्पत्ति होती है। यह प्रयत्न, धर्म एव अधर्म का उत्पादक होता है।

प्रयत्न – प्रयत्न को न्याय–दर्शन मे आत्मा का आगन्तुक गुण माना गया है। इसकी उत्पत्ति इच्छा एव राग द्वेष के कारण होती है, क्योकि हम इच्छित वस्तु की प्राप्ति एव अनिच्छित वस्तु के त्याग के लिये ही प्रयत्न करते है।

सुख एवं दु:ख – अपने अनुकूल वस्तुओ की प्राप्ति से हमे सुख तथा प्रतिकूल वस्तुओ से दु:ख की प्राप्ति होती है। जब सुन्दर हार, चन्दन आदि अभीष्ट वस्तुओ के सामीप्य से हृदय मे प्रसन्नता व नेत्रो मे विस्तार आदि के द्वारा जो अनुभूति परिलक्षित होती है उसे सुख कहते है। भूतकाल के विषयो के स्मरण तथा भविष्य काल के विषय मे अच्छी अथवा बुरी कल्पना द्वारा सुख एव दु:ख की प्राप्ति होती है। विषयो से निरपेक्ष सुख की प्राप्ति भी होती है। जो केवल ज्ञानियो को ही होती है। ज्ञानी लोग इच्छा, स्मरण, कल्पना से निरपेक्ष अपने विवेक, मन की शाति एव सतोष आदि विशेष गुणो के द्वारा सुख का अनुभव करते हैं। जब कॉटे की चुभन, सर्प–दश, तीर की चुभन आदि से

प्रतिकूल वेदना होती है तब दुख की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार अनिच्छित वस्तुओ के सामीप्य से जब हृदय मे क्रोध आदि उत्पन्न होता है तो वह भी दुख ही कहलाता है।

मनुष्य सभी प्रकार के कर्मो को सुख प्राप्ति एव दुख निवृत्ति की इच्छा से ही प्रेरित होकर करता है, परन्तु न्याय दर्शन के अनुसार मनुष्य की दुख से मुक्ति प्राप्त करने की इच्छा तो उचित है, किन्तु सुख–प्राप्ति की इच्छा अनुचित है, क्योकि सुख सदैव दुख से युक्त है यह समस्त ससार दुखमय ही है और इस दुखरूपी जगत् से छुटकारा पाना ही मनुष्य का लक्ष्य है और इस दुख का कारण मिथ्या ज्ञान ही है। जिसकी समाप्ति अपवर्ग की अवस्था मे सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति होने पर ही होती है।

अत उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा के बधन का मुख्य कारण मिथ्या ज्ञान ही है। मिथ्या ज्ञान के कारण ही मनुष्य अनात्म वस्तुओ को आत्मरूप समझने लगता है जब मनुष्य का मिथ्या ज्ञान दूर हो जाता है तो उसके अन्दर के सभी दोषो का भी परिहार हो जाता है और दुख के कारणो की निवृत्ति होने पर उसे अपवर्ग अथवा मोक्ष की प्राप्ति होती है।

महर्षि गौतम ने आत्मतत्त्व के साक्षात्कार से मोक्ष प्राप्ति का क्रम बताते हुये कहा है कि जब हमे आत्म तत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है तो सोलह पदार्थो के ज्ञान द्वारा आत्मा विषयक मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति होती है। मिथ्या ज्ञान के नष्ट होने से त्रिदोषो राग, द्वेष व मोह की निवृत्ति होती है। त्रिदोषो से धर्म व अधर्मरूपी प्रवृति की निवृत्ति होती है तथा प्रवृत्ति से पुनर्जन्म की निवृत्ति होती है। जन्म के क्षय से दुख का क्षय होता है। इस प्रकार दुखो की आत्यान्तिक निवृत्ति की यह अवस्था ही न्याय–वैशेषिक के अनुसार निश्रेयस अथवा अपवर्ग कहलाती है। जब तक वासना आदि आत्म गुणो का उच्छेदन नहीं होता तब तक दुखो की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती। मुक्तावस्था मे बुद्धि, सुख, दुख इच्छा, द्वेष, धर्म, अधर्म तथा सस्कार का मूलोच्छेद स्वीकार किया गया है।[1]

---

[1]जयन्त भट्ट – न्यायमजरी पृष्ठ ५०८

न्याय वैशेषिक दर्शन मे आत्मा को दो वर्गो मे विभाजित किया गया है जीवात्मा एव परमात्मा अब हम परमात्मा का विवेचन करेगे।

परमात्मा– न्याय दर्शन के अनुसार परमात्मा एव जीवात्मा मे अनेक भेद पाये जाते है। परमात्मा जीवात्मा से भिन्न है। ईश्वर के ज्ञान आदि गुण नित्य होते हैं जबकि जीवात्मा के ये गुण अनित्य है। ईश्वर सभी प्रकार की पूर्णता से युक्त है जबकि जीवात्मा अपूर्ण है। परमात्मा को न्याय दर्शन मे सर्वज्ञ माना गया है जबकि जीवात्मा अल्पज्ञ है। जीवात्मा बन्धन मोक्ष का अधिकारी है जबकि परमात्मा इन सबसे मुक्त है। जीवात्मा कर्म–फल भोक्ता है जबकि ईश्वर जीवो को उनके कर्मो के अनुसार फल देता है, वह कर्म–फल दाता है। ईश्वर स्वतत्र एव एक है जबकि जीवात्माये परतत्र तथा अनेक है ईश्वर जहाँ सर्वशक्तिसम्पन्न है वही जीवात्मा की शक्ति सीमित है।

प्रारम्भिक न्याय एव वैशेषिक दर्शन मे यद्यपि ईश्वर का उल्लेख स्पष्ट रूप से नहीं किया गया है, किन्तु बाद मे ईश्वर की सत्ता का स्पष्टत उल्लेख प्राप्त होता है। वात्स्यायन ने ईश्वर को सभी प्राणियो का पिता मानते हुये कहा है कि ईश्वर मे अधर्म, मिथ्या अज्ञान और प्रमाद का अत्यताभाव है।[1] वहीं उदयनाचार्य ने भी ईश्वर की सत्ता को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। उन्होने ईश्वर की सिद्धि के लिये ही न्यायकुसुमञ्जलि को लिखा था। उदयनाचार्य के अनुसार– ईश्वर निराकार, सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान, अनादि, अनन्त, सर्वव्यापक, सच्चिदानन्दरूप, दयालु, न्यायकारी, सृष्टिकर्त्ता एव जगत का पालक तथा सहारक है। वह सदातृप्त है एव किसी के आश्रय मे नहीं रहता है।

न्याय की प्रारम्भिक पुस्तको मे भी 'आत्मा द्विविध जीवात्मा परमात्मा चेति' कहकर आत्मा के दो प्रकारो जीवात्मा एव परमात्मा का उल्लेख मिलता है।

अब यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि ईश्वर की सिद्धि प्रत्यक्ष, अनुमान या आगम मे से किस प्रमाण के द्वारा होती है। ईश्वर की सिद्धि प्रत्यक्ष द्वारा नही हो सकती

---

[1] न्याय भाष्य– ४/१/२१

क्योकि ईश्वर रूप आदि से रहित होने के कारण इन्द्रियो द्वारा गम्य नही है। अनुमान द्वारा भी यह सभव नही है, क्योकि ईश्वर के द्वारा व्याप्त कोई लिग या हेतु नही हे। आगम प्रमाण द्वारा भी ईश्वर की सिद्धि नही हो सकती है, क्योकि ईश्वर को बताने वाला आगम प्रमाण या तो नित्य होगा या अनित्य। आगम प्रमाण के नित्य होने पर यह नैयायिको के विरुद्ध होगा क्योकि न्याय दर्शन मे आगम को नित्य माना गया है और यदि अनित्य आगम से ईश्वर को सिद्ध किया जाता है तो अन्योन्याश्रय दोष की उत्पत्ति होगी। उपमान आदि प्रमाणो के द्वारा भी ईश्वर की सिद्धि सभव नही है।

न्याय दर्शन मे उपर्युक्त तर्को का खण्डन करते हुये प्रत्यक्ष अनुमान एव शब्द प्रमाणो के द्वारा ईश्वर की सत्ता सिद्ध की गयी है। न्याय दर्शन की सबसे बडी विशेषता यह है कि उसमे अप्रमेय ईश्वर को प्रमेय बनाकर प्रमाणो के द्वारा उसकी सत्ता को सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। न्याय दर्शन मे ईश्वर की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण व शब्द प्रमाण के द्वारा करने के बावजूद अनुमान प्रमाण को ही अत्याधिक महत्त्व दिया गया है।

न्याय–दर्शन मे प्रत्यक्ष के दो भेद लौकिक एव अलौकिक स्वीकार किये गये है। लौकिक प्रत्यक्ष मे इन्द्रियो व विषयो का सयोग बिना किसी माध्यम के सीधे होता है। चक्षु, त्वचा, घ्राण आदि के द्वारा रूप स्पर्श तथा गध आदि का जो ज्ञान होता है वह लौकिक प्रत्यक्ष है। वही अलौकिक प्रत्यक्ष मे यह सम्पर्क परोक्ष रूप से माना गया है। योगज प्रत्यक्ष अलौकिक प्रत्यक्ष का एक प्रकार है और योगाभ्यास द्वारा सिद्ध पुरुष ईश्वर का प्रत्यक्ष रूप मे ज्ञान प्राप्त करता है। इसके अतिरिक्त न्याय दर्शन मे निम्न प्रकार से अनुमान प्रमाण द्वारा भी ईश्वर की सत्ता सिद्ध की गयी है।

जब हम विश्व की ओर दृष्टिपात करते हैं तो हम देखते हैं कि विश्व मे जितने पदार्थ है वे सब कार्य–रूप है अर्थात् सब उत्पन्न हुये है। जितने भी अवयवो या अशो से युक्त सावयव पदार्थ मनुष्य, पशु, घट, पट आदि हैं वे सब उत्पन्न है इसी प्रकार जगत् भी एक सावयव पदार्थ है अत इसकी उत्पत्ति कभी न कभी हुई होगी इसलिये

इसका भी कोई न कोई कर्त्ता अवश्य होना चाहिये। जिस प्रकार घट का कर्त्ता कुम्भकार है उसी प्रकार इस विश्व के कार्य रूप पदार्थों का कर्त्ता ईश्वर है।[1]

न्याय दर्शन के अनुसार परमाणुओ मे सयोग की क्रिया बिना किसी चेतना तत्त्व या प्रेरक के सभव नही है क्योकि परमाणु स्वरूपत जड होने के कारण क्रिया नही कर सकते। अत परमाणुओ का सयोगकर्त्ता ईश्वर है। परमाणुओ को देखने व मिलाने की क्षमता से ईश्वर सम्पन्न है। अत ईश्वर परमाणुओ का आयोजक है।

विश्व की विचित्रता को देखने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि इस जगत् का कर्त्ता अलौकिक है। हम देखते है ससार के प्राणियो मे बहुत अतर पाया जाता है। कोई सुखी है तो कोई दु खी है। कोई राजाओ के समकक्ष जीवन व्यतीत कर रहा है, तो कोई एक जून की रोटी के लिये भी तरस रहा है कोई बहुत बुद्धिमान है तो कोई बहुत बडा मूर्ख है। तब प्रश्न यह उठता है कि इस विषमता का कारण क्या है? इसका कारण हमारे कर्म हैं। हम जैसा कर्म करते है वैसे ही फल की हमे प्राप्ति होती है शुभ कर्मो का फल अच्छा तथा अशुभ कर्मो का फल बुरा होता है। अच्छे कर्मो को पुण्य तथा बुरे कर्मो को पाप कहते है। इनको अदृष्ट कहा जाता है। इसी अदृष्ट के द्वारा कर्म–फल का उदय होता है परन्तु यह अदृष्ट जड है। इसे प्रेरित तथा नियमित करने के लिये एक चेतन सत्ता की आवश्यकता है। अत इस अदृष्ट का नियन्ता ईश्वर है।

जिस प्रकार किसी वस्तु का आदि होता है, उसी प्रकार उसका अन्त भी होता है। सृष्टि का कर्त्ता होने के कारण तो ईश्वर है ही, किन्तु प्रलय की व्याख्या से भी उसकी सत्ता सिद्ध होती है। सृष्टि के अन्त के लिये किसी विनाशकारी तत्त्व की आवश्यकता है। सृष्टि का विनाशक यह तत्त्व ईश्वर ही है। ईश्वर की इच्छा से ही सृष्टि का सहार होता है।

भिन्न–भिन्न वस्तुओ की भिन्न–भिन्न सज्ञाये भी एक अलौकिक आत्मा की सिद्धि करती है। हम देखते है कि मनुष्य उसी वस्तु को कोई सज्ञा देता है जिसका उसे ज्ञान

---

[1] न्याय कुसुमाञ्जलि –१/४

होता है। लोक मे स्वर्ग–नरक अपवर्ग ऐसे नाम प्रचलित है। स्वर्गादि को किसी लौकिक पुरुष ने नही देखा है। अत उसका ज्ञान रखने वाला कोई अलौकिक तत्त्व है। इस प्रकार अलौकिक तत्त्व के रूप मे ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है।

सभी सन्देहपूर्ण विषयो का समाधान करने वाले प्रमाणिक ग्रथो के रूप मे हम वेद को पाते है। वेद सभी विषयो के ज्ञाता है। सम्पूर्ण वेद अलौकिक और आध्यात्मिक सत्यो से पूर्ण है। जिसने उनका निर्माण किया होगा वह अवश्य ही सर्वज्ञ होगा। अत वेद का रचयिता मनुष्य नही हो सकता है। वेदो का रचयिता ईश्वर है, जो कि अलौकिक बुद्धि से सम्पन्न है।

श्रुतियो से भी ईश्वर की सिद्धि होती है। इसी प्रकार न्यायकुसुमाञ्जलि मे उदयनाचार्य ने ईश्वर की सिद्धि मे अन्य तर्क देते हुये लिखा है कि– बहुत सी परम्परागत कलाये ससार मे प्रचलित दिखाई पडती है। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा अवश्य किसी के द्वारा दी गयी होगी जो सबसे प्रथम शिक्षक है वह ईश्वर है।

इस प्रकार उपर्युक्त कारणो के द्वारा परमात्मा को जीवात्मा से भिन्न मानते हुये उसके अस्तित्व को सिद्ध किया गया है। परमात्मा मे अनेक विलक्षण गुण विद्यमान है, वह ज्ञान का अधिष्ठाता है जो शरीर की अपेक्षा के बिना भी ज्ञान से युक्त है। जयन्तभट्ट के अनुसार परमेश्वर 'पुरुष–विशेष' है, अर्थात् वह सामान्य पुरुषो की अपेक्षा अधिक ज्ञान और शक्ति से सम्पन्न है। वह तीनो लोको का निर्माता है। वह आनन्द मूर्ति एव कृपाधाम है। वह साधारण पुरुष की भॉति कर्त्ता नहीं है वरन् क्लेश–कर्म आदि से रहित पुरुष विशेष परमेश्वर है।[1]

इस प्रकार न्याय–दर्शन के अनुसार ईश्वर सर्वज्ञ है। उसका ज्ञान नित्य है, जो इन्द्रिय एव शरीर की अपेक्षा नहीं रखता। अनुत्पादी होने के कारण उसके ज्ञान के

---

[1] वेदस्य पुरूष कर्त्ता न हि यादृशतादृश । किन्तु त्रैलोक्यनिर्माण निपुण परमेश्वर ।।
स देवो परमो ज्ञाता नित्यानन्द कृपान्वित । क्लेशकर्म विपाकादि परामर्श विवर्जित ।।
– जयन्त भट्ट – न्यायमजरी पृष्ठ १७५

विनाश का कोई कारण नही हो सकता और यदि ईश्वर को कुछ पलो के लिये भी उससे अलग कर लिया जाये तो इस सम्पूर्ण जगत् की व्याख्या उसकी इच्छा से प्रेरित होने के कारण समाप्त हो जायेगी। प्रलय की अवस्था मे भी ईश्वर का ज्ञान बना रहता है। जयन्तभट्ट ने इच्छा एव प्रयत्न को ईश्वर का गुण माना है। ईश्वर की इच्छा भी ज्ञान की भॉति नित्य है। ईश्वर का प्रयत्न विशेष प्रकार का है वह सकल्पात्मक है, उसके लिये ईश्वर को साधारण पुरुषो की भॉति किसी क्रिया की आवश्यकता नही रहती। ईश्वर विश्व का सृष्टा, पालक एव सहारक है। वह विश्व की रचना शून्य से नही करता, अपितु वह सृष्टि पृथ्वी, जल, वायु एव अग्नि के परमाणुओ एव आकाश, दिक्, काल व आत्माओ के द्वारा करता है। यद्यपि परमाणुओ के सयोजन से सृष्टि होती है, किन्तु ये परमाणु गतिहीन है। इनमे गति का सचार ईश्वर के द्वारा किया जाता है इसलिये ईश्वर के अभाव मे सृष्टि की कल्पना नहीं की जा सकती है।

न्याय दर्शन मे ईश्वर को सर्वशक्तिमान माना गया है। वह ही सबका नियन्ता है। ईश्वर एक है। वह द्वेष, अधर्म एव सस्कार से सर्वथा मुक्त है। वह पूर्णरूपेण स्वतत्र है। वह पिता की भॉति जीवात्माओ के कर्मो का मूल्याकन करके उनकी प्रवृत्ति के अनुसार भिन्न–भिन्न कार्यो मे लगाता है। वह सुख एव दुख का नियामक है। उसके आदेश तथा नियत्रण मे रहकर जीव अपने कार्यो का सम्पादन करता है। ईश्वर दयालु है उसकी कृपा से ही मानव मोक्ष को अपनाने मे सफल होता है, क्योकि बिना ईश्वर की कृपा के तत्त्व ज्ञान सभव नही है और तत्त्व ज्ञान के बिना मुक्ति सभव नही है।

ईश्वर अनन्त गुणो से युक्त है, किन्तु उनमे से छ गुणो को अधिक महत्त्व दिया गया है। ईश्वर इन 'षडैश्वर्य' आधिपत्य, ज्ञान, वैराग्य, वीर्य, यश एव श्री से सम्पन्न है। इसके अतिरिक्त बुद्धि, सयोग, विभाग, पृथक्त्व आदि को भी ईश्वर का गुण माना गया है।

<u>बन्धन</u> – न्याय-वैशेषिक दर्शन मे तर्क को अत्याधिक महत्त्व दिया गया है। इसी कारण बन्धन एव मोक्ष के प्रति भी न्याय दर्शन में तार्किक दृष्टिकोण अपनाया गया है। न्याय

दर्शन के अनुसार व्यस्तताओ से जूझते हुये सामान्य व्यक्ति के लिये मोक्ष केवल एक सुन्दर व आकर्षक शब्द होता है वह अपनी व्यस्तताओ के बीच मोक्ष के विषय मे सोचना भी निरर्थक मानता है। इस प्रकार सामान्य व्यक्तियो के द्वारा मोक्ष प्राप्ति के विरुद्ध निम्न बिन्दु उद्धृत किये जा सकते है–

मोक्ष की प्राप्ति, बिना दोषो से मुक्ति पाये सभव नही है। हम देखते है कि सामान्य मनुष्य मे इतने अधिक दोष पाये जाते है कि इन दोषो से मुक्त होना असभव सा प्रतीत होता है, और यदि कोई व्यक्ति मोक्ष की प्राप्ति करना चाहता है तो उसका सम्पूर्ण जीवन तो दोषो को दूर करने मे व्यतीत हो जायेगा अत मोक्ष की प्राप्ति के विषय मे सोचने का उसे समय ही नहीं मिलेगा।

श्रुतियो मे स्पष्ट रूप से यह माना गया है कि व्यक्ति जन्म से समय से ही तीन ऋणो से बॅधा रहता है। देवऋण, पितृऋण एव ऋषिऋण से युक्त होने के कारण उसे अपने वर्तमान जीवन मे ही इन तीनो ऋणो से मुक्त अवश्य होना पडता है, किन्तु हम देखते है कि व्यक्ति इन ऋणो से ही बहुत ही कठिनाई से मुक्त हो पाता है, अत मोक्ष के विषय मे सोचने के लिये तो उसके पास समय ही नही है।

प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्मो के फलानुसार ही जन्म ग्रहण करना पडता है। मनुष्य जिस प्रकार के कर्मो को करता है उसी प्रकार का फल उसे मिलता है। पूर्वजन्म मे किये गये कर्मो का फल उसे वर्तमान जन्म मे भोगना पडता है तथा वर्तमान जन्म मे जिन फलो का वह भोग नहीं कर पाता है, उसके लिये उसे पुर्नजन्म लेना पडता है । इन फलो की समाप्ति उनको भोगने के उपरान्त होती है। इस प्रकार कर्मो और उसके फलो को भोगने का यह चक्र निरन्तर चलता रहता है। अत मोक्ष मात्र एक काल्पनिक शब्द ही है।

हम देखते है कि मनुष्य अपने जीवन मे निरन्तर सक्रिय रहता है। वह क्षणभर के लिये भी निष्क्रिय नही रह पाता है क्योकि उसमे कर्म करने की स्वाभाविक एव जन्मजात प्रवृत्ति पायी जाती है और इस प्रकार कर्मो को करते हुये स्वाभाविक रूप से उसकी उन

कर्मो के फलो मे आसक्ति उत्पन्न हो जाती है और फलो मे आसक्त रहने के कारण वह हमेशा जरा–मरण के चक्र मे पडा रहेगा और इस प्रक्रिया के अन्तहीन होने के कारण वह मोक्ष की प्राप्ति किस प्रकार कर सकता है। इस प्रकार क्या मोक्ष की प्राप्ति मात्र पवित्र सकल्प ही नही प्रतीत होता ?

नैयायिको ने उपरोक्त सभी आपत्तियो का उत्तर देते हुये मोक्ष प्राप्ति को सभव बताया है।

प्रथम आपत्ति मे यह माना गया है कि दोषो को दूर करना सभव नही है, किन्तु नैयायिको का मानना है कि ऐसा नही है कि दोषो को दूर न किया जा सके। दोष–विरोधी गुणो का निरन्तर ध्यान करते रहने पर वे सभी दोष दूर हो जाते है। इसके अतिरिक्त दोषो के कारण ही व्यक्ति मे सासारिक जीवन के प्रति घृणा के भाव का प्रादुर्भाव होता है, जो मनुष्य को वैराग्य की ओर ले जाता है। दोषो के प्रति उत्पन्न घृणा का भाव ही विषय भोगो का त्याग करवाता है जो कि मोक्ष प्राप्त करने की एक आवश्यक पूर्व शर्त या मान्यता है।

द्वितीय आपत्ति मे ऋण शब्द गौण है। देवऋण, पितृऋण एव ऋषि ऋण से तात्पर्य केवल धार्मिक कार्यो के सम्पादन, ब्रह्मचर्य के पालन एव सन्तानोत्पति से है। यदि इनके द्वारा मोक्ष की प्राप्ति सभव न होती तो श्रुतियो मे ब्रह्मचर्य व गृहस्थाश्रम के बाद वान्यप्रस्थ एव सन्यास आश्रम का विधान न किया जाता। अत इनका विधान होने से यह सिद्ध है कि ब्रह्मचर्य एव गृहस्थाश्रम का विधान मोक्ष प्राप्ति के लिये तैयारी हेतु ही किया गया है।

इस प्रकार जब बन्धन के कारण भूत दोषो का परिहार हो जाता है तो कर्म–फल एव स्वाभाविक प्रवृत्तियो का नाश स्वत हो जायेगा, वे जन्म–मृत्यु के चक्र को आगे बढ़ाने मे सामर्थ्य नही हो सकेगे। अत मोक्ष की प्राप्ति मे कोई कठिनाई नहीं होगी। इस प्रकार मुक्त होना या मोक्ष प्राप्त करना सभव है। यह कोई पवित्र सकल्प नही है बल्कि जब कोई व्यक्ति अपवर्ग को प्राप्त करने के लिये कृत सकल्प होकर उसकी प्राप्ति के

लिये प्रयास करता है तो उसे इसकी प्राप्ति अवश्य होती है। न्याय दर्शन के अनुसार जीवात्मा शरीर एव इन्द्रियो के द्वारा ही बधन मे फँसता है एव इन्ही के द्वारा बन्धन से मुक्त होने का प्रयास करता है।

न्याय एव वैशेषिक दर्शन मे मोक्ष या मुक्ति की अवस्था को 'अपवर्ग' या 'नि श्रेयस' कहा गया है। अपवर्ग शब्द का अर्थ है अ–पवर्ग अर्थात् 'प' वर्ग का अभाव। प वर्ग के अर्न्तगत पॉच अक्षर 'प' 'फ' 'ब' 'भ' और 'म' आते है। ये पॉचो अक्षर इस विश्व के पॉच तत्त्वो का प्रतिनिधित्व करते है। अक्षर 'प' पुण्य और पाप को दर्शाता है। अक्षर 'फ' फल को दर्शाता है। अक्षर 'ब' बन्धन जो की मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न होता है को दर्शाता है। अक्षर 'भ' भय को और अक्षर 'म' मृत्यु का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार जिस अवस्था मे 'प वर्ग का अर्थात् पाप–पुण्य, कर्मफल, मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न बन्धन, भय और मृत्यु का अभाव हो जाता है। वह अवस्था 'अपवर्ग' कहलाती है। इसी प्रकार से नि श्रेयस का अर्थ है 'निररतिशय श्रेयस' या 'उत्कृष्टतमरूप से श्रेष्ठ'। इस प्रकार जिससे श्रेष्ठ अन्य कोई न हो वही मोक्ष है। मनुष्य की इच्छा दु खो से पूर्णरूपेण मुक्ति प्राप्त करके सुख प्राप्त करने की होती है। किन्तु न्याय दर्शन के अनुसार सुख नश्वर है और वह हमेशा दु ख मिश्रित होता है। इसलिये उसकी विशुद्ध रूप से प्राप्ति असभव है। केवल सुखो की प्राप्ति की इच्छा मनुष्य कर तो सकता है लेकिन उसे सुखो की पूर्ण रूपेण विशुद्ध रूप मे प्राप्ति सभव नहीं है। अत नि श्रेयस या मोक्ष की अवस्था मे दु खो की पूर्ण निवृत्ति हो जाती है, किन्तु सुख या आनन्द की उपलब्धि नहीं होती है।

महर्षि गौतम ने अपने न्यायसूत्र मे मनुष्य का चरम लक्ष्य मोक्ष या अपवर्ग की प्राप्ति बताया है। अपवर्ग का लक्षण प्रतिपादित करने वाले सूत्र[1] की व्याख्या करते हुये न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने तत् शब्द का अर्थ दु ख किया है। इस प्रकार इस सूत्र के अनुसार दु खो की आत्यन्तिक निवृत्ति की अवस्था अपवर्ग या मोक्ष कहलाती है। अपवर्ग की

---

[1] तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्ग । – न्यायसूत्र – १/१/२२

अवस्था मे सुख या आनन्द की प्राप्ति नहीं होती है। इस ससार मे सुख और दुख का परित्याग करना असभव है। अत दुख छोडने की इच्छा से दुख मिश्रित सुख को भी छोडना पडता है। जन्म, जरा, मरण की अविच्छिन्न परम्परा का नाम ही ससार है और इस ससार का उच्छेद करना ही परम पुरुषार्थ है, यही अपवर्ग है, जिसकी प्राप्ति तत्त्व ज्ञान से होती है।

न्याय वैशेषिक के अनुसार आत्मा के बधन का मूल कारण अज्ञान है। उनके अनुसार आत्मा स्वभावत समस्त अनुभवो तथा चैतन्य से रहित है, किन्तु अज्ञान के कारण वह अपने को शरीर इन्द्रिय तथा मन से सम्बद्ध कर लेता है, यही उसके बन्धन का मूल कारण है। इस बन्धन से छुटकारा तत्त्वज्ञान के द्वारा ही सभव है। तत्त्व ज्ञान होने पर मिथ्या ज्ञान स्वय निवृत्त हो जाता है, उसी प्रकार मिथ्या ज्ञान के नष्ट होने से प्रवृत्ति के कारण, राग, द्वेष आदि दोष स्वय नष्ट हो जाते हैं क्योकि कारण के नाश होने पर कार्य का स्वयमेव नाश हो जाता है 'कारण नाशात् कार्यनाश' अत दोषो के नष्ट हो जाने पर प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती है और प्रवृत्ति के न होने पर जन्म भी नहीं हो सकता है, क्योकि जन्म का कारण धर्माधर्म रूप प्रवृत्ति ही है। जन्म का नाश होने से दुखो का भी आत्यन्तिक उच्छेद हो जाता है। इसी आत्यन्तिक दुख निवृत्ति का नाम अपवर्ग या मोक्ष है।[1]

इस प्रकार मोक्ष की अवस्था मे आत्मा के सभी आगन्तुक धर्म या विशेष गुण हमेशा–हमेशा के लिये नष्ट हो जाते है, इसलिये न्यायदर्शन मे मोक्ष को 'अशेषविशेषगुणोच्छेदो मोक्ष'[2] कहकर भी परिभाषित किया गया है।

इस प्रकार न्याय दर्शन के अनुसार मोक्ष प्राप्ति का एक मात्र साधन तत्त्व ज्ञान ही है। इसी तत्त्व ज्ञान के द्वारा मिथ्या ज्ञान के साथ ही साथ वासना आदि का भी अन्त हो जाता है। न्याय दर्शन मे यद्यपि कर्मवाद को मान्यता दी गयी है, किन्तु वह कर्म को अज्ञान

---

[1] दुखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञाननामुत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्ग —न्यायसूत्र १/१/१

[2] न्यायमजरी भाग–२ पृष्ठ ७७ – भारतीय दर्शन डा० नन्दकिशोर देवराज पृ० ३०५ से उद्धृत

के उच्छेद का साधन नहीं मानता है। कर्म यदि फल प्राप्ति की इच्छा के बिना किया जाता है तो इससे उच्च कुल मे, ऐसे सुसस्कृत परिवार मे, जिसमे चिन्तन की परम्परा बनी हो जीव जन्म लेता है और सगति के प्रभाव के कारण उसमे चिन्तन के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है, फिर अपनी जिज्ञासा को शान्त करने के लिये वह गुरु के पास जाकर प्रमाण एव प्रमेय आदि का श्रवणात्मक ज्ञान प्राप्त करके उस पर मनन करता है एव अन्त मे निदिध्यासन के द्वारा तत्त्वो का साक्षात्कार करता है। इसमे अष्टाग योग का अनुष्ठान भी सहायक होता है।[1] इस प्रकार निष्काम कर्म तत्त्वसाक्षात्कार मे सहायक सिद्ध होता है, किन्तु वह कर्म स्वय मिथ्या ज्ञान का विनाश नहीं कर सकता है।

इस प्रकार तत्व–ज्ञान की प्राप्ति का साधन न्याय–वैशेषिक मे भी अष्टाग मार्ग को स्वीकार किया गया है। प्राणायाम एव योगाभ्यास आदि मुक्ति के लिये आवश्यक है।[2] इसके साथ ही श्रवण, मनन एव निदिध्यासन को भी मोक्ष प्राप्ति के लिये आवश्यक माना गया है। न्याय दर्शन मे नित्य एव नैमित्तिक कर्मो एव निष्काम भाव से किये जाने वाले अन्य कर्मो के महत्त्व को स्वीकार करते हुये तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति मे सहायक माना गया है किन्तु मुक्ति के मार्ग के रूप मे इन्हे मान्यता नहीं दी गयी है।

न्याय दर्शन के अनुसार मोक्ष की अवस्था मे आत्मा के केवल दुखो का ही अन्त नहीं होता है, बल्कि उसके सुखो का भी अन्त हो जाता है। वेदान्तियो के सिद्धान्त कि–आनन्द आत्मा का वास्तविक स्वरूप है यह आत्मा मे कहीं बाहर से नहीं आता है। अत मोक्ष की अवस्था मे सभी बधनो का विनाश हो जाने के कारण आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करके, आनद का अनुभव करती है। किन्तु न्याय–दर्शन के अनुसार मोक्ष की अवस्था आनन्द–विहीन अवस्था है। दुख के अभाव मे आनन्द का भी अभाव हो जाता है। न्याय दर्शन के अनुसार आनन्द या सुख भी उतना ही वास्तविक ही जितना कि दुख। सुख एव दुख दोनो अवियोज्य रूप से सम्बन्धित हैं इस कारण दुख का परित्याग करने के लिये

---

[1] अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेश। न्यायसूत्र – ४/२/४२

[2] उपस्कार सूत्र ६/२/१६

सुख का परित्याग भी आवश्यक है। सुख को न्याय–दर्शन मे आत्मा का आगन्तुक गुण माना गया है। अत सुख के नाश से आत्मा के स्वरूप मे कोई हानि नहीं होगी।

मोक्ष की अवस्था मे आत्मा सुख–दुख से पूर्णरूपेण शून्य होकर अचेतन हो जाती है। किसी भी प्रकार की अनुभूति आत्मा मे शेष नहीं रहती। यही आत्मा की चरम अवस्था है। वेदान्तियो के विरोध मे महर्षि गौतम का मानना है कि प्रत्यक्ष एव अनुमान प्रमाण के द्वारा वेदान्ती अपने सिद्धान्त 'आत्मा आनन्द स्वरूप है' का समर्थन नहीं कर सकते क्योकि वे अपने मत के समर्थन मे श्रुति का सहारा लेते हुये उसके कुछ वाक्यो को उद्धृत करते है किन्तु श्रुति मे सुख या आनन्द शब्द का प्रयोग 'निषेधात्मक अर्थ' मे किया गया है। श्रुतियो मे सुख से तात्पर्य दुख के अभाव से है किसी भावात्मक अनुभूति से नहीं। हम अपने दैनिक जीवन मे भी दुख के अभाव के रूप मे सुख शब्द का प्रयोग करते है। इसी प्रकार मोक्ष की प्राप्ति तभी सभव होती है जब समस्त प्रकार की इच्छाओ का नाश हो जाता है, यहाँ तक कि मोक्ष प्राप्ति की इच्छा तक का भी नष्ट होना आवश्यक है। किन्तु यदि मोक्ष की अवस्था आनन्द की अवस्था है तो इस आनन्द को प्राप्त करने की इच्छा मनुष्य मे सदैव बनी रहेगी। अत उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकेगी इस प्रकार न्याय एव वैशेषिक के मत मे मुक्ति की अवस्था में आनन्द अथवा सुख का अनुभव नहीं होता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि न्याय दर्शन मे मोक्ष की निषेधात्मक परिभाषा दी गयी है। मोक्ष की अवस्था मे न केवल दुख की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है, बल्कि आनन्द की भी उपलब्धि नही होती है। मोक्ष प्राप्ति के उपरान्त आत्मा मे गुण या सस्कार नहीं रह जाते हैं तथा वह चैतन्य से भी शून्य हो जाती है। वात्स्यायन के अनुसार आनद भी आत्मा को बधन मे डालने वाला धर्म या गुण है अत मुक्तावस्था मे दुख के साथ साथ आनद की भी परिसमाप्ति अनिवार्य है। इस प्रकार न्याय वैशेषिक के अनुसार मोक्ष की अवस्था ज्ञान, चैतन्य, आनन्द से रहित है जिसे प्राप्त करके आत्मा जन्म–मरण के सासारिक चक्र से पूर्णत मुक्त हो जाता है।

जन्म–मरण से मुक्त होकर आत्मा शान्त, गुणातीत अवस्था को प्राप्त होता हे जिसमे व्यक्ति वीतराग हो जाता है इस गुणातीत अवस्था मे आत्मा सकल्पादि से निवृत्त होकर अपनी आदि, पवित्र, निर्मल, विकारहीन अवस्था मे स्थित हो जाता है। न्यायमजरी मे भी कहा गया है कि मुक्त दशा मे आत्म-तत्त्व अपने विशुद्ध स्वरूप मे प्रतिष्ठित हो जाता है।

न्याय–वैशेषिक दर्शन के अनुसार मुक्तावस्था मे आत्मा मे बुद्धि, इच्छा, दु ख, सुख, द्वेष, सस्कार, प्रयत्न, धर्म एव अधर्म इन नौ गुणो का अभाव हो जाता है। इस अवस्था मे आत्मा अपने समस्त आगन्तुक धर्मो या गुणो का परित्याग कर देती है। सख्या, परिमाण, पृथक्त्व एव सयोग तथा विभाग ये गुण ही मुक्तावस्था मे आत्मा के साथ रहते है। इस अवस्था मे वह 'अपने स्वरूप' या 'निज–स्वरूप' मे प्रतिष्ठित होता है। कणाद् दर्शन मे द्रव्य गुण आदि षड्पदार्थो के ज्ञान से मोक्ष प्राप्ति को सभव माना गया है।[1] वात्स्यायन के अनुसार सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति होने के फलस्वरूप सासारिक पदार्थों मे आसक्ति का नाश हो जाता है। फलस्वरूप आत्मा मे मन, वाणी या शरीर से किसी कर्म को करने की प्रवृत्ति नहीं होती, अत पुन जन्म भी नहीं ग्रहण करना पडता। धीरे–धीरे उसके प्रारब्ध कर्म योग द्वारा समाप्त हो जाते है और इनकी समाप्ति पर आत्मा मुक्त हो जाती है।

न्याय एव वैशेषिक दर्शन मे जीवन मुक्ति के सिद्धान्त को माना गया है अथवा नही यह विवादास्पद है, किन्तु न्याय एव वैशेषिक सिद्धान्तो का अध्ययन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि इन दोनो दर्शनो मे जीवन–मुक्ति की अवधारणा को स्वीकार किया गया है। उद्योतकर ने न्यायसूत्र भाष्य को आधार मानकर मुक्ति को दो प्रकार का माना है[2]– 'पर नि श्रेयस' एव 'अपर नि श्रेयस'। इनमे से पर नि श्रेयस विदेहमुक्ति तथा अपर नि श्रेयस जीवन मुक्ति की अवधारणा है। लम्बी अवधि तक अविच्छिन्न रूप मे श्रद्धा के साथ बद्ध मूलतत्त्व के साक्षात्कार द्वारा मिथ्या ज्ञान के निवृत्त हो जाने पर

---

[1] वैशेषिक सूत्र – १/१/४
[2] न्याय वार्तिका – १/१/२

साधक की तत्काल उसी क्षण अग्रिम प्रवृत्ति रुक जाती है, तब वह जीवन मुक्त कहलाता है। जीवनमुक्ति प्राप्त करने के बाद भी साधक शरीर को धारण किये रहता है, क्योकि उसके प्रारब्ध कर्मो का फल अभी समाप्त नही हुआ है। किन्तु शरीर को धारण किये रहने पर भी तत्त्व के साक्षात्कार के कारण साधक की शरीर आदि मे आसक्ति नही उत्पन्न होती। जब उपभोग के द्वारा प्रारब्ध एव सचित कर्मो का विनाश हो जाता है तब साधक का शरीर के साथ सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है और तभी उसे पर नि श्रेयस या 'विदेह मुक्ति' प्राप्त होती है।

इस प्रकार अज्ञान या मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति हो जाने के पश्चात् व्यक्ति के शुभ एव अशुभ कर्मो से आत्मा रूपी भूमि मे धर्म–अधर्म रूपी अकुर की ठीक उसी प्रकार उत्पत्ति नही हो सकती, जिस प्रकार गर्मी की ऋतु मे सूर्य के प्रचण्डतम ताप से सूखने के कारण ऊसर हुई भूमि मे पडे बीजो के द्वारा अकुर की उत्पत्ति नही होती है। आत्मा रूपी यह भूमि जब तक मिथ्याज्ञान रूपी जल से सीची जाती है, तभी तक यह उर्वर रहती है ऐसी भूमि मे कर्म रूपी बीज बोने से पुण्य एव पाप रूपी अकुर की उत्पत्ति होती है, किन्तु जब तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, उस अवस्था मे तत्त्वज्ञान रूपी प्रचण्ड ताप से मिथ्या ज्ञान रूपी जल सूख जाता है तो आत्मा रूपी भूमि ऊसर हो जाती है उस समय उसमे कर्म रूपी बीज बोने से पुण्य पाप रूपी अकुर की उत्पत्ति नही होती है। इस प्रकार जिस पुरुष को तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो जाती है उसमे फिर पाप एव पुण्य की उत्पत्ति की सभावना समाप्त हो जाती है। पूर्वजन्म मे सचित कर्मो को जब व्यक्ति भोग लेता है एव इनका विनाश हो जाता है तब व्यक्ति का शरीर के साथ सम्बन्ध छूट जाता है और उसके दु खो की आत्यन्तिक निवृति हो जाती है और वह विदेह मुक्ति को प्राप्त करता है। इसके बाद उसका पुर्नजन्म नहीं होता है।

मोक्ष की अवस्था मे इक्कीस भेदो वाले दु ख, शरीर छ इन्द्रियॉ, उनके छ विषय, छ बुद्धि एव सुख एव दु ख की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। इस अवस्था मे आत्मा अपने समस्त आकस्मिक धर्मो का परित्याग कर देता है। वह शान्त एव निर्विकार हो

जाता है। इस अवस्था मे उसका ज्ञान एव चैतन्य भी नही रह जाता क्योकि न्याय दर्शन मे चैतन्यादि को आत्मा का आगन्तुक गुण माना गया है उसमे शरीर एव इन्द्रियो के माध्यम से चैतन्य का प्रादुर्भाव होता है। अत जब आत्मा का शरीरादि से सम्पर्क छूट जाता है तो उसमे इन धर्मो का भी नाश हो जाता है। इस अवस्था मे आत्मा मे न तो सुख रहता है न ही दु ख रहता है, वह जड पाषाणवत् सज्ञा शून्य हो जाता है। वैशेषिक दर्शन मे भी कहा गया है कि 'जिस प्रकार ईधन के जल जाने पर अग्नि अपने आप शान्त हो जाती है, ठीक उसी प्रकार प्रवृत्ति, दोष, गुण आदि के निर्जीव या समाप्त हो जाने पर आत्मा शरीर एव इन्द्रियो के बधन से मुक्त हो शान्त हो जाता है'। आत्मा का अपने समस्त आकस्मिक धर्मो का परित्याग करके शुद्ध एव निर्मल स्वरूप मे प्रतिष्ठित होना ही नि श्रेयस है। अब हम अगले अध्याय मे मीमासा दर्शन मे आत्मा एव मोक्ष सम्बन्धी विचारो की चर्चा करेगे। मीमासा दर्शन एव न्याय वैशेषिक दर्शन के आत्म–तत्त्व सम्बन्धी विचारो मे काफी साम्य पाया जाता है।

पचम अध्याय

मीमांसा-दर्शन

वेदो पर पूर्णत आधारित होने के कारण मीमासा दर्शन आस्तिक दर्शनो मे अग्रणी है। इसमे वैदिक वाक्यो को प्रमाण के रूप मे स्वीकृत किया गया है। मीमासा दर्शन के दो भाग है—पूर्व मीमासा एव उत्तर मीमासा। जिस भाग मे वेदो के पूर्वभाग कर्मकाण्ड सम्बन्धी विवेचन किया गया है वह पूर्व मीमासा तथा जिस भाग मे वेदो के उत्तर भाग ज्ञान काण्ड सम्बन्धी विवेचन किया गया है वह उत्तर मीमासा कहलाता है। उत्तर मीमासा को 'वेदान्त–दर्शन' भी कहते है। साख्य–योग एव न्याय–वैशेषिक की भॉति पूर्व मीमासा एव वेदान्त को समान–तन्त्र माना जाता है। पूर्व मीमासा को ही मीमासा–दर्शन के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

प्रारम्भिक मीमासा दर्शन का प्रतिपाद्य विषय धर्म ही था। इस समय केवल अर्थ, धर्म, एव काम तीन पुरुषार्थो को ही स्वीकार किया गया है, किन्तु बाद मे मीमासा दर्शन के व्याख्याकारो ने मोक्ष को भी पुरुषार्थ के रूप मे स्वीकार किया है। इन्होने आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, मुक्ति आदि दार्शनिक तत्त्वो का विवेचन किया है।

मीमासा दर्शन के सूत्रकार महर्षि जैमिनी थे। इन्होने मीमासा दर्शन के आदि ग्रन्थ की रचना की थी। अनेक विद्वानो का मानना है कि महर्षि जैमिनी से पूर्व भी कुछ मीमासा ग्रन्थो की रचना हुई थी। स्वय महर्षि जैमिनि ने मीमासा के आठ आचार्यो के मत का उल्लेख किया है, किन्तु मीमासा दर्शन का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ मीमासा सूत्र ही है।

मीमासा सूत्र पर शबर स्वामी ने शाबर भाष्य की रचना की। शाबर भाष्य के तीन व्याख्यानकर्त्ता हुये कुमारिल भट्ट, प्रभाकर मिश्र एव मुरारि मिश्र। इन तीनो विचारको के मत मे अनेक अन्तर होने के कारण मीमासा दर्शन तीन वर्गो मे विभक्त हो गया– भाट्टमत, गुरुमत एव मिश्रमत।

शाबर भाष्य पर प्रभाकर मिश्र ने दो टीकाये बृहती तथा लध्वी कुमारिल भट्ट ने श्लोक वार्तिक, तन्त्रवार्तिक तथा दुप्टीका लिखी मुरारिमिश्र का कोई व्याख्यान ग्रथ अभी पूर्णरूप मे उपलब्ध नहीं है किन्तु उनके ग्रथ का कुछ अश डा० उमेश मिश्र ने प्राप्त किया है। ये रचनाये 'त्रिपादनीतिनयम्' व 'एकादशाध्यायाधिकरणम्' नाम से जानी जाती है।

मीमासा दर्शन के अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रथो मे पार्थसारथि मिश्रकृत न्यायरत्नाकर एव शास्त्रदीपिका, तर्करत्न एव न्याय रत्नमाला, शालिकनाथ कृत–प्रकरणपजिका, न्यायरत्नमाला, लौगाक्षिभास्कर का अर्थ सग्रह आदि उल्लेखनीय है जिनके द्वारा मीमासा दर्शन के विषय मे प्रमाणिक जानकारी प्राप्त होती है। मीमासा दर्शन मे 'धर्म' के विचार के प्रसग मे शारीरिक, मानसिक एव वाचिक सभी प्रकार के सत्कर्मो पर विचार किया गया है और इन्ही के द्वारा ही आत्म शुद्धि का होना स्वीकार किया गया है।

यहाँ पर एक स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि पूर्व मीमासा यदि दर्शन क्षेत्र मे उत्तर मीमासा का पूरक अथवा अनुयायी मात्र है तो पूर्व के अध्यायो मे वर्णित साख्य–योग एव न्याय–वैशेषिक दर्शनो की ही भॉति इन दोनो दर्शनो पर भी एक साथ विचार क्यो न कर लिया जाये। इस प्रश्न के उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि साख्य योग एव न्याय वैशेषिक दर्शनो मे जहाँ साख्य एव वैशेषिक सैद्धान्तिक तथा योग एव न्याय व्यावहारिक पक्षो की पूर्ति करने के बावजूद एक–दूसरे के निणयो से सर्वथा विरुद्ध जाते नहीं प्रतीत होते हैं वहीं पूर्वमीमासा ने दार्शनिक तत्त्वो का विश्लेषण पूर्णतया उत्तर मीमासा पर छोड दिया है और स्वय मात्र कर्म परक रह गई है और उत्तर मीमासा दार्शनिक चिन्तन मे इतनी ज्यादा मग्न हो गयी है कि उसके निष्कर्षो का पूर्व मीमासा पर क्या प्रभाव पडता है इसका उसको ध्यान नहीं रहता। इसके परिणाम स्वरूप पूर्व मीमासा को जिन दार्शनिक तत्त्वो के समावेश की आवश्यकता हुई उनके प्रति उसकी धारणा उत्तर मीमासा की प्रतिपाद्य धारणाओ से दूर पड गयी। दोनो मीमासाओ मे वेद की प्रमाणिकता मे चरम विश्वास ही आधार मात्र रह गया। इसी से ये दो भिन्न सम्प्रदाय तो हो ही गये, साथ ही साथ इनमे दार्शनिक विवेचनो मे भी वैषम्य आ गया अत हम इन दोनो मीमासाओ के आत्म तत्त्व सम्बधी विचारो का अलग–अलग निरूपण करेगे।

आत्मा

मीमासा दर्शन मे कर्मकाण्ड को महत्त्व दिया गया है। इसमे यज्ञो के अनुष्ठान एव फलो की चर्चा की गयी है। इस सम्बन्ध मे 'स्वर्गकामो यजेत' आदि वाक्यो को मीमासा दर्शन मे स्वीकार किया गया है। तब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यज्ञ का कर्त्ता एव स्वर्ग आदि का भोक्ता कौन है? शरीर, मन एव इन्द्रियाँ स्वर्ग का भोग नहीं कर सकती है, क्योकि ये मृत्यु को प्राप्त होने के पश्चात् इसी ससार मे दग्ध हो जाती हैं। अत कर्मो के अनुष्ठान कर्त्ता एव फलो के भोक्ता के रूप मे इन्द्रिय, मन एव शरीर से भिन्न आत्मा तत्त्व की सत्ता मीमासा दर्शन मे स्वीकार की गयी है। मीमासा दर्शन का आत्म-तत्त्व साख्य के पुरुष के समान असग एव निर्लिप्त न होकर न्याय–वैशेषिक की भाँति ज्ञाता, कर्त्ता एव फलो का भोक्ता है। प्रभाकर के मतानुसार "आत्मा एक अचेतन द्रव्य है। चैतन्य उसका वास्तविक स्वरूप न होकर आगन्तुक धर्म है।" बुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा इत्यादि गुणो का आत्मा अधिष्ठान है। आत्मा शरीर एव ज्ञानेन्द्रियो से भिन्न, नित्य, सर्वव्यापी एव विभु परिमाण वाला है। यह स्वय ज्ञान स्वरूप नहीं है। यह प्रति शरीर मे पृथक् होने के कारण अनेक है।

आत्मा देहेन्द्रिय आदि से भिन्न है-

मीमासा दर्शन मे प्रभाकर एव कुमारिल दोनो आचार्यो का मानना है कि आत्मा शरीर एव इन्द्रियो से भिन्न कोई पृथक् तत्त्व है, किन्तु दोनो आचार्यो के मतो मे मतभेद है। प्रभाकर का मानना है कि हमे प्रत्येक प्रतीति मे आत्मा की प्रतीति इन्द्रिय एव शरीर आदि साधनो से भिन्न होती है। प्रत्येक शरीरेन्द्रियजन्य एव मानस प्रत्यक्ष मे आत्मा की सत्ता का आभास अलग मिलता है। 'मै घट को जानता हूँ' इस वाक्य मे स्वप्रकाश ज्ञान जहाँ विषय वस्तु को प्रकाशित करता है वहीं 'मैं' शब्द से अभिधीयमान ज्ञान के कर्त्ता आत्मा को भी आलोकित करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस ज्ञान प्रक्रिया मे शरीर एव इन्द्रिय आदि कही पर भी अभिव्यक्त नहीं होते हैं। अतएव शरीर एव इन्द्रियो से भिन्न आत्मा है और वह ज्ञाता के रूप सर्वत्र अभिव्यक्ति पाता है।

किन्तु कुमारिल भट्ट प्रभाकर के इस मत से सहमत नही है उनका मानना है कि प्रत्येक बाह्य विषय के ज्ञान के साथ हमे हमेशा आत्मा का ज्ञान नही होता है। आत्मा का ज्ञान कभी–कभी होता है। इसी कारण शरीर एव इन्द्रिय आदि स आत्मा के अलग होने मे यह युक्ति कोई अर्थ नही रखती है। इसका वास्तविक कारण बताते हुये उन्होने कहा है कि सकल्प–विकल्प, ज्ञान, सुख–दु ख, इच्छा, गति, स्पन्दन आदि आत्मा के अग है, क्योकि मृत्यु के पश्चात् शरीर विद्यमान रहता है, किन्तु ये सारी क्रियाये एव अनुभूतियॉ समाप्त हो जाती हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि शरीर के अतिरिक्त कोई अन्य सत्ता अवश्य है जो सुख–दु खादि का अनुभव करता है। अत आत्मा की सत्ता है जो शरीर, प्रयत्न, इच्छा, सुख, दु ख आदि का अधिष्ठान है। ज्ञान, सवेदना आदि को आत्मा सहज ही ग्रहण करती है इसीलिये ये शरीर के अग न होकर आत्मा के अग है। हमारे शरीर के गुण रूप, रग, आदि सभी लोगो के प्रत्यक्ष के विषय होते है, परन्तु इच्छा, प्रयत्न, सुख–दु खादि किसी अन्य को कभी प्रतीत नही होते इसीलिये भी आत्मा–शरीर व इन्द्रियो से पृथक् है। शरीर एव इन्द्रियो से पृथक् हो जाने पर भी आत्मा की प्रतीति होती है। यहॉ पर कार्य कारणवाद के सिद्धान्त के अनुसार भी आत्मा की शरीरेन्द्रिय आदि से पृथकता सिद्ध की गयी है। यह एक सामान्य नियम है कि कारण के गुण कार्य मे भी गुण बनकर आते हैं। पार्थिव परमाणुओ मे ज्ञान गुण का सर्वथा अभाव है। उनमे जडत्व है, चेतनता नहीं। इससे भी सिद्ध होता है पार्थिव परमाणुओ से उत्पन्न शरीरादि भी कारण गुण क्रम से जड ही हैं। ज्ञान गुण का अधिष्ठान चेतन कोई आप ही है। वही आत्मा है।

<u>आत्मा की प्रतीति</u> –

प्रभाकर का मानना है कि ज्ञातृत्व के रूप मे आत्मा की अन्यत्र कहीं भी प्रतीति नहीं होती और यदि होती है तो विषय प्रतीति के प्रसग मे ही आत्मा की प्रतीति या अनुभूति मे होती है। किसी भी विषय की प्रतीति ज्ञाता को अपने साथ बिना लपेटे अभिव्यक्त नहीं होती। ज्ञान आत्मा का आगन्तुक गुण है वह स्वप्रकाश है। ज्ञान को

अपनी अभिव्यक्ति के लिये किसी अन्य की आवश्यकता नही होती है। चूँकि ज्ञान आत्मा का आगन्तुक गुण है इसी कारण वह उत्पत्ति एव विनाशशील तथा अनित्य है। विषय सम्पर्क के द्वारा ही आत्मा मे ज्ञान की उत्पत्ति होती है। ज्ञान का कार्य ज्ञेय या पदार्थ को प्रकाशित करना है, किन्तु जैसे ही ज्ञान ज्ञेय को प्रकाशित करता है, उसी के साथ स्वप्रकाश होने के कारण स्वय भी प्रकाशित हो जाता है और साथ ही साथ आत्मा को भी ज्ञाता के रूप मे प्रकाशित कर देता है। इस प्रकार जब हम वैषयिक ज्ञान कि 'मे घट को जानता हूँ' आदि को वाक्यो से अभिव्यक्त करते है तो इसमे ज्ञाता, ज्ञेय एव ज्ञान तीनो का एक साथ बोध हो जाता है। अत प्रत्येक ज्ञान मे ज्ञान, ज्ञाता एव ज्ञेय का बोध होता है और यही 'त्रिपुटी प्रत्यक्ष' का सिद्धान्त है। ज्ञान की क्रिया का मुख्य आधार आत्मा है। जिस प्रकार किसी कमरे मे प्रकाशित दीपक का प्रकाश कमरे मे रखी सम्पूर्ण सामग्री को, स्वय को एव अपने आश्रय दीपक को प्रकाशित करता है ठीक उसी प्रकार ज्ञान इन्द्रिय सन्निहित पदार्थो को ज्ञेय के रूप मे अपने आश्रयभूत आत्मतत्त्व को ज्ञाता के रूप मे एव स्वय को ज्ञान के रूप मे प्रकाशित करता है। इस प्रकार 'देहलीदीपकन्याय' से ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान की त्रिपुटी को बोध होता है। कुमारिल के विपरीत प्रभाकर का मानना है कि आत्मा को ज्ञेय कहना अनुचित है किसी भी क्रिया मे कर्त्ता एव कर्म कदापि एक नहीं हो सकते हैं– जैसे अन्न खाने वाला व अन्न एक नहीं हैं। ज्ञेय केवल वस्तुये ही होती हैं और आत्मा सदैव ज्ञाता होता है और सभी ज्ञानो के ज्ञाता के रूप मे ही प्रकट होता है। यदि वस्तु के ज्ञान के साथ-साथ आत्मा का ज्ञान होना न माना जाये तो एक आत्मा एव दूसरे आत्मा के ज्ञान मे कोई अन्तर नहीं रह जायेगा, किन्तु इससे तात्पर्य यह नहीं है कि आत्मा स्वप्रकाश है। आत्मतत्त्व तो बिलकुल जड है जो अपनी अभिव्यक्ति के लिये पूर्णरूपेण ज्ञान पर निर्भर है। वह ज्ञान का आश्रय होने के बावजूद अपनी अभिव्यक्ति के लिये ज्ञान पर ही आश्रित है तथापि इसके लिये एक अलग ज्ञान क्रिया का होना आवश्यक नहीं है, क्योकि जब किसी वस्तु का ज्ञान होता है तब उसके साथ ही आत्मा का भी ज्ञान हो जाता है। आत्मा या ज्ञाता के न

रहने पर ज्ञान सभव नही है। प्रत्येक ज्ञान मे आत्मा ज्ञाता के रूप मे अवश्य प्रकाशित होता है। अत आत्मा रूपी ज्ञाता का ज्ञान, ज्ञेय के रूप मे कभी नहीं हो सकता। यद्यपि ज्ञेय वस्तुये एव ज्ञाता आत्मा दोनो ही प्रकाश के लिये ज्ञान पर निर्भर है तथापि ज्ञेय का प्रकाश सदा ज्ञेय वस्तुओ के रूप मे एव ज्ञाता आत्मा का प्रकाश सदा ज्ञाता के रूप मे ही होता है। इस प्रकार आत्मा 'मानसप्रत्यक्षगम्य' न होकर 'आश्रयविधया' प्रकाशित होता है उसमे क्रिया न होने के कारण वह जड है।

किन्तु कुमारिल भट्ट ने शरीरादि से व्यतिरिक्त आत्मा को 'मानसप्रत्यक्षगम्य'[1] माना है। आत्मा अपना साक्षात्कार मानसिक ज्ञान से करता है। कुमारिल ज्ञान को आत्मा का परिणाम या क्रिया मानते है जिसके द्वारा आत्मा पदार्थो को जानता है। कुमारिल भट्ट के अनुसार आत्मा एक साथ विषयी एव विषय अथवा ज्ञाता एव ज्ञेय हो सकता है। इसके प्रमाण मे वे 'मैं स्वय को जानता हूँ' इस युक्ति को प्रस्तुत करते हैं। कुमारिल के अनुसार आत्म-सवित्ति अर्थात् अपने को जानने मे आत्मा का ज्ञान होता है। यहाँ पर प्रभाकर मतावलम्बियो द्वारा यह आक्षेप प्रस्तुत किया गया है कि कोई वस्तु एक साथ कर्त्ता एव कर्म दोनो नहीं हो सकती, प्रत्येक वस्तु ज्ञान मे आत्मा का ज्ञान कर्त्ता के रूप मे ही होता है, किन्तु कुमारिल कहते है कि शास्त्र एव लौकिक दोनो अनुभव से यह सिद्ध होता है कि आत्मा ज्ञान का कर्त्ता एव विषय दोनो होता है। शास्त्र वाक्य है 'आत्मान विद्ध' अपने को जानो और लौकिक अनुभव है कि हम स्वय को जानते हैं। इस प्रकार आत्म-सवित्ति द्वारा आत्मा का ज्ञान सभव है। इसके साथ ही प्रभाकर के मत मे जहाँ ज्ञान त्रिपुटी प्रत्यक्ष मे आत्मा एव विषय दोनो को आलोकित करने के कारण कर्त्ता एव स्वय को आलोकित करने के कारण कर्म भी है। आत्मा 'मै' का आधार द्रव्य अवश्य है, किन्तु इसका प्रत्यक्ष सदा वैषयिक ज्ञान के प्रसग मे ज्ञाता के रूप मे नहीं होता इसका मानस-प्रत्यक्ष ही युक्ति-युक्त है। इस प्रकार कुमारिल आत्मा का ज्ञान सीधे 'अह प्रत्यय' से होना मानते हैं।[2]

---

[1] श्लोक वार्तिक- आत्मवाद १-५ डा० उमेश मिश्र पृष्ठ २५० से उद्धृत

[2] शास्त्र दीपिका-१२२

कुमारिल के अनुसार ज्ञान न तो स्वय प्रकाशित होता है और न ही आत्मा को ज्ञाता के रूप मे प्रकाशित कर सकता है। ज्ञान केवल ज्ञेय विषयो या पदार्थो को ही प्रकाशित करता है। कुमारिल ज्ञान को स्वप्रकाशक न मानकर अर्थ प्रकाशक मानते है। उनके अनुसार ज्ञान की साक्षात् अनुभूति नही होती है। ज्ञान का प्रत्यक्ष ज्ञान न होकर केवल अनुमान ही होता है। कुमारिल आत्मा को 'अह प्रत्यय' रूप मानते है जो स्वय को अपना विषय बनाकर जानता है। ज्ञान ज्ञेय को ही प्रकाशित कर सकता है। अत ज्ञाता भी अपना ही ज्ञेय बनकर ज्ञान के द्वारा प्रकाशित होता है। यद्यपि अन्य पदार्थ आत्मा द्वारा ज्ञेय होते है, किन्तु आत्मा स्वय ही अपना ज्ञेय बनता है, किसी अन्य का नही।

तब यहाँ पर एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता है तो फिर ज्ञान अनुमान किस आधार पर किया जाता है ? इस प्रश्न के उत्तर मे भाट्ट मीमासको का मानना है कि ज्ञान का अनुमान 'ज्ञातता' के आधार पर किया जाता है। किसी पदार्थ का जब ज्ञान होता है तब उस पदार्थ मे 'ज्ञातता' नामक धर्म की उत्पत्ति होती है। 'ज्ञातता' से यहाँ तात्पर्य यह है कि वह पदार्थ ज्ञात के द्वारा ज्ञात हो चुका है इसकी प्रतीति होती है। इसी 'ज्ञातता' रूपी धर्म के कारण ही ज्ञान का अनुमान किया जाता है। आत्मा मे ज्ञान की उत्पत्ति अवश्य हुई जिसने ज्ञेय पदार्थ को प्रकाशित करके आत्मा के द्वारा ज्ञात बना दिया। यदि ज्ञान का अस्तित्व न होता तो पदार्थ ज्ञात नही होता । इस प्रकार पदार्थ के ज्ञात होने पर उसकी ज्ञातता के कारण ज्ञान का अनुमान किया जाता है। कुमारिल भट्ट का यह सिद्धान्त 'ज्ञाततावाद' के नाम से जाना जाता है।

कुमारिल भट्ट का मानना है कि ज्ञान आत्मा का स्थिर धर्म न होकर क्रिया या व्यापार है। आत्मा को ज्ञान से विशिष्ट या ज्ञान के कर्त्ता के रूप मे नही जाना जा सकता, किन्तु फिर भी आत्मा को अज्ञात नहीं कहा जा सकता, क्योकि यह सभी अनुभवो मे आत्मा के एक बने रहने की अनुभूति के विपरीत होगा। इसलिये आत्मा का ज्ञान 'अह प्रत्यय' के कर्म के रूप मे होता है।

भट्ट मीमासक आत्मा मे क्रिया का अस्तित्व स्वीकार करते है। कर्म के दो प्रकार है– स्पन्द तथा परिणाम। कुमारिल के अनुसार आत्मा मे स्पन्द नही होता है, परन्तु परिणाम होता है।[1] परिणामी मानने पर भी कुमारिल आत्मा को नित्य मानते है यद्यपि आत्मा मे रूप परिवर्तन होता है, फिर भी आत्मा नित्य है। कुमारिल के अनुसार आत्मा मे दो अश होते है– चित् एव अचित्। आत्मा चिदश के द्वारा प्रत्येक ज्ञान का अनुभव करता है और अचिदश के द्वारा वह परिणाम को प्राप्त करता है। न्याय एव वैशेषिक दर्शन मे हमने देखा कि इच्छा, प्रयत्न, सुख, दु ख आदि को आत्मा का विशेष गुण माना गया है वही भाट्टमतानुसार इच्छादि आत्मा के अचिदश के परिणाम रूप है।[2]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि दोनो आचार्य यह स्वीकार करते है कि आत्मा ज्ञान स्वरूप या स्वय प्रकाश नहीं है। आत्मा स्वय अपने आपको प्रकाशित नहीं करता है यदि आत्मा स्वय प्रकाश होता तो सुषुप्ति मे भी उसकी अभिव्यक्ति होती अर्थात् हम गहरी निद्रा मे भी इसके कार्य को देख पाते, जिस समय इन्द्रियो का व्यापार स्थिर हो जाता है, किन्तु यह सर्वानुभव सिद्ध है कि सुषुप्ति मे इसकी अभिव्यक्ति नहीं होती है। इसी कारण सुषुप्ति अवस्था अचेतन अवस्था है, जिसमे किसी प्रकार की चेतना या आनन्द का बोध नहीं होता है। सुषुप्ति के पश्चात् 'सुखमाहमस्वाप्सम्' अर्थात् मै बडे आनन्द के साथ सोया यह कहने का तात्पर्य यह है कि उस समय कोई कष्ट नहीं हुआ। मै बडे आनन्द के साथ सोया केवल यही एकान्तत सत्य अनुभूति नहीं है, इसके विरुद्ध भी अनुभूति देखी जाती है। यदि यह आनन्द की अवस्था होती तो मनुष्य यह शिकायत नहीं करता कि असामयिक निद्रा ने हमको आनन्द से वचित कर दिया। मनुष्य ऐसा भी कहते हुये पाया जाता है कि 'मैं ऐसी गहरी निद्रा मे सोया कि मुझे स्वय की कोई खबर न रही।' इससे यह स्पष्ट होता है कि आनन्द एव चैतन्य आत्मा के स्वरूप नही है अन्यथा सुषुप्तावस्था मे भी उसके इन रूपो की अभिव्यक्ति अवश्य होती ।

---

[1] श्लोक वार्तिक–७०७, श्लोक –७४

[2] चिदशेन दृष्टव्य सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञा, विषयत्व च अचिदशेन। ज्ञानसुखादिरूपेण परिणामित्वम्। स आत्मा अह प्रत्ययेनैव वेद्य।– अद्वैतब्रह्मसिद्धि, काश्मीरक सदानन्द।– डा० देवराज नन्दकिशोर पृष्ठ ४६७ से उद्धृत

आत्मा का स्वरूप -

कुमारिल भट्ट जैन मत के समान आत्मा के नित्यानित्य, भेदाभेद, चिदचिद्, द्रव्य एव गुण कर्मरूप को मानते है। द्रव्य के रूप मे आत्मा नित्य, अभेदात्मक, अचितरूप तथा गुण—कर्म के रूप मे अनित्य, चिद् रूप एव भेदात्मक है। इस प्रकार के आत्मा को जडबोधात्मक एव चिदचिद् रूप मानते है।

विभुत्व – मीमासा दर्शन के अनुसार आत्मा अणु एव मध्यम परिमाण वाला न होकर विभु, देशकाल से अपरिछिन्न व्यापक सत्ता है। जहॉ—जहॉ पर आत्मा के गुणो की उपलब्धि होती है वहॉ—वहॉ पर उसका विद्यमान होना प्रमाण सिद्ध है, क्योकि गुणी के बिना गुणो की प्राप्ति नही हो सकती है। अब आत्मा की सभी स्थानो पर प्राप्ति के दो कारण दिखलाई पडते हैं— या तो आत्मा सर्वव्यापक है या उसे अत्यन्त शीघ्रगामी माना जाये, किन्तु आत्मा को शीघ्रगामी मानने पर उसकी गतिशीलता का कोई असमवायि कारण सोचना पडेगा जो कि सभव नहीं है। इस प्रकार आत्मा सर्वव्यापक है।

आत्मा के सर्वव्यापक होते हुये भी ज्ञान आदि गुणो की सभी स्थानो पर उपलब्धि हमेशा इसलिये नही होती क्योकि इनकी उपलब्धि के लिये आत्ममन सन्निकर्ष रूप असमवायि कारण की आवश्यकता होती है और हम देखते है कि मन हमेशा शरीर के अन्दर ही विद्यमान रहता है। इससे स्पष्ट है कि आत्मा के सर्वव्यापक होने पर भी इन गुणो की उपलब्धि शरीर के साथ ही होती है।[1]

अनेकत्व – आत्मा प्रति शरीर भिन्न भिन्न है। यदि यह पृथक् पृथक् न होता तो एक शरीर के द्वारा प्राप्त सुख—दु ख की उपलब्धि सभी शरीर मे व्याप्त आत्मा को होने वाली माननी पडेगी, किन्तु यह सर्वथा असिद्ध है। व्यक्तिगत विषमताओ के आधार पर भी प्रत्येक शरीर मे भिन्न—भिन्न आत्माओ की कल्पना मीमासा दर्शन मे प्राप्त होती है।

---

[1] प्रकरण पजिका पृष्ठ—१५७

इसके अतिरिक्त प्रत्यभिज्ञा सम्बन्धी एक और युक्ति मीमासा दर्शन मे आत्मा के अनेकत्व के सन्दर्भ मे दी जाती है। जिस प्रकार हम एक इन्द्रिय से प्रत्यक्ष की हुई वस्तु को जब दूसरी इन्द्रिय का विषय बनाते है तो फौरन जान लेते है कि यह वही है जिसे हमने देखा था, उसी को हम स्पर्श कर रहे है। इस प्रकार भिन्न–भिन्न इन्द्रियो का अधिष्ठान एक ही होने से प्रत्यभिज्ञा तर्क सगत हो जाती है, परन्तु यह तभी सभव होता है जब आत्मा दोनो इन्द्रियो के साथ एक ज्ञाता के रूप मे रहता है। इस प्रकार यदि प्रत्येक शरीर मे एक आत्मा को माना जाये तो एक व्यक्ति के द्वारा ज्ञात पदार्थ का दूसरा व्यक्ति भी प्रत्यभिज्ञान कर लेता, परन्तु हम देखते है कि ऐसा नही होता है। इसलिये यह सिद्ध होता है कि आत्मा प्रति शरीर भिन्न है।

इस प्रकार आत्मा की सर्वव्यापकता का अर्थ है कि आत्मा निष्क्रिय है, क्योकि जो सर्वव्यापक है उसमे गति नही हो सकती अत आत्मा मे कर्तृत्व की सभावना नहीं रहती। किन्तु ऐसा नहीं है वेदो मे जो क्रिया रूप मे विधियो का उपदेश किया गया है और जिनके अनुष्ठान से ही धर्म की प्राप्ति होती है उनका कर्तृत्व आत्मा के अतिरिक्त और किसी को हो ही नही सकता है क्योकि धर्म एव अधर्म का फल सुख–दु ख आदि आत्मा को ही होता है। यदि कर्तृत्व दूसरे मे होगा तो उसका फल आत्मा को कैसे मिल सकता है अत आत्मा मे कर्तृत्व है। यद्यपि सर्वव्यापक होने के कारण आत्मा मे चलनात्मक क्रियाओ का अभाव है, किन्तु ज्ञानादि क्रियाओ का कर्तृत्व तो उसमे है ही।

इसके अतिरिक्त सभी भूतो का अधिष्ठाता आत्मा ही है, क्योकि शरीर मे चेष्टाये तभी तक देखी जाती है, जब तक वे आत्मा से अधिष्ठित हैं, मरने पर सभी क्रियाओ की समाप्ति हो जाती है। इस प्रकार अधिष्ठाता होने के कारण आत्मा भूतो के स्पन्दनादि का कर्त्ता भी है। इसी प्रकार प्रेरक होने के कारण भी आत्मा कर्त्ता है। शरीर एव इन्द्रियो को आत्मा जहाँ जहाँ निर्दिष्ट करता है वहीं वहीं पर उनकी गति होती है बिना आत्मा की प्रेरणा के स्पन्दन नहीं होता है। वास्तव मे कर्त्ता आत्मा ही है। देह एव इन्द्रिय आदि तो अस्वतन्त्र एव परप्रयोजक हैं। जो परप्रयोजक होते है उनका कर्तृत्व तो

इस लोक मे भी नही देखा जाता है यथा यज्ञ कर्म ऋत्विज करते है, किन्तु उनका कर्त्ता यजमान होता है जिसकी प्रेरणा यज्ञ कर्म का कारण होती हे ठीक इसी प्रकार शरीर आदि तो आज्ञापालक मात्र है जबकि वास्तविक कर्त्ता आत्मा ही है।

कर्त्ता होने के साथ ही साथ आत्मा भोक्ता भी है। कर्म करने वाले को उसके कर्मो का फल अवश्य मिलता है। यज्ञ करने वाले को स्वर्ग की प्राप्ति को होना श्रुति प्रमाणित है। सुख एव दुख ऐसी परस्पर विरोधी अनुभूतियो का आश्रय होने के कारण आत्मा को अनित्य नहीं माना जा सकता है, क्योकि सुख एव दुख तो विकार है, जो आत्मा मे आते जाते रहते हैं और आत्मा उनसे विकृत भी होता है अर्थात् कर्तृत्व एव भोक्तृत्व की अवस्था मे स्पष्ट रूप से आत्मा अपनी प्राच्य उदासीनता का परित्याग करके विकार ग्रस्त हो जाता है, किन्तु इससे आत्मा की अनित्यता सिद्ध नहीं होती है। यदि विकार अनित्य है तो रहे विकारो के अनित्य होने से उसके आधार का स्वरूप थोडे ही उच्छिन्न हो जायेगा। सुख की अवस्था मे दुख का नाश होता है जबकि दुख की अवस्था मे सुख का लोप हो जाता है। किन्तु इन दोनो अवस्थाओ के आधार रूपी आत्मा की स्थिति तो सत्ता रूप मे सर्वदा ही रहती है। जिस प्रकार अगूँठी के रूप मे परिणत हो जाने पर भी स्वर्ण की सुवर्णता मे कोई परिवर्तन नहीं होता है। वह सुवर्णरूप ही रहता है, ठीक उसी प्रकार आत्मा भी सदैव अस्तित्ववान रहती है। अवस्था मे अन्तर होने पर सत्ता थोडे ही नष्ट हो जाती है। हम देखते हैं कि मनुष्य की अवस्थाओ मे निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। पहले मनुष्य बालक फिर युवा एव बाद मे वृद्ध होता है, किन्तु इन सब परिवर्तनो के बावजूद भी मनुष्य की सत्ता नष्ट नही हो जाती है। अत परस्पर विरोधी अवस्थाये आत्मा मे प्रादुर्भूत एव विलीन होती रहती हैं पर आत्मा अपने सामान्य रूप मे हमेशा स्थिर रहता है।[1]

---

[1] न्याय रत्नाकर– पृष्ठ ६६४

कुमारिल भट्ट आत्मा मे विकार की सभावना को स्वीकार करते है। आत्मा को विकारशील मानने के बावजूद नित्य माना गया है, क्योकि कुमारिल आन्तरिक परिवर्तन को नित्यत्व का विरोधी नहीं मानते हैं। उपर्युक्त विवेचन से भी यह स्पष्ट है कि हम प्रतिदिन अनेक चीजे देखते है जो निरन्तर परिवर्तित होती रहती है, फिर भी उसमे एकता बनी रहती है। ज्ञान आत्मा का एक विकार है। इसे एक क्रिया या व्यापार कहा गया हैं[1] और अतीन्द्रिय माना गया है क्योकि यह आत्मा जैसे सूक्ष्म द्रव्य मे पाया जाता है। आत्मा मे होने वाला यह परिवर्तन या विकार आत्मा का ज्ञात वस्तुओ से एक सम्बन्ध पैदा कर देता है।

मोक्ष - मीमासा सूत्र मे मोक्ष का उल्लेख नही मिलता है उसमे कहा गया है कि वेद द्वारा वर्णित यागादि कर्मो को विधिवत् करना ही मनुष्य का धर्म है, जिसके द्वारा उसे स्वर्ग–सुख की प्राप्ति होती है। इससे स्पष्ट होता है कि यहॉ पर मोक्ष को मानव जीवन का परमध्येय नही माना गया है। किन्तु कालान्तर मे कुमारिल, शालिकनाथ, पार्थसारथि मिश्र, प्रभाकर आदि ने मोक्ष की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है।

परवर्ती मीमासको ने मोक्ष का विवेचन करते हुये मोक्ष की निषेधात्मक परिभाषा दी है। उनके मतानुसार जन्म–मरण सम्बन्धी सभी दु खो एव बन्धो का आत्यन्तिक विनाश ही मोक्ष है। मीमासको ने मोक्ष को परिभाषित करते हुये कहा है कि प्रपच जगत् के साथ आत्मा के सम्बन्ध का आत्यन्तिक विनाश ही मोक्ष है।[2] आत्यन्तिक विनाश का तात्पर्य है कि भूतकाल मे किये गये कर्मो के द्वारा उत्पन्न समस्त पूर्व सचित सस्कारो का पूर्ण विनाश जिसके फलस्वरूप इस ससार मे जीव का पुनर्जन्म नहीं होता है। इस प्रकार वर्तमान शरीर के द्वारा इन्द्रियो एव विषयो का नाश तो हो ही जाता है साथ–साथ बधन के उत्पादक धर्म एव अधर्म का नाश हो जाने से भविष्य मे भी इनकी उत्पत्ति की सभावना नहीं रहती है। मीमासा दर्शन मे जहॉ मोक्ष की अवस्था में

---

[1] शास्त्र दीपिका पृष्ठ– ५६–५७

[2] प्रपचसम्बन्ध विलयो मोक्ष ।   –ब्रह्मसूत्र ३/२/४०

'प्रपञ्चससम्बन्धविलय' माना गया है, वही वेदान्त मे प्रपञ्चविलय को मोक्ष माना गया हे। वेदान्तियो का मानना है कि स्वप्नप्रपच की भॉति यह ससार प्रपञ्च भी आद्य निर्मित है तथा ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के बाद अविद्या का विलय हो जाने से ससार या जगत् की सत्ता भी समाप्त हो जाती है, अर्थात् प्रपञ्च का ही विलय हो जाता हे। परन्तु मीमासक चूँकि जगत् को नित्य मानते है इसलिये उनका मानना है कि आत्मा क मुक्त हो जाने पर भी ससार की सत्ता उसी तरह बनी रहती है जिस तरह अविद्या की दशा मे बनी रहती है। केवल बन्धन का ही नाश होता है।

मीमासको के अनुसार बधन के कारण ही आत्मा ससार मे विचरण करते हुये शरीर एव इन्द्रियो की सहायता से बाह्य विषयो का अनुभव करता है और इसी वजह से वह प्रपञ्चो मे पूर्णतया लीन हो जाता है। भोगायतन शरीर, भोग साधन इन्द्रियॉ एव भोगविषय स्पर्शादि सासारिक पदार्थो ने आत्मा को बधन मे डाल रखा है। शरीर एव इन्द्रियो के द्वारा जब आत्मा बाह्य जगत् के सम्पर्क मे आता है तभी उसे सुख एव दु ख का अनुभव होता है जब शरीर इन्द्रियादि से आत्मा का सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है तो सुख–दु ख का अनुभव भी समाप्त हो जाता है, यही मोक्ष है। इस प्रकार उक्त तीन प्रकार के बधनो के आत्यन्तिक नाश को ही मोक्ष कहते है।[1] इससे यह स्पष्ट होता है कि मीमासको ने केवल विदेह मुक्ति को ही माना है क्योकि मोक्ष की प्राप्ति के लिये उन्होने समस्त प्रपञ्चजगत् शरीर एव इन्द्रियादि से आत्मा का पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद अनिवार्य माना है।

<u>मोक्ष का साधन</u> – मीमासक ज्ञान–कर्म–समुच्चयवादी है। उनके मतानुसार मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान एव कर्म दोनो के द्वारा सभव है। मीमासा दर्शन मे कर्म को अत्याधिक महत्त्व दिया गया है। इसी कारण मीमासा मे ईश्वर का स्थान गौण हो जाता है। महर्षि जैमिनि के अनुसार स्वर्ग ही जीवन का चरम लक्ष्य है एव स्वर्ग की प्राप्ति कर्म के द्वारा ही सभव

---

[1] त्रेधा हि प्रपन्च पुरुष बध्नाति – भोगायतन शरीरम्, भोगसाधनानि इन्द्रियाणि, भोग्या शब्दयो विषया। भोग इति च सुखदु खविषयोऽपरोक्षानुभव उच्यते, तदस्य त्रिविधस्यापि बन्धस्य आत्यन्तिको विलयो मोक्षा।
– शास्त्र दीपिका पृष्ठ – ३५८

है जो व्यक्ति स्वर्ग की कामना करते है उन्हे कर्म करना चाहिये। किन्तु बाद मे प्रभाकर एव कुमारिल भट्ट आदि मीमासको ने मोक्ष की प्राप्ति हेतु कर्म को आवश्यक माना है। मीमासा दर्शन मे कर्मो को निम्न वर्गो मे विभाजित किया गया है।

नित्य कर्म – वे कर्म जिन्हे व्यक्ति को प्रतिदिन करना पडता है नित्यकर्म कहलाते है। यथा–सध्यावदन, स्नानादि नित्य कर्म हैं। कुमारिल के मतानुसार इन कर्मो को न करने से पाप का उदय होता है, किन्तु करने से पुण्य को सचय नही होता है। इन कर्मो को करते रहने से कर्त्ता उस पाप से बचा रहता है जो उसकी उपेक्षा से निश्चित रूप से उसे लगेगा अर्थात् इन्हे करने से पाप का क्षय होता है।

नैमित्तिक कर्म– वे कर्म होते है जो किसी विशेष अवसर पर किये जाते है। यथा–जन्म, मृत्यु, विवाहा आदि अवसर पर किये जाने वाले व्रतादि एव श्राद्धादि कर्म । नित्य कर्मो की ही भॉति इन्हे करने से पाप क्षय होता है एव न करने से पाप लगता है।

काम्यकर्म – वे कर्म जिनको एक निश्चित फल की प्राप्ति के उद्‌देश्य से किया जाता है काम्य कर्म कहलाते है। यथा–धन, पुत्रादि की प्राप्ति के लिये किये जाने वाले विशेष अनुष्ठानादि काम्यकर्म कहलाते हैं। ये कर्म वैकल्पिक होते हैं इनका करना एव न करना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर करता है। इन कर्मो के करने से पुण्य का सचय होता है जिससे कामना की सिद्धि होती है, किन्तु न करने से कोई दोष नहीं होता है।

प्रतिषिद्ध कर्म – वे कर्म जिनके करने का निषेध किया जाता है प्रतिषिद्ध कर्म कहलाते है ये कर्म अशुभ एव अकरणीय हैं। इनको करने पर मनुष्य पाप का भागी होता है।

प्रायश्चित कर्म – इन कर्मो का विधान स्मृतियो मे किया गया है। प्रमाद वश प्रतिषिद्ध कर्म करने पर प्रायश्चित कर्मो के द्वारा उसका पापोत्पादक वेग शमित किया जाता है या कम कर दिया जाता है।

कुमारिल भट्ट के अनुसार कर्म विशेष के अनुष्ठान मे प्राणी का प्रवृत्ति तभी होती है जब उस कर्म से किसी इष्ट साधन की आशा हो यहाँ पर तात्पर्य यह है कि धार्मिक कृत्यो के अनुष्ठान का कारण 'इष्टसाधनता ज्ञान' है। वही प्रभाकर का मानना है कि धार्मिक कृत्यो के अनुष्ठान का कारण 'कार्यता ज्ञान' है। कुमारिल भट्ट के अनुसार कर्म किसी इच्छा विशेष की सिद्धि के लिये किये जाते है पर प्रभाकर का मानना है कि काम्य–कर्म मे कामना का निर्देश सच्चे अधिकारी की परीक्षा के लिये है[1] वैसी कामना रखने वाला पुरुष उस कर्म का सच्चा अधिकारी सिद्ध होता है। कुमारिल के मतानुसार नित्यकर्म के अनुष्ठान से दुरितक्षय होता है, और अनुष्ठान के अभाव मे पाप उत्पन्न होता है, परन्तु प्रभाकर के मतानुसार नित्यकर्मो का अनुष्ठान वेद विहित होने के कारण कर्तव्य है। तात्पर्य यह है कि वैदिक कृत्यो का सम्पादन हमे निष्कामभाव से अपना कर्तव्य मानकर करना चाहिये उसमे फलासक्ति का त्याग आवश्यक है। इससे स्पष्ट होता है कि प्रभाकर 'कर्तव्य के लिये कर्तव्य' सिद्धान्त को मानते हैं उनके अनुसार निष्काम कर्म ही कर्तव्य है।

मीमासा दर्शन मे कर्म फल की प्राप्ति के लिये अपूर्व की कल्पना की गयी है। चूँकि मीमासको ने ईश्वर को कर्म फलदाता के रूप मे स्वीकार नहीं किया है, इसलिये अपूर्व की सत्ता को स्वीकार किया गया है, जो कर्म से उत्पन्न होता है। कर्म एव फल के बीच अपूर्व ही माध्यम है। यह एक प्रकार की अदृश्य शक्ति है जिससे फल उत्पन्न होता है। मीमासा दर्शन मे चार प्रकार के अपूर्व को माना गया है[2] – परमापूर्व, समुदायापूर्व, उत्पत्त्यपूर्व और अगापूर्व ।

परमापूर्व को फलापूर्व भी कहा जाता है यह साक्षात् फल का जनक है तथा प्रधान कर्म से उत्पन्न अपूर्व उत्पत्त्यपूर्व कहलाता है । समुदाय से उत्पन्न होने अपूर्व समुदायापूर्व एव अगो से उत्पन्न अपूर्व को अगापूर्व कहते हैं।

---

[1] भारतीय दर्शन –आचार्य बलदेव उपाध्याय पृष्ठ ३३० से उद्धृत

[2] डा० नन्द किशोर देवराज – भारतीय दर्शन पृष्ठ ४८३ से उद्धृत

प्रभाकर ने धर्म एव अधर्म को ही अपूर्व का नाम दिया है।[1] जबकि कुमारिल का मत है कि धर्म एव मोक्ष सम्बन्धी बाते अलग अलग है और वेद स जानी जाती है एव अर्थ और काम से सम्बन्धित बाते लोकाचार से ज्ञात होती है।[2]

मीमासा दर्शन मे मोक्ष प्राप्ति के लिये सासारिक विषयो से वैराग्य को आवश्यक माना गया है। मीमासको के अनुसार जब आत्मा कर्म से विरत हो जाता है तो स्वाभाविक रूप से ही अपनी मूल अवस्था को प्राप्त कर लेता है, किन्तु मीमासको ने इसके लिये सभी प्रकार के कर्मो से विरत होना आवश्यक नही माना है उनके अनुसार केवल काम्य एव प्रतिषिद्ध कर्मो का त्याग करना आवश्यक है, क्योकि काम्य कर्मो से पुण्य एव प्रतिषिद्ध कर्मो को करने से पाप होता है। अत मोक्ष प्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति को इन कर्मो का त्याग करना आवश्यक है। इसके साथ ही साथ मीमासको ने नित्य कर्मो एव नैमित्तिक कर्मो को करना भी मुमुक्षु के लिये आवश्यक माना है, क्योंकि इन्हे न करने से मुमुक्ष वेद के नियोग के उल्लघन का दोषी होगा, एव इन कर्मो को न करना प्रतिषिद्ध कर्मो को करने के समान है। भाट्ट मीमासको के अनुसार धर्माधर्म का विनाश नित्य एव नैमित्तिक कर्मो से होता है अत नित्य एव नैमित्तिक कर्मो को अवश्य करना चाहिये साथ ही साथ काम्य एव प्रतिषिद्ध कर्मो का त्याग भी आवश्यक है, किन्तु इसके साथ ही साथ आत्मज्ञान की भी आवश्यकता है। यद्यपि मुक्ति का साक्षात् कारण ज्ञान नही है, किन्तु ज्ञान होने से जीव की प्रवृत्ति मोक्ष की तरफ हो जाती है तथा पूर्व जन्म के धर्माधर्म का भोग के द्वारा नाश होने पर जीव पुन शरीर धारण नहीं करता। भाट्टमत मे जहाॅ कर्मफल के उपभोग से धर्माधर्म का क्षय होता है, वहीं प्रभाकर का मानना है कि केवल उपभोग से ही क्षय नहीं होता, किन्तु शम, दम, ब्रह्मचर्य आदि योगाङ्गो का पालन करने से प्राप्त आत्मज्ञान भी धर्माधर्म के नाश के लिये आवश्यक है।[3]

---

[1] प्रकरण पचिका पृष्ठ १८७

[2] तन्त्रवार्तिक – १/३/२

[3] प्रकरण पञ्जिका पृ० १५६ काशी सस्करण

इस प्रकार शरीर के उत्पादक हेतुओ के न रहने और पूर्व शरीर के नष्ट हो जाने पर आत्मा शरीर रहित हो जाता है। यही मुक्ति की अवस्था है। इस अवस्था मे आत्मा के सभी दु खो का पूर्णतया नाश हो जाता है एव आत्मा सुख–दु ख स रहित होकर अपने विशुद्ध रूप मे प्रतिष्ठित होता है।

मोक्ष की स्थिति मे आत्मा को आनन्द का अनुभव नही होता है। मोक्षावस्था के स्वरूप के विषय मे भी मीमासको मे मतभेद है। कुमारिल भट्ट के अनुसार मोक्षावस्था मे जहॉ मन और इन्द्रियॉ नहीं होती है, उस समय आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप अर्थात् ज्ञान शक्ति सम्पन्न रूप मे रहता है एव वह सभी गुणो प्रयत्न, सुख, दु ख व इच्छा से भी शून्य रहता है। इस सम्बन्ध मे मीमासको मे दो मत है– एक पक्ष का मानना है कि मोक्ष की अवस्था मे नित्य सुख की प्राप्ति नही होती है। इस मत के समर्थक पार्थसारथि है। इनके मतानुसार कुमारिल सम्मत मोक्ष की अवस्था मे देहेन्द्रियविषयसम्बन्ध के आत्यन्तिक विलय के कारण ज्ञान एव आनन्द सभव नहीं है। शरीर विहीन आत्मा को प्रिय या अप्रिय हर्ष या शोक स्पर्श नही करते हैं। किन्तु दूसरे मतानुसार मोक्ष की अवस्था मे नित्य–सुख की प्राप्ति होती है। इनके अनुसार मोक्ष की स्थिति मे बाह्य–सुख की अनुभूति नही होती, परन्तु आत्मा के शुद्ध स्वरूप के उदय होने से शुद्ध आनन्द का आविर्भाव अवश्य हो जाता है। इन दोनों मतो का उल्लेख हमे मधुसूदनसरस्वती के वेदान्त कल्पलतिका (पृष्ठ ४) पर मिलता है। नारायण भट्ट का मानना है कि कुमारिल सम्मत मोक्ष मे केवल विषय सुख का अभाव होता है तथा आत्मा के स्वरूप का अविर्भाव होने से आत्म-सुख का उपभोग बना रहता है।[1]

किन्तु सामान्य रूप से मीमासको ने मोक्ष की अवस्था मे आनन्द के अुनभव को स्वीकार नही किया है। मीमासा दर्शन मे चैतन्य को आत्मा को आगन्तुक धर्म माना गया

[1] दु खात्यन्तसमुच्छेदे सति प्रागात्मवर्तिन ।
सुखस्यमनसा भुक्तिर्मुक्तिरूकता कुमारिलै ।

– मानमेयोदया पृ० २१२

है। शरीर एव इन्द्रियो से युक्त होने पर भी उसमे चैतन्य का आविर्भाव होता है और मोक्ष की अवस्था मे आत्मा शरीरादि से रहित हो जाता है अत इसम सुख का अनुभव नही हो सकता केवल दु खो की आत्यन्तिक निवृत्ति ही होती है।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मीमासा दर्शन मे प्रपञ्चसम्बन्ध का विलय ही मोक्ष कहा गया है। मोक्ष की अवस्था मे जीव मे न सुख है, न आनन्द है और न ही ज्ञान है।[1] वास्तव मे मोक्ष की अवस्था आत्मा का निजी स्वरूप है जिसमे वह स्थित रहता है।[2]

इस प्रकार मीमासा दर्शन मे कर्म की प्रधानता को स्वीकार करते हुये 'ज्ञान–कर्म–समुच्चय' से मोक्ष की प्राप्ति सभव बतायी गई है। इसमे उन्होने ज्ञान को सहकारी कारण के रूप मे स्वीकार किया है।

---

[1] तस्मात् नि सम्बन्धो निरानन्दश्च मोक्ष ।

– शास्त्रदीपिका पृ० १२५–३०

[2] यदस्य स्व नैज रूप ज्ञानशक्तिसत्ताद्रव्यत्वादि तस्मिन्नवतिष्ठते।

– शास्त्रदीपिका पृ० १३०

षष्ठम अध्याय

गौड़पाद-दर्शन

आचार्य शकर से पूर्व के अद्वैतवेदान्तियो मे गौडपादाचार्य का नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय है। ये शकराचार्य के गुरु गोविन्दपाद के गुरु थे। इनके द्वारा रचित माण्डूक्यकारिका की गणना विश्व के श्रेष्ठ दर्शन ग्रथो मे होती है। माण्डूक्योनिषद् पर उनकी इस रचना को अद्वैत–वेदान्त की आधारशिला माना जाता है। इस ग्रथ के चार प्रकरण मे कुल मिलाकर २१५ कारिकाये है। इसके अतिरिक्त उत्तर गीता पर भाष्य की भी इन्होने रचना की।

माण्डूक्यकारिका के अनुसार परमतत्त्व आत्मा या ब्रह्म है। अद्वैत–वेदान्त मे एक मात्र ब्रह्म को ही तत्त्व माना गया है। 'परोक्ष' ब्रह्म का 'अपरोक्ष' आत्मा के साथ तादात्म्य–सम्बन्ध स्थापित किया गया है। परमतत्त्व को गौडपाद ने नित्य, विशुद्ध, चैतन्य, अखण्ड व आनन्द स्वरूप माना है। यह समस्त प्रपञ्चो से रहित है। यद्यपि यह समस्त प्रपचो का अधिष्ठान है, किन्तु फिर भी स्वयसिद्ध एव स्वप्रकाश है। आत्मा या ब्रह्म विशुद्ध साक्षि चैतन्य है, किन्तु माया शक्ति के कारण वह जगत् प्रपञ्च एव बद्ध जीवो के रूप मे प्रातिभासित होता है।

मायोपहित जीव वस्तुत परमात्मास्वरूप ही है, किन्तु तत्त्व के अज्ञान के कारण वह अनादिकाल से माया से ग्रसित है। इस माया के प्रभाववश ही जीव वस्तुओ के प्रति 'मै' एव 'मेरा' का भाव रखता हुआ अहकार–ममकार से ग्रस्त होता है। वह वस्तुओ की प्राप्ति अथवा अप्राप्ति से स्वय को सुखी व दुखी महसूस करता है, किन्तु जब माया का आवरण हट जाता है तब तत्त्व–ज्ञान के द्वारा उसे निद्रा एव स्वप्न से रहित अद्वैत आत्म–तत्त्व का बोध होता है।

माण्डूक्यकारिका मे आत्मा के चार पादो का वर्णन प्राप्त होता है। जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति मे विश्व, तैजस और प्राज्ञरूप से उपभोक्ता आत्मा का निर्देश है। इन तीनो पादो के अतिरिक्त आत्मा का चतुर्थ पाद तुरीय है। यह आत्मा का विशुद्ध रूप है।

विश्व – यह आत्मा का प्रथम पाद है। बाह्य विषयो का प्रकाशक होने के कारण यह 'बहिष्प्रज्ञ' कहलाता है। विश्वात्मा जागृत अवस्था के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। विश्वात्मा सात अगो– द्युलोक, सूर्य, वायु, आकाश, जल, अग्नि एव पृथ्वी, उन्नीस मुख–पॉच ज्ञानेन्द्रियॉ, पॉच कर्मेन्द्रियो, पॉच प्राण, मन, अहकार एव बुद्धि व चित्त वाला तथा स्थूल विषयो का उपभोक्ता है। मनुष्यो को अनेक योनियो मे ले जाने के कारण इसे 'वैश्वानर' तथा शब्दादि स्थूल विषयो का भोग करने के कारण 'स्थूलभुक्' कहा गया है।

तैजस – यह आत्मा का द्वितीय पाद है। आन्तरिक विषयो का प्रकाशक होने के कारण यह 'अत प्रज्ञ' कहलाता है। तैजस्, आत्मा स्वप्नावस्था के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। यह भी सात अगो उन्नीस मुखो तथा सूक्ष्म विषयो का उपभोक्ता है इसका अभिव्यक्ति स्थान स्वप्न है।[2] स्वप्नावस्था मे स्वय प्रकाश स्वप्नदृष्टा अपनी विभूति का अनुभव करता है। तैजस का वैश्विक रूप 'हिरण्यगर्भ' है।

प्राज्ञ - यह आत्मा का तृतीय पाद है। प्राज्ञ आत्मा सुषुप्ति अवस्था के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। यह आनन्द का उपभोक्ता है। इसे 'घनप्रज्ञ' भी कहा जाता है। जिस स्थान अथवा काल मे सोया हुआ मनुष्य न तो विषय भोग की कामना करता है और न किसी स्वप्न को ही देखता है, उस अवस्था को सुषुप्ति कहते हैं। यह सुषुप्ति ही जिसका स्थान है, जो एकीभूत हो उत्कृष्ट ज्ञानस्वरूप है, आनन्दमय एव आनन्द का भोक्ता तथा चेतनारूप मुख वाला है वही तीसरा पाद है।[3] सुषुप्तावस्था मे दुख का अभाव होने के कारण यह आनन्दमय है, इसीलिये इसे 'आनन्दभुक्' कहते हैं। परन्तु यहॉ पर यह आनन्द भावात्मक न होकर अभावात्मक है, क्योकि यह भी अज्ञान की एक अवस्था है।

---

[1] जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञ सप्ताग एकोनविशतिमुख स्थूल भुग्वैश्वानर प्रथम पाद। – माण्डूक्य उपनिषद् ३

[2] स्वप्नस्थानोऽन्त प्रज्ञ सप्ताग एकोनविंशतिमुख प्रविविक्त भुक्तैजसो द्वितीय पाद। – माण्डूक्य उपनिषद्–५

[3] यत्र सुप्तो न कचन काम कामयते न कचन स्वप्न पश्यति तत्सुषुप्तम्।
सुप्तस्थान एकीभूत प्रज्ञान घन एवाऽऽनन्दमयो ह्यानन्दभुक्चेतो मुख प्राज्ञस्तृतीय पाद।– माण्डूक्योपनिषद् ५

उपर्युक्त तीन पाद तीन अलग–अलग रूप न होकर एक ही आत्मा के तीन रूप है। जागृत, स्वप्न एव सुषुप्ति तीनो अवस्थाओ मे एक ही आत्मतत्त्व विद्यमान रहता है।

विश्व, तैजस एव प्राज्ञ आत्मा के इन तीन पादो को 'अध्यक्षर' कहा जाता है, क्योकि अक्षर का आश्रय लेकर नाम की प्रधानता से इनका वर्णन किया जाता है। चूँकि ये मात्राओ (अ+उ+म) का आश्रय लेकर रहते हैं इसलिये इन तीनो को अधिमात्र भी कहा जाता है। अकार, उकार एव मकार ही ओकार –'ॐ' की मात्राये है। आत्मा के पाद एव ओकार की मात्राओ के बीच अभेद होने के कारण दोनो के बीच किसी प्रकार का कोई विरोध नहीं है। ओकार की तीन मात्राये (अ+उ+म) विश्व, तैजस व प्राज्ञ का प्रतिनिधित्व करती है। ॐ को प्रणव कहा जाता है और गौडपाद ने इसी प्रणव (ॐ) की उपासना का आदेश दिया है। इस उपासना अर्थात् आत्मा के विभिन्न पादो एव ओकार की विभिन्न मात्राओ के बीच तादात्म्य का ज्ञान प्राप्त कर व्यक्ति ब्रह्मज्ञानी हो जाता है।

जिसकी कोई मात्रा नही है, वह अमात्र ओकार स्वरूप आत्मा का चतुर्थपाद है। इसे 'तुरीय' कहा गया है। तुरीय आत्मा का विशुद्ध रूप है। तुरीयावस्था का वर्णन करते हुये कहा गया है कि तुरीयावस्था अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य एकात्मप्रत्ययसार, प्रपञ्चोपशम, शान्त, शिव एव अद्वैत स्वरूप है।[1] चूँकि वाणी एव मन की शक्ति द्वारा तुरीय आत्मा का वर्णन सभव नहीं है इसलिये इसे अव्यवहार्य कहा गया है। तुरीय आत्मा शब्द प्रवृत्ति के जाति, गुण, क्रिया, सम्बन्ध, रूप आदि सभी निमित्तो से शून्य होने के कारण शब्द–शक्ति का विषय नहीं है। विधात्मक रूप से तुरीय आत्मा का वर्णन सभव न होने के कारण निषेधात्मक रूप से श्रुतियो मे इसका वर्णन किया गया है–

---

[1] अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसार प्रपञ्चोशम शान्त शिवमद्वैत चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेय।

– माण्डूक्योपनिषद्, ७

१ आत्मा के अद्वितीय होने के कारण उसमे सामान्य विशेष भाव नहीं होते।[1]

२ निर्विकार होने के कारण पाचकादि के समान उस तुरीय आत्मा म क्रिया भी नहीं है।[2]

३ निर्गुण होने से आत्मा मे नीलादि के समान गुण भी नही है।[3]

इस प्रकार भावात्मक वर्णन समव न होने के कारण तुरीय आत्मा का निषेधात्मक वर्णन प्राप्त होता है।

तुरीय आत्मा कर्मेन्द्रियो से ग्रहण के योग्य न होने के कारण अग्राह्य है। चैतन्य की सभी अवस्थाओ मे अव्याभिचारी होने से एकात्मप्रत्ययसार तथा लिगरहित होने से अनुमान योग्य नही है। तुरीय आत्मा अविद्या के सस्पर्श से सर्वथा शून्य हो जाता है। अविद्या की उपस्थित केवल प्राज्ञ आत्मा तक ही रहती है। जिस प्रकार शुक्ति का ज्ञान होने पर रजत का अपलाप हो जाता है। उसी प्रकार तुरीय आत्मा का ज्ञान होने पर अन्य सभी अवस्थाओ का अपलाप हो जाता है।

यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उपर्युक्त निषेधात्मक वर्णन से केवल यह स्पष्ट होता है कि आत्मा क्या नहीं है? किन्तु आत्मा क्या है? इसकी जानकारी किस प्रकार प्राप्त होती है। इस प्रश्न के उत्तर मे कहा जा सकता है कि आत्मा मे कल्पित तीनो अवस्थाओ एव तदमिमानी अत प्रज्ञा आदि का निषेध कर देने पर उसी क्षण तुरीय आत्मा का बोध हो जाता है। जब जीव अनादि माया से सोता हुआ तत्त्व ज्ञान के द्वारा जाग जाता है तभी उसे जन्म, निद्रा तथा स्वप्न से रहित अद्वैत आत्मा का बोध होता है।[4] तुरीयावस्था मे निद्रा एव स्वप्न का अभाव पाया जाता है।

---

[1] आत्मनो निरुपाधिकत्वात् गवादिवन्नापि जातिमत्त्वमद्वितीयेन सामान्य विशेषाभावात्।
— माण्डूक्य कारिका भाष्य –१/९

[2] नापि क्रियावत्त्व पाचकादिवदविक्रियत्वात। — वही – १/९

[3] नापि गुणवत्त्व नीलादिवन्निर्गुणत्वात्। — वही – १/९

[4] अनादिमायया सुप्तो यदा जीव प्रबुध्यते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैत बुध्यते तदा। — माण्डूक्य कारिका– १ /१६

तब यहाँ पर यह शका उपस्थित होती है कि प्रबुद्ध होने के पूर्व प्रपच की कोई स्थिति या अस्तित्व था अथवा नहीं? गौडपादाचार्य का मानना है कि वस्तुत न तो उत्पत्ति क पूर्व प्रपच का कोई अस्तित्व था और न ही उत्पत्ति के बाद प्रपच का कोई अस्तित्व है और न ही अज्ञान की निवृत्ति होने के पश्चात् प्रपच का कोई अस्तित्व होता है। वास्तव मे प्रपच का किसी भी प्रकार से अस्तित्व न होने के कारण उसकी निवृत्ति होती ही नहीं है, क्योकि जब प्रपच का अस्तित्व ही नहीं है तो इसकी निवृत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता है। वह तो रज्जु मे भ्रान्ति–दृष्टि से कल्पित सर्प के समान ही है? अत तत्त्व ज्ञान या विवेक द्वारा उसकी निवृत्ति होने का प्रश्न ही नहीं है।[1] मायावी जिस माया को फैलाता है वह होती ही नहीं है। तीनो कालो मे अद्वितीय परमात्मा ही एकमात्र सत् है।

मोक्ष प्राप्ति के साधन-

गौडपाद के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति सभव है। जब मनुष्य अपने वास्तविक आत्म स्वरूप को जान लेता है तब वह मुक्त हो जाता है। इन्होने मोक्ष प्राप्ति के लिये ज्ञान एव उपासना को स्वीकार किया है। इनके अनुसार उत्तम या श्रेष्ठ अधिकारी प्रणव–ज्ञान से ही परमात्म-तत्त्व का साक्षात्कार कर लेता है, किन्तु मध्यम एव निकृष्ट अधिकारियो को केवल ज्ञान के द्वारा ही तत्त्व साक्षात्कार नहीं होता है बल्कि उन्हे ज्ञान के साथ ही साथ उपासना एव कर्म मार्ग का सहारा लेना चाहिये।[2] यह उपासना प्रणव उपासना है। गौडपाद के अनुसार मध्य एव निकृष्ट अधिकारियो को प्रणव की विभिन्न मात्राओ मे अपने चित्त को समाहित करना चाहिये, क्योकि ओकार भयशून्य ब्रह्म स्वरूप ही है। पर यहाँ पर ज्ञान मार्ग से तात्पर्य बुद्धि मार्ग नहीं है, क्योकि गौडपाद का मानना है कि बुद्धि तत्त्व–साक्षात्कार करवाने मे समर्थ नहीं है, क्योकि बुद्धि अस्ति, नास्ति, उभय, नोभय चार कोटियो के द्वारा परमतत्त्व को आवृत्त

---

[1] प्रपचो यदि विद्यते, निवर्तेत न सशय ।
मायामात्रमिद द्वैतमद्वैत परमार्थत ।। – माण्डूक्य कारिका १/१७

[2] आश्रमास्त्रिविधाहीनमध्यमोत्कृष्ट दृष्टय ।
उपासनोपदिष्टेय तदर्थमनुकम्पया।। – माण्डूक्य कारिका –३/१६

करके रखती है जब हम इन चारो कोटियो का अतिक्रमण करने म सफल होते ह तभी तत्त्व साक्षात्कार होता है।[1]

चारो कोटियो से किस प्रकार अतीत हुआ जा सकता है, इस प्रश्न के उत्तर मे गोडपाद का कहना है कि इसका एकमात्र उपाय मन एव बुद्धि का निरोध या अमनीभाव है। यह अमनीभाव अस्पर्शयोग के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु यह बडे–बडे योगियो के लिये दुष्कर है, क्योकि लोग इससे भयमीत हो जाते है। परन्तु वास्तव मे वहाॅ कोई भय नहीं है।[2] अभयपद की प्राप्ति मन के पूर्ण नियत्रण से सभव है। अभ्यास एव वैराग्य के द्वारा काम एव भोग रूपी विषयो मे विक्षिप्त चित्त का निग्रह करना चाहिये। निग्रह की अवस्था लय कहलाती है। निग्रह रूपी लय की अवस्था मे अत्यन्त आयास रहित चित्त का भी निरोध करना चाहिये। जिस प्रकार काम अनर्थ का कारण है, उसी प्रकार लय भी अनर्थ का कारण होता है। ज्ञान एव अभ्यास आदि उपायो के द्वारा निग्रह किया हुआ चित्त जब सुषुप्ति मे लीन नहीं होता और न ही पुन विषयो मे विक्षिप्त होता है, उस समय वह ब्रह्म स्वरूप हो जाता है।[3]

अस्पर्शयोग सभी प्रकार के विकल्प, प्रपच एव चिन्ताओ से रहित, स्वयज्योति, अचल, शान्त एव अभय समाधि है। अविद्या की आवरण एव विक्षेप शक्तियो के नष्ट होने पर चित्त स्वप्न एव निद्रा से रहित हो जाता है एव समस्त विकल्प, व्यवहार एव प्रतिभास के शान्त हो जाने पर आत्मा ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। दु खो की आत्यान्तिक निवृत्ति होने के उपरान्त अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति होती है। यही अवस्था मोक्ष कहलाती है। गौडपादाचार्य के दार्शनिक विचारो के वर्णनोपरान्त हम जगदगुरूशकराचार्य के अद्वैतमतानुसार आत्मा एव मोक्ष की व्याख्या करेगे। शाकर–वेदान्त मे ही गौडपाद के विचारो की विस्तृत विवेचना प्राप्त होती है।

---

[1] कोट्यश्चतत्र एतास्तु ग्रहैर्यासा सदावृत ।
भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्ट सर्वदृक्।। – माण्डूक्य कारिका –४/८४

[2] अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्श सर्वयोगिभि ।
योगिनो विभ्यति हयस्मादभये भयदर्शिन । – माण्डूक्य कारिका –३/३९

[3] यदा न लीयते चित्त न च विक्षिप्यते पुन ।
अनिगनमनाभास निष्पन्न ब्रह्म तत्तदा। – माण्डूक्य कारिका –३/४६

अद्वैत–वेदान्त, शंकराचार्य

प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखकर आचार्य शकर ने अद्वैत–वेदान्त की स्थापना की। इनका अवतरण भारतीय दार्शनिक विचारधारा के लिए वरदान स्वरूप ह।ये अलौकिक प्रतिभासम्पन्न महापुरुष थे। इनका जन्म ७८८ ई० तथा निर्वाण ८२० ई० मे माना जाता है। इनके पिता शिवगुरु वेदज्ञ ब्रह्मण थे। आठ वर्ष की अवस्था मे आचार्य शकर सन्यासी हो गये इतनी कम उम्र मे आपने चारो वेदो का अध्ययन कर लिया था। ये गोडपाद के शिष्य गोविन्दपाद के शिष्य बने। तदुपरान्त वेदान्त दर्शन को सर्वत्र प्रतिष्ठित किया। ३२ वर्ष की अल्पायु मे इन्होने निर्वाण को प्राप्त किया।[1]

आचार्य शकर ने अपने स्वल्पावधि जीवन मे अनेको ग्रथो की रचना के साथ–साथ उस समय प्रचलित सभी दार्शनिक मतो का खण्डन करके अद्वैत–वेदान्त की प्रतिष्ठापना की। ब्रह्मसूत्र पर शारीरक भाष्य, गीताभाष्य, माडूक्यकारिका पर भाष्य के अतिरिक्त इन्होने दसो उपनिषदो बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, ईश, कठ, केन, प्रश्न, मुण्डक एव माडूक्य उपनिषदो पर भाष्यो की रचना की इसके अतिरिक्त इन्होने आत्मानात्मविवेक, विवेकचूडामणि तथा उपदेशसाहस्त्री आदि ग्रथो का भी प्रणयन किया। इन ग्रथो के अतिरिक्त सुरेश्वराचार्य की नैष्कर्म्य सिद्धि, श्री हर्ष कीं खण्डखाद्य, अमलानन्द का कल्पतरु, चित्सुखाचार्य की प्रत्यक्ततत्त्वदीपिका जो चित्सुखी के नाम से प्रसिद्ध है, सर्वज्ञात्ममुनि की सक्षेप शारीरक तथा सदानन्दकृत वेदान्तसार अद्वैत–वेदान्त के अद्वितीय ग्रथ हैं।

शकराचार्य ने सम्पूर्ण भारत मे भ्रमण करके अन्य मतावलम्बियो तथा नास्तिको को शास्त्रार्थ मे पराजित किया। अनेक विद्वान– आचार्यो ने इनसे प्रभावित होकर इनकी शिष्यता स्वीकार कर ली। विरोधी प्रतिवादियो के पराजित करने के साथ ही इन्होने चारो दिशाओ मे

---

[1] अष्टवर्षे चतुर्वेदी, द्वादशेसर्वशास्त्रवित्।
षोडशे कृतवान भाष्य द्वात्रिंशेमुनिरम्यगात्।

चार पीठो की स्थापना करके अद्वैत–दर्शन को प्रतिष्ठित किया। आचार्य शकर का स्थान विश्व के सर्वोच्च दार्शनिको मे है।

"ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर" यही अद्वैत वेदान्त का सार है। आचार्य शकर के अनुसार– ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है, जगत् मिथ्या है एव जीव तथा ब्रह्म मे कोई भेद नही है। दोनो परस्पर एक है। अद्वैत वेदान्तियो का मानना है कि आत्मा एव ब्रह्म एक है। दोनो परमतत्त्व के पर्याय है। जीव एव जगत् दोनो मायाकृत हैं। माया ब्रह्म की शक्ति है। जिस प्रकार रज्जु मे सर्प की प्रतीति होने पर रज्जु का ज्ञान हो जाने से सर्प का बाध हो जाता है। ठीक उसी प्रकार निर्विकल्पक अपरोक्ष ज्ञान द्वारा ब्रह्मानुभव होने पर समस्त प्रपच अथवा माया का बाध हो जाता है। यही मोक्ष की अवस्था है।

आत्मा – अद्वैत–वेदान्त केवल एक तत्त्व मानता है। यह तत्त्व आत्मा अथवा ब्रह्म है। वेदान्त दर्शन के अनुसार आत्मा के अतिरिक्त जो कुछ भी है वह अनात्मा है। आचार्य शकर ससार के सम्पूर्ण पदार्थो को दो वर्गो मे रखते हैं– आत्मा एव अनात्मा। आत्मा के अतिरिक्त जो कुछ भी है वह अनात्मा है। यह अनात्मा आत्मा की एकता एव अद्वितीयता का विरोधी न होकर आत्मा का विषय है। सुरेश्वराचार्य के अनुसार– "इस लोक मे आत्मा और अनात्मा प्रत्यक्षादि प्रमाणो से सिद्ध हैं। इनमे अनात्मा सर्वत्र आत्मपूर्वक है।[1] उपनिषदो के सिद्धान्तानुसार सम्पूर्ण पदार्थो को दो वर्गो आत्मा एव अनात्मा मे रखा जा सकता है। इन दोनो के ज्ञान द्वारा ही जीवन की सार्थकता सिद्ध होती है। श्रुति भी कहती है 'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, नो चेदिहावेदीन् महती विनष्टि।' अतएव मुमुक्षु को इन दोनो के ज्ञान का सम्पादन करना आवश्यक है। आचार्य शकर ने अपने आत्मानात्मविवेक ग्रथ मे निम्न प्रकार से आत्मा एव अनात्मा तत्त्वो का विभाजन किया है–

---

[1] आत्माऽनात्मा च लोकेऽस्मिन् प्रत्यक्षादि प्रमाणै।
सिद्धस्तयोरनात्मा तु सर्वत्रैवात्मपूर्वक ।।
– नैष्कर्म्यसिद्धि–४/३

पदार्थ
आत्मा
अनात्मा
जीव
ईश्वर
साक्षी
स्थूल शरीर
सूक्ष्म शरीर
कारण शरीर
जरायुज
अण्डज
उद्भिज
स्वेदज
पञ्चज्ञानेन्द्रिय
पञ्चकर्मेन्द्रिय
अन्त करण
पञ्चप्राण
मन
बुद्धि
प्राण
अपान
व्यान
उदान
समान
नाग
कूर्म
कृकर
देवदत्त
धनञ्जय
वागिन्द्रिय
पाणीन्द्रिय
पादेन्द्रिय
पाय्विन्द्रिय
उपस्थेन्द्रिय
(मुख)
(हाथ)
(पैर)
(पायु)
(उपस्थ)
श्रोतेन्द्रिय
त्वगिन्द्रिय
चक्षुरिन्द्रिय
रसनेन्द्रिय
घ्राणेन्द्रिय
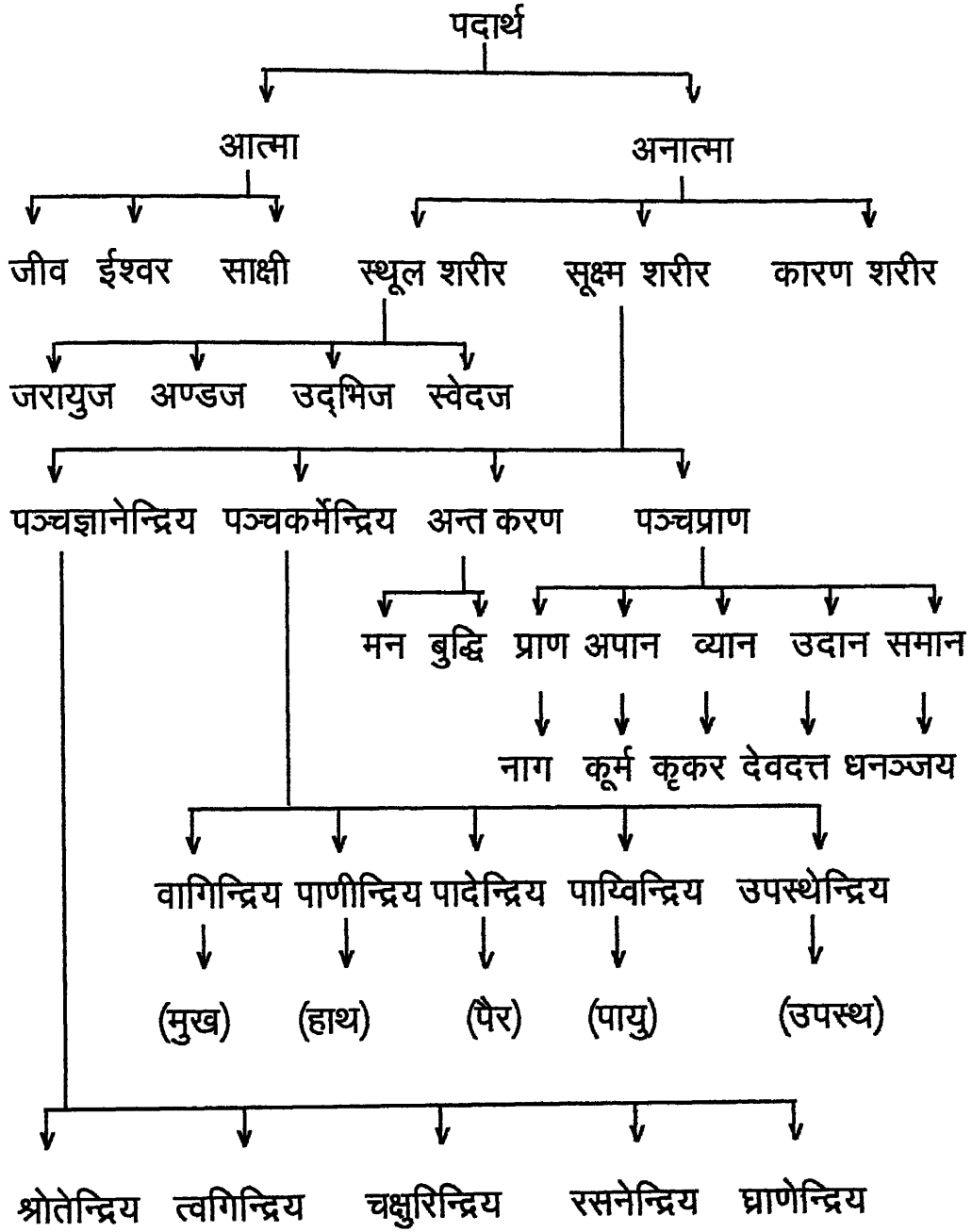
आत्मा और अनात्मा के स्वरूप का विचार करने से ही आत्मा के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होता है और आत्मज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होती है। वेदान्त दर्शन म बधन का कारण अविद्या को माना गया है तथा अविद्या की निवृत्ति हेतु आत्मा एव अनात्मा का ज्ञान होना आवश्यक है।

आचार्य शकर के अनुसार आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है। ज्ञान ही आत्मा का स्वरूप है। आत्मा का अस्तित्व स्वत सिद्ध है। अपने भाष्य के आरम्भ मे ही शकराचार्य ने कहा है कि कोई ऐसा अनुभव नहीं करता है कि 'मैं नहीं हूँ।' सभी मनुष्यो का अनुभव होता है कि 'मै हूँ'। यदि आत्मा का अस्तित्व न होता मनुष्य उसके नास्तित्व का अनुभव करते।[1] अत इससे सिद्ध होता है कि आत्मा का अस्तित्व है। अत आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। किन्तु यहॉ पर 'मैं' शब्द से इतने अधिक अर्थ जुडे है कि आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जानने के लिये तर्क का आश्रय लेना पडता है। 'मै' शब्द कभी शरीर के लिये, तो कभी इन्द्रियो के लिये प्रयुक्त होता है यथा–'मै मोटा हूँ' या 'मै बहरा हूँ' तब यहॉ प्रश्न यह उठता है कि आत्मा किसको माना जाये? शरीर को अथवा इन्द्रियो को या इनसे पृथक् किसी अन्य तत्त्व को? इस प्रश्न के उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि जो सभी अवस्थाओ मे विद्यमान है वही आत्मा है। हम देखते हैं कि उपर्युक्त सभी अवस्थाओ मे आत्मा का मौलिक तत्त्व चैतन्य है जो सभी अवस्थाओ में पाया जाता है। 'मै मोटा हूँ', 'मै बहरा हूँ' आदि वाक्यो मे चैतन्य पाया जाता है। जो सभी अवस्थाओ मे होने के कारण मौलिक है यह आत्मा का स्वरूप है। जागृत, स्वप्न एव सुषुप्ति आत्मा की अभिव्यक्ति की तीन अवस्थाये हैं आत्मा इन तीनो अवस्थाओ का साक्षी है। जागृतावास्था मे हमे इन्द्रियो द्वारा विषयो की उपलब्धि होती है। इस अवस्था मे हमे बाह्य जगत् की चेतना रहती है यथा हमे पलग, कुर्सी, मेज, पखा आदि का ज्ञान इन्द्रियो द्वारा होता है। इस अवस्था मे जीव स्थूल शरीर का अभिमानी होकर विषयो का भोग करने के कारण 'विश्व'

---

[1] सर्वो हि आत्मास्तित्व प्रत्येति न नाहमस्मीति। यदि हि नात्मत्वप्रसिद्धि स्यात् सर्वो लोको नाहमस्तीति प्रतीयात्।
– ब्रह्मसूत्र शारीरक भाष्य १/१/१

कहलाता है। यही आत्मा का जागृत अवस्था का साक्षित्व है। स्वप्नवथा मे विषयो का ज्ञान रहता है। इस अवस्था मे मनस विषयो या पदार्थो की कल्पना करता है। इस अवस्थ: मे जीव सूक्ष्म शरीर का अभिमानी होकर विषयो का अनुभव करने के कारण 'नैजस' कहलाता है। सुषुप्तावस्था मे किसी भी प्रकार का ज्ञान नहीं रहता, इस अवस्था मे बाह्य एव आभ्यन्तर दोनो प्रकार के विषयो का अभाव होने के कारण यह सुख–दु खादि द्वन्द्व–रहित ज्ञान की अवस्था है। इस अवस्था मे जीव कारणशरीराभिमानी होकर आनन्द का अनुभव करने के कारण 'प्राज्ञ' शब्द से वाच्य होता है। यही आत्मा का सुषुप्तावस्था का साक्षित्व है। जीव की इन तीनो अवस्थाओ मे चैतन्य सामान्य रूप से विद्यमान रहता है। इन तीनो अवस्थाओ का एकमात्र साक्षी आत्मा ही है। आत्मा के प्रकाशित होने पर सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है। आत्मा ही सभी का दृष्टा है, किन्तु आत्मा को कोई देखने वाला नहीं है। 'नान्योऽतोऽस्ति दृष्टा' आदि वाक्य बताते हैं कि आत्मा से भिन्न कोई दृष्टा नहीं है। चैतन्य आत्मा का आगन्तुक लक्षण न होकर स्वभाव है। निरन्तर चैतन्ययुक्त रहना ही आत्मा का स्वरूप है। उपर्युक्त तीनो अवस्थाओ के अतिरिक्त चतुर्थावस्था 'तुरीय' है। यही आत्मा का वास्तविक स्वरूप है। तुरीय आत्मा शुद्ध चैतन्य है। इस अवस्था मे आत्मा शुद्ध एव अखण्ड आनन्द के रूप मे प्रकाशित होता है। आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है। आत्मा के सच्चिदानन्दरूपता का निरूपण करने मे तीन अर्थो का निरूपण आवश्यक है– आत्मा की सद्रूपता, आत्मा की चिद्रूपता तथा आत्मा की आनन्दरूपता।

आत्मा त्रिकालबाधित है अर्थात् यह भूत, वर्तमान एव भविष्यत् तीनो कालो मे बाधित नहीं होता है, अपितु एक रूप मे ही विद्यमान रहता है। यह किसी भी साधन से बाधित नहीं होता अतएव आत्मा सद्रूप है। आत्मा स्वय प्रकाशवान है, इसे प्रकाशित होने के लिये किसी दूसरे प्रकाशक की आवश्यकता नहीं होती यह अपने मे आरोपित पदार्थो को प्रकाशित करने वाला है। अतएव इससे आत्मा की चिद्रूपता सिद्ध होती है। आत्मा आनन्द स्वरूप है, क्योकि यह अत्यन्त प्रेमस्पद होते हुये भी नित्य है। 'नित्य विज्ञानामानन्द ब्रह्म' यह श्रुति वाक्य भी आत्मा को ज्ञानस्वरूप तथा आनन्द स्वरूप सिद्ध करता है।

आत्मा स्वय समस्त प्रमाणो का आधार है। जिस प्रकार अग्नि की उष्णता का निराकरण नही किया जा सकता है उसी प्रकार आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नही है।[1] आत्मा का अस्तित्व अखण्डनीय है जो आत्मा की सत्ता का निषेध करता है, आत्मा उसका भी स्वरूप है।[2] अत यह स्वय सिद्ध है। आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, और मुक्त तथा एक है। जहाँ साख्य, मीमासा, वैशेषिक आदि दर्शनो मे आत्मा को अनेक माना गया है, वही शकर वेदान्त म आत्मा एक है। अज्ञान के कारण ही वह अनेक प्रतीत होता है।

वस्तुत आत्मा कर्त्ता व भोक्तापन से परे है, किन्तु अविद्या के कारण वह स्वय को शरीर एव इन्द्रियो के सम्पर्क से कर्त्ता एव भोक्ता समझने लगता है। आत्मा निष्क्रिय है। यदि उसे सक्रिय माना जाये तो वह अपनी क्रियाओ के फलस्वरूप परिवर्तनशील होगा जिसके कारण उसकी नित्यता खडित हो जायेगी।

आत्मा ज्ञाता, ज्ञान व ज्ञेय की त्रिपुटी से परे तथा इस द्वैत एव त्रिपुटी का अधिष्ठान है। यह 'चतुष्कोटिविनिर्मुक्त' है। यह विशुद्ध नित्य चैतन्य ही शुद्ध ज्ञान, शुद्ध ज्ञाता व शुद्ध ज्ञेय है। आत्मचैतन्य मे त्रिपुटी प्रपच नहीं है। इन्द्रिय सवेदन, बुद्धि विकल्प और वाणी के शब्दो द्वारा आग्रह्य निर्विशेष आत्म चैतन्य अपरोक्षानुभूतिगम्य है। अद्वैत वेदान्त मे आत्मा एव ब्रह्म मे तादात्मय स्थापित किया गया है। 'अह ब्रह्मास्मि',[3] 'तत्त्वमसि'[4] आदि महावाक्यो से भी आत्मा एव ब्रह्म का तादात्म्य सिद्ध किया गया है। जीव मे जो शुद्ध चैतन्य प्रकाशित होता है, वह ब्रह्म स्वरूप है। मायोपहित ब्रह्म को अद्वैत–वेदान्त मे ईश्वर कहा गया है।

---

[1] आत्मा तु प्रमाणदिव्यववहाराश्रयात् प्रागेव प्रमाणादिव्यववहारात् सिध्यति। न चेदृशस्य निराकरण समवति, आगन्तुक हि वस्तु निराक्रियते, न स्वरूपम्। न हि अग्नेरौष्ण्यमग्निना निराक्रियते।
– शारीरक भाष्य २/३/७

[2] य एव हि निराकर्त्ता तदेवतस्य स्वरूपम्। – शारीरक भाष्य २/३/७

[3] अह ब्रह्मास्मि। – बृ० उपनिषद् १/४/१०

[4] तत्त्वमसि। – छान्दोग्य उपनिषद् ६/८/७

आचार्य शकर के अनुसार आत्मा व ब्रह्म मे काई भेद नही है। अपनी आत्मा के साक्षात्कार मे ही ब्रह्म-साक्षात्कार हो सकता है। आत्मा एव ब्रह्म दोनो विज्ञान के ही नाम है। मानवीय तर्क अपनी कोटियो के पजे मे इसे नहीं पकड सकता है, क्योंकि तर्क प्रत्येक पदार्थ को केवल विषय रूप से ही ग्रहण कर सकता ह और यह विशुद्ध आत्मतत्त्व जो साक्षी दृष्टा है कभी विषय बन ही नही सकता, इसीलिये इसे 'चतुष्कोटिविनिर्मुक्ता' कहा गया है। इसी विशुद्ध विज्ञान को 'पर ब्रह्म' भी कहते है। यही अद्वैत तत्त्व है। 'यह सब कुछ ब्रह्म ही है'।[1] यही आत्मतत्त्व है, यही साक्षी है, यही ज्ञाता है इसीलिये कहा गया है कि ब्रह्म कि जानने वाला स्वय ब्रह्म हो जाता है।[2]

आचार्य शकर ने ब्रह्म को अनिवर्चनीय माना है। ब्रह्म को वाणी के द्वारा नहीं बताया जा सकता है। वह शुद्ध निर्विकल्पक चैतन्य है। जो सत् है, वही चित् है और वही आनन्द है, वही ब्रह्म है। ब्रह्म और इनमे कोई भेद नहीं है। ब्रह्म का वर्णन निषेधमुख से सभव है। ब्रह्म के विषय मे आदेश 'नेति–नेति' है। नेति–नेति से ब्रह्म के विशेषणो एव गुणो का निषेध होता है, स्वय ब्रह्म का नहीं। वह निर्गुण, निर्विशेष एव निराकार है। इस प्रकार आचार्य शकर ने निषेधात्मक एव भावात्मक दोनो प्रकार से ब्रह्म को व्याख्यायित किया है।

अब हम अनात्म तत्त्वो पर प्रकाश डालेगे– शरीर तीन प्रकार का होता है–स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर व कारण शरीर। आत्मा इन तीनो शरीरो तथा पञ्चकोशो–अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय से विलक्षण है। शरीर की तीनो अवस्थाओ को ही अनात्मा कहा जाता है। षड्विकारो के आश्रयभूत पञ्चमहाभूतो से निर्मित शरीर स्थूल शरीर कहलाता है। यह चार प्रकार का होता है–जरायुज, अण्डज, उद्भिज, स्वेदज। पञ्च ज्ञानेन्द्रियो (नेत्र, जिह्वा, घ्राण, श्रोत, त्वक्) पच कर्मेन्द्रियो (मुख, हाथ, पैर, पायु, उपस्थ) पच प्राणवायु (प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान), मन एव बुद्धि इन सत्रह अवयवो से निर्मित शरीर 'सूक्ष्म शरीर' कहलाता है। इसे 'लिग शरीर' भी कहते हैं।

---

[1] सर्व खाल्विद ब्रह्म। – छान्दोग्य उपनिषद् ३/१४/१

[2] ब्रह्मविद् ब्रह्मैवमवति । – मुण्डक उपनिषद् ३/२/९

अनादि काल से चली आ रही अविद्या 'कारण शरीर' स अभिहित की जाती ह। यह सम्पूर्ण अनर्थो एव सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरो का भी कारण है। आत्मा स्थूल, सूक्ष्म एव कारण इन तीनो शरीरो से भिन्न है। उपर्युक्त अनात्म तत्त्वो का ज्ञान होना मुमुक्षु के लिए आवश्यक है।

जब आत्मा शरीर, मन, इन्द्रिय आदि उपाधियो से सीमित होता है तब वह जीव हो जाता है। आत्मा की पारमार्थिक सत्ता है जबकि जीव की व्यावहारिक सत्ता है। अज्ञान के कारण शरीर आदि से सम्बन्ध स्थापित करके आत्मा जीव हो जाता है तथा स्वय को कर्त्ता एव भोक्ता समझने लगता है। चूँकि आत्मा शुभ एव अशुभ कर्मो के अनुसार फलो को भोगता है व सभी प्रकार के कर्मो को करता है इसीलिये उसे कर्त्ता एव भोक्ता कहा जा सकता है। अनेक विषयो का ज्ञान प्राप्त करने के कारण जीव ज्ञाता भी है। जीव अविद्या के कारण जन्म–मरण के चक्र मे फॅसा रहता है। यह जीवात्मा ही जागृत, स्वप्न एव सुषुप्ति तीनो अवस्थाओ तथा पचकोषो मे उपलब्ध होता है।

शकराचार्य ने जीव को विषयी माना है। तत्पश्चात् जीव का स्वरूप निर्धारित करते हुये क्रमश देह, इन्द्रिय, मन, अहकार, बुद्धि या महत्, अव्याकृत या प्राण, कर्तृत्व, भोक्तृत्व तथा ज्ञातृत्व आदि का विचार किया है। इन्होने सिद्ध किया है कि यद्यपि जीव सभी को क्रमश देह, इन्द्रिय, मन, अहकार, बुद्धि, कर्त्ता, भोक्ता तथा ज्ञाता प्रतीत होता है, किन्तु यह जीव का वास्तविक स्वरूप नहीं है। यह जीव का मायाकृत रूप है। जीव का वास्तविक स्वरूप ब्रह्म है और इसी रूप मे यह आत्मा है।

जीव का यह मायाकृत रूप ही जीवत्व कहा जाता है। इसी रूप मे वह जन्म लेता तथा मरता है। पिछले जन्म के कर्मो के अनुसार ही उसे वर्तमान जन्म ग्रहण करना पडता है। वर्तमान जन्म मे यदि उसे मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है तो वह इस ससार चक्र से मुक्त हो जाता है अन्यथा यह ससार चक्र चलता ही रहता है। ससारिकत्व जीव का लक्षण है जो परमार्थत असत् है किन्तु व्यवहारत सत् है।

जीव अपने वास्तविक स्वरूप मे ब्रह्म ही है। इसी तरह इस सम्पूर्ण जगत का कारण एव सृष्टा ईश्वर भी अपने वास्तविक स्वरूप मे ब्रह्म ही है। माया मे युक्त ब्रह्म को ही ईश्वर कहा जाता है। ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, अन्तर्यामी तथा जगत् का सृष्टा व पालनकर्ता होने के साथ ही साथ सहारकर्ता भी है। वह उपासना का विषय है। जीव एव ईश्वर मे तात्त्विक एकता होने पर भी उनके बीच महत्वपूर्ण अन्तर है। जीव जहाँ राग–द्वेष आदि से युक्त होता है वहीं ईश्वर राग–द्वेष से मुक्त होता है। वह सभी जीवो का रक्षक है तथा उन्हे कर्मो के अनुसार फल प्रदान करता है। ईश्वर की शक्तियाँ असीमित है जबकि जीव की शक्तियाँ सीमित होती है। जीव अपने कर्मानुसार पाप एव पुण्य अर्जित करता है जिसके कारण उसे ससार–चक्र मे घूमना पडता है।

ईश्वर विश्व का सृष्टा तथा पूर्ण एव धर्म–अधर्म से परे होने के कारण एक है। सृष्टि करना ईश्वर स्वभाव है, वह विश्व का उपादान एव निमित्त कारण है। यद्यपि ईश्वर स्वभावत निष्क्रिय है, किन्तु माया के कारण वह सक्रिय हो जाता है। शकर दर्शन मे ब्रह्म एव ईश्वर मे भेद करते हुये बताया गया है कि ब्रह्म पारमार्थिक दृष्टि से सत्य है जबकि ईश्वर व्यावहारिक दृष्टि से सत्य है। निर्गुण निराकार ब्रह्म ही माया के कारण सगुण और सविशेष ईश्वर हो जाता है। ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण है जबकि ब्रह्म व्यक्तित्व शून्य है। ईश्वर उपासना का विषय होने के साथ–साथ कर्म फल दाता है जबकि ब्रह्म न ही उपासना का विषय है और न ही कर्म फल दाता है। ब्रह्म सत्य, अनन्त तथा ज्ञान स्वरूप वाला है जबकि ईश्वर माया से सयुक्त है। यद्यपि ईश्वर एव ब्रह्म मे अद्वैत–वेदान्त मे भेद किया गया है, किन्तु ब्रह्म से परे कुछ भी नहीं है। सब कुछ ब्रह्म ही है। ब्रह्म ही माया शक्ति के द्वारा ईश्वर हो जाता है। केवल ब्रह्म की ही पारमार्थिक सत्ता है।

बन्धन-

आचार्य शकर के अनुसार बन्धन का मूल कारण जीव का स्वय के विषय मे अज्ञान है। अपने नित्य शुद्ध एव वास्तविक स्वरूप मे जीव ब्रह्म ही है, परन्तु अविद्या या माया

के कारण वह अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर शरीर, इन्द्रिय, मन आदि से तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। यही उसका अज्ञान है। इस दोषपूर्ण तादात्म्य के कारण ही वह स्वय को कर्त्ता एव भोक्ता समझने लगता है और बन्धन मे पड जाता है। किन्तु जीव का यह बन्धन केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही सत्य है, पारमार्थिक दृष्टिकोण से नही। वस्तुत पारमार्थिक रूप से देखा जाये तो जीव न तो कभी बन्धन मे पडता है न मुक्त होता है। जब जीव का शरीरादि के साथ दोषपूर्ण तादात्म्य समाप्त हो जाता है तब जीव यह अनुभव करता है कि वह तो अनादिकाल से ब्रह्म ही था। इस प्रकार जीव के बन्धन का कारण कहीं बाहर नहीं बल्कि उसके मन मे ही है। बन्धन सत्तागत न होकर मानसिक है। अज्ञान की पूर्ण निवृत्ति हो जाने के उपरान्त जीव एव ब्रह्म मे एकता या तादात्म्य स्थापित हो जाता है एव जीव नित्य ब्रह्म भाव को प्राप्त करता है।

अद्वैत–वेदान्त मे चूँकि आत्मा एव ब्रह्म को अभिन्न माना गया है अत मोक्ष को आत्मा का स्वरूप लाभ कहना उतना ही उपयुक्त है जितना उसे ब्रह्म लाभ कहना अथवा ब्रह्म साक्षात्कार कहना। इसलिए अद्वैत–वेदान्त मे मुक्ति के कई पर्याय हैं– आत्मज्ञान, आत्मलाभ, अथवा ब्रह्मज्ञान या ब्रह्मसाक्षात्कार आदि।

उपनिषदो मे भी कहा गया है कि 'ब्रह्मविद ब्रह्मैव भवति' ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है। शकर के अनुसार आत्मा की अपने स्वरूप मे अवस्थिति ही मोक्ष है। यही ब्रह्म ज्ञान है। 'ब्रह्म भावस्थ मोक्ष' मुक्तावस्था एव ब्रह्मावस्था तादात्म्यक है। अविद्या की निवृत्ति एव ब्रह्मभाव या मोक्ष की प्राप्ति कार्यान्तर नहीं है। आत्म–ज्ञान मोक्ष को फल या कार्यरूप मे उत्पन्न नहीं करता है।

प्रस्तुत अध्याय मे शरीर के जिन तीन रूपो का वर्णन किया गया है मोक्ष उन तीनो प्रकार के शरीर के सम्बन्ध से रहित नित्य आत्मस्वरूप का अनुभव है। मोक्ष शरीर–रहित अवस्था न होकर शरीर–सम्बन्ध रहित अवस्था है। इस प्रकार आचार्य शकर ने मोक्ष के तीन लक्षण बताये है –

१– मोक्ष अविद्या निवृत्ति है। (अविद्यानिवृत्तिरेवमोक्ष)

२– मोक्ष ब्रह्मभाव या ब्रह्म साक्षात्कार है। (ब्रह्मभावश्चमोक्ष)

३– मोक्ष नित्य अशरीरत्व है। (नित्य शरीरत्व मोक्षाख्यम्)

आचार्य शकर के अनुसार कर्तृत्व एव भोक्तृत्व की भावना ही सासारिकता या बन्धन है। ज्यो ही कर्तृत्व, भोक्तृत्व की भावना का परित्याग कर हम ज्ञातृत्व को प्राप्त कर लेते है, हमे मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। मोक्ष के स्वरूप का वर्णन करते हुए शकराचार्य कहते है कि– 'पारमार्थिक, कूटस्थ, नित्य, आकाश के समान व्यापक, विकारो से रहित, आप्तकाम, निरवयव, स्वय ज्योतिस्वभाव, जहॉ पाप–पुण्य की पहुॅच नहीं है, ऐसे अशरीरी स्वभाव को मोक्ष कहते है।' [1]

परब्रह्म या परमात्मरूप के रूप मे मोक्ष पारमार्थिक सत् है। यह अनन्त सर्वव्यापी भूतवस्तु है। यह कार्य–कारण भाव के पार तथा नित्यतृप्त है। मोक्ष या ब्रह्मज्ञान प्राप्त होते ही ज्ञाता, ज्ञान एव ज्ञेय की त्रिपुटी का विलय हो जाता है। चूॅकि मोक्ष ज्ञाता, ज्ञान एव ज्ञेय की त्रिपुटी के परे है, अत इसका ज्ञान और आनन्द स्वसम्बेद्य नहीं है। यह स्वय ज्योति या स्वप्रकाश है। यह स्वत सिद्ध है। यह दिक्कालातीत, अभयपद एव परम पुरुषार्थ है।

शकर–वेदान्त मे मोक्ष को मूल्यात्मक सम्प्रत्यय नही समझना चाहिये। यदि मोक्ष को मूल्यात्मक सम्प्रत्यय माना जाय तो यह भविष्य मे प्राप्त होने वाला हो जायेगा और नित्य प्राप्त की प्राप्ति नहीं रह जायेगा। भविष्य मे प्राप्त होने के कारण मोक्ष कर्म पर आधारित उत्पाद्यय, सस्कार्य, विकार्य एव प्राप्त होने के कारण अनित्य हो जायेगा। जब कि आचार्य शकर तथा सभी भारतीय दार्शनिक मोक्ष को नित्य मानते हैं अत मोक्ष को मूल्यात्मक प्रत्यय नही माना जा सकता है।

---

[1] इद तु पारमार्थिक, कूटस्थनित्य, व्योमवत्सर्वव्यापि, सर्वविक्रियारहित, नित्यतृप्त, निरवय, स्वय ज्योति स्वभावम्। यत्र धर्माधर्मौ सह कार्येण, कालत्रय च नोपावर्त्तेते। तदेतत् अशरीरत्व मोक्षाख्यम्।

– शाकर भाष्य –१/१/४

मोक्ष कार्य या उत्पाद्य नहीं है क्योकि जो वस्तु उत्पन्न होती है उसका विनाश भी अवश्य होता है अत मोक्ष को कार्य मानने पर वह दूषित व अनित्य हो जायेगा जो शाकर मत के विपरीत है। मोक्ष विशुद्ध चैतन्य स्वरूप शाश्वत सत्य की चिरन्तन अनुभूति है।

मोक्ष अविकार्य है, क्योकि नित्य होने के कारण आत्मा एव ब्रह्म मे विकार की सभावना नही होती है। मोक्ष किसी प्राप्त वस्तु की प्राप्ति न होकर सदा प्राप्त होने के कारण प्राप्य भी नही है। मोक्ष को शकराचार्य ने 'प्राप्तस्वप्राप्ति' कहा है। अर्थात् मोक्ष पहले से प्राप्त है। वह अप्राप्य वस्तु नहीं है जिसे प्राप्त करने के लिए प्रयास किया जाये। इसीलिये शकरचार्य मोक्ष के साधन के रूप मे ज्ञान को स्वीकार करते है कर्म को नही। मोक्ष सस्कार्य भी नहीं है, क्योकि उसमे गुणाधान या दोषनयन रूपी सस्कार सभव नहीं है। वह तो स्वभाव से ही नित्य विशुद्ध है।

आचार्य शकर जीवन मुक्ति के साथ ही साथ विदेह मुक्ति को भी स्वीकार करते है। जीवन मुक्ति वह मुक्ति है जो ज्ञान के साथ ही प्राप्त हो जाती है। जिस क्षण जीव को ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है उसी क्षण वह मुक्त हो जाता है। अर्थात् जीवित अवस्था मे ही मुक्ति पा जाना जीवन–मुक्ति की अवस्था है। शारीरक भाष्य मे आचार्य शकर एक स्थान पर यह कहते है कि 'मोक्ष' अशरीरत्व है और वह नित्य सिद्ध है।[1] इस स्थिति मे जीवन्मुक्ति किस प्रकार सभव है? इस प्रश्न के उत्तर मे शकराचार्य का कहना है, क्योकि शरीरत्व मिथ्याज्ञान निमित्त है और मिथ्याज्ञान के निराकरण के बाद सशरीरत्व नही रहता इसलिए जीवन काल मे ही विज्ञानियो का अशरीरत्व सिद्ध है। जीवन्मुक्त अपनी विद्या के प्रचार के लिए तथा अपने आनन्द के लिए इस तुच्छ देह को कुछ समय तक के लिए धारण किये रहता है फिर इन प्रयोजनो की सिद्धि हो जाने पर वह स्वेच्छा से देहपात कर देता है।

---

[1] मोक्षख्याम् अशरीत्वम् नित्यमिति सिद्धम्।

– शारीरक भाष्य १/१/४

कुछ अद्वैत वेदान्ती मानते है कि जीवनमुक्ति की अवस्था म सचित एव क्रियमाण कर्मो का निवारण हो जाने पर भी प्रारब्ध कर्मो के फल को भोगने के लिये शरीर का अस्तित्व बना रहता है तथा इस फल भोग के उपरान्त स्थूल एव सूक्ष्म दोनो शरीरो का अन्त हो जाता है। तदन्तर 'जीवनमुक्त' को जो अवस्था प्राप्त होती है, उसे 'विदेहमुक्ति' कहते है।

किन्तु कुछ अद्वैत–वेदान्ती इसे नहीं मानते है। उनके मतानुसार जिनको इस जगत् मे ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ, वे ब्रह्मलोक मे ब्रह्म का सामीप्य लाभ करते हुये प्रलय–पर्यन्त रहते है। यदि इन्हे वहॉ ब्रह्म ज्ञान हो गया तो वे वही मुक्ति लाभ कर लेते हैं। यही विदेहमुक्ति हैं। यदि उनको ब्रह्मलोक मे ब्रह्म का ज्ञान नही होता है तो वह पुन सृष्टि प्रारम्भ होने पर जन्म–मरण लेकर इस ससार मे ससरण करते रहते है। इस मत के मानने वालो के अनुसार ब्रह्मलोक मे वास करना नहीं, अपितु वहॉ जाकर ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना ही विदेहमुक्ति है। प्रथम प्रकार की मुक्ति को सद्योमुक्ति कहते है जो ज्ञान होते ही मिलती है तथा दूसरे प्रकार की मुक्ति जो क्रमश प्राप्त होती है क्रममुक्ति कहलाती है। देवयान मार्ग से चलने वाले मनुष्य जिस ब्रह्मलोक को प्राप्त करते है वही क्रममुक्ति है। यह मुक्ति सापेक्षिक मुक्ति है। जबकि सद्योमुक्ति वास्तविक मुक्ति है। सर्वज्ञात्ममुनि ने सद्योमुक्ति को ही वास्तविक मुक्ति माना है।[1] इस मुक्ति की प्राप्ति इसी जीवन मे होती है, किन्तु फिर भी इसे जीवन मुक्ति नहीं कहा जा सकता है क्योकि उसमे मुक्त पुरुष का देह नहीं रहता। ब्रह्मवेत्ता का देह विवर्त भी दूर हो जाता है तथा जगत्रूपी विवर्त भी पूर्णत नष्ट हो जाता है।

यहॉ पर एक प्रश्न यह उठता है कि क्या एक जीवात्मा की मुक्ति से अन्य जीवात्माओ की भी मुक्ति हो जाती है? अथवा एक जीवात्मा की मुक्ति के पश्चात् अन्य जीवात्माओ की मुक्ति शेष रह जाती है। इस प्रश्न के उत्तर मे एक जीववादी अद्वैत–वेदान्तियो का मानना

---

[1] सक्षेप शारीरक – ४/३८

है कि अन्य जीव है ही नहीं। सर्व का ज्ञान अज्ञान जन्य हे ओर मुक्ति प्राप्न होने पर वह अज्ञान दूर हो जाता है। अत एक मुक्ति ही वास्तविक मुक्ति हे। जबकि अनेक जीववादी अद्वैत वेदान्ती इसे स्वीकार नहीं करते है। इनके अनुसार प्रत्येक जीव केवल अपना मोक्ष प्राप्त करता है। एक मुक्ति होने पर सर्वमुक्ति नहीं होती।

अद्वैत–वेदान्त मे मोक्षावस्था को क्लेशाभाव नहीं माना गया है, अपितु यह परमानन्द की अवस्था है। यह आनन्द आत्मा के अपने स्वरूप मे ही अवस्थित है। चूँकि मोक्ष आत्म ज्ञान रूप है अत आनन्द स्वरूप है। इस प्रकार मोक्ष एक भावात्मक धारणा है। यद्यपि रामानुज भी मोक्ष को परमानन्द की अवस्था मानते हैं किन्तु इस आनन्द का श्रोत ईश्वर है। मुक्तात्मा ईश्वर के आनन्द मे भाग लेती है। आचार्य शकर का मानना है कि मोक्षावस्था मे जीव एव ब्रह्म का एकाकार हो जाता है वहीं रामानुज का मानना है कि जीव ब्रह्म न होकर केवल ब्रह्म के समान ही हो सकता है।

मिथ्याज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर आत्मा उसी प्रकार दैदीप्यमान हो जाती है जैसे मलिनता के दूर हो जाने पर स्वर्ण। आचार्य शकर के अनुसार मोक्ष का अभिप्राय जीव द्वारा अपने सहज स्वाभाविक स्वरूप को समझ लेना है जिसे वह अविद्या की उपाधि वश कुछ समय के लिये भूल गया था। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपने गले मे पडे हुये मोतियो के हार को भूल कर इधर–उधर ढूँढने लगता है। मोक्ष के लिये व्यक्ति को 'सोऽहम् ब्रह्म' ,'अह ब्रह्मास्मि' जैसे महावाक्यो को समझने की आवश्यकता है।

<u>मोक्ष प्राप्ति के मार्ग</u>–

आचार्य शकर के अनुसार अविद्या का अन्त ज्ञान से ही सभव है। कर्म के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति सभव नहीं है। मोक्ष प्राप्ति के लिए कर्म का सहारा लेना व्यर्थ है। मीमासा दर्शन मे कर्म से मोक्ष प्राप्ति को सभव बताया गया है तथा भक्तिमार्ग के अनुयायी भक्ति द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होना बताते हैं, किन्तु आचार्य शकर के अनुसार कर्म और भक्ति ज्ञान प्राप्ति मे सहायक हो सकते हैं मोक्ष प्राप्ति मे नहीं। आचार्य शकर

ने 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ मे किया है जो 'ज्ञान' के साधारण प्रयोग से भिन्न या अलग है।

ज्ञान का जो साधारण अर्थ है, उसके भीतर सभी प्रकार के प्रमाणजन्य ज्ञान आ जाते है। शकर के अनुसार प्रमाणो और शास्त्रो के विषय अविद्याकृत होते है। इसका कारण यह है कि ये ज्ञाता–ज्ञेय–ज्ञान के भेद पर आश्रित है।[1] परन्तु ब्रह्मज्ञान सभी प्रकार के भेदो से रहित है। यद्यपि साधरण ज्ञान भी हमे ब्रह्म ज्ञान की ओर अग्रसर करता है, परन्तु दोनो के स्वभाव मे पर्याप्त भिन्नता है। वास्तविक ज्ञान अपरोक्षानुभूति है और आत्मज्ञान अपरोक्षानुभूति द्वारा ही सभव है। आचार्य शकर ने श्रुति को प्रमाणो के रूप मे अत्यन्त महत्त्व दिया है। उन्होने कहा है कि –नैयायिको के लिये जो प्रत्यक्ष का महत्त्व है, वही उनके लिये श्रुति का महत्त्व है और नैयायिको के लिये जो अनुमान का महत्त्व है वही उनके लिये स्मृति का महत्त्व है।[2] इस तरह प्रमाणो का सदुपयोग करने से ब्रह्म साक्षात्कार की प्रेरणा प्राप्त हो सकती है। उनके भीतर साध्यमूल्य न होकर साधन मूल्य होता है।

रूपादि के अभाव के कारण ब्रह्म प्रत्यक्ष का विषय नही है।[3]

लिगादि के अभाव के कारण ब्रह्म अनुमान द्वारा भी ज्ञेय नहीं है।[4]

ब्रह्म तर्क से भी ज्ञेय नही है, क्योकि पुरुष मति की विरूपता के कारण तर्क को प्रतिष्ठित नही माना जा सकता।[5]

यद्यपि ब्रह्म को जानने मे श्रुति सहायक है, किन्तु वह भी पर्याप्त नहीं है। तब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि यदि ब्रह्म को न प्रत्यक्ष के द्वारा, न अनुमान द्वारा, न तर्क

---

[1] उपोद्घात, अविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादिप्रमाणानि शास्त्राणि च।

[2] प्रत्यक्ष श्रुति प्रामाण्य प्रत्ययनपेक्षत्वात् अनुमान स्मृति प्रामाण्य प्रति सापेक्षत्वात्।– शारीरक भाष्य १/३/२६

[3] रूपाद्यभावाद्धि नायमर्थ प्रत्यक्षगोचर। – शारीरक भाष्य २/१/११

[4] लिगाद्यभावाच्च नानुमादीनाम्। –शारीरक भाष्य २/१/११

[5] न प्रतिष्ठितत्त्व तर्काणा शक्यमाश्रिन्तु पुरुषमतिवैरूप्यात्। –शारीरक भाष्य २/१/११

द्वारा और न श्रुति द्वारा जाना जा सकता है, तो ब्रह्म को जानने का साधन क्या है? इस प्रश्न के उत्तर मे आचार्य शकर का मानना है कि अपरोक्षानुभूति ही ब्रह्म साक्षात्कार करा सकती है। ब्रह्म ज्ञाता है, वह ज्ञेय नही है अत उसका ज्ञान किसी अन्य प्रमाण द्वारा नही हो सकता है। अनुभूति के अतिरिक्त जितने प्रमाण है वे सब अनुभव की प्राप्ति के साधन मात्र है। उनके भीतर साध्य–मूल्य न होकर साधन–मूल्य ही है। स्वानुभूति के अतिरिक्त जितने प्रमाण है, उनका कार्य ब्रह्म–साक्षात्कार कराना नही, वरन् अविद्या–कल्पित भेदो की निवृत्ति करना ही है।[1] अन्य प्रमाणो की अपेक्षा श्रुति–ज्ञान हमे अनुभव के पास जल्दी ला देता है। शकर ने अन्त मे घोषित किया कि सभी ज्ञान का लक्ष्य अनुभव ही है। प्रत्यक्ष, अनुमान एव श्रुति इत्यादि प्रमाणो का कार्य केवल इतना है कि वे प्रदर्शित करे कि आत्मा अनात्म वस्तुओ से बिल्कुल पृथक् है। आत्म–ज्ञान को प्राप्त करने की अपेक्षा अनात्म बुद्धि की निवृत्ति करना ही प्रमाणो का कार्य होता है। ज्यो ही अनात्म–बुद्धि का निरास होता है, हम आत्म–ज्ञान प्राप्त करने मे सफल हो जाते है जो हमारा स्वभाव ही है। यही अपरोक्षानुभूति है।[2]

शकर ने एकमात्र ज्ञान को ही मोक्ष का उपाय माना है। ज्ञान की प्राप्ति वेदान्त दर्शन के अध्ययन से हो सकती है। वेदान्त के अधिकारी को चार साधनो से सम्पन्न होना चाहिये।[3] ये चार साधन निम्न हैं–

१– नित्यानित्यवस्तु विवेक।

२– इहामुत्रार्थफलभोगविराग।

३– शमदमादिसाधन सपत्।

४– मुमुक्षुत्व।

---

[1] अविद्याकल्पित भेद–निवृत्ति परत्वात् शास्त्रस्य, न हि शास्त्रमिदंतया विषयभूत ब्रह्म प्रतिपिपादयिषति।
– शारीरक भाष्य १/१/४

[2] अद्वैत–वेदान्त की तार्किक भूमिका – डा० जगदीश सहाय श्रीवास्तव – पृष्ठ सख्या २५६ से उद्धृत।

[3] नित्यानित्यवस्तुविवेकेहामुत्रार्थफलभोगविरागशमादिषट्कसम्पत्तिमुमुक्षुत्वानि।
– वेदान्तसार पृष्ठ ७० से उद्धृत।

मूल मे परिगणित चारो साधनो मे पारस्परिक तारतम्य द्रष्टव्य है तथापि नित्यानित्य या सदसत् वस्तु के विवेक के अभाव मे फल के भोगो से विराग नहीं हो सकता। वैराग्य के बिना शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान एव श्रद्धा प्राप्त नहीं हो सकते और इनके अभाव मे मोक्ष की इच्छा नहीं हो सकती। इन सबके बिना ब्रह्म जिज्ञासा भी सभव नहीं है।

१ **नित्यानित्यवस्तुविवेक**– ब्रह्म ही सत्य है, ब्रह्म से भिन्न जितनी भी वस्तुये है वे सब मिथ्या है, इस प्रकार से वेदान्त–वाक्यो के विचार द्वारा किये जाने वाले निश्चय को नित्यानित्यवस्तुविवेक कहा जाता है। किसी काल की सीमा मे न रहकर सम्पूर्ण कालो मे रहने वाली वस्तु को नित्य कहते है। जो वस्तु ऐसी नहीं होती उसे अनित्य वस्तु कहते हैं। यह वस्तु नित्य है यह वस्तु अनित्य है, इस प्रकार से होने वाले भेदपूर्वक ज्ञान को नित्यानित्य वस्तु विवेक कहते है। अत देश–कालातीत और अविनाशी तत्त्वरूप ब्रह्म ही नित्य है एव इसके विपरीत सब कुछ अनित्य है।

२ **इहामुत्रार्थफलभोगविराग**– मनुष्य कर्मजन्य ऐहिक एव पारलौकिक सुखो तथा भोगो मे आसक्त रहता है। इनसे वैराग्य उत्पन्न हो जाना ही इहामुत्रार्थफलभोगविराग है। देह धारण से अतिरिक्त जो माला, चन्दन, वनितादि विषय का भोग ही, इह भोग है तथा स्वर्गलोक से लेकर ब्रह्म लोक पर्यन्त जो प्राप्त होने वाला रम्भा, उर्वशी इत्यादि का भोग है वही अमुत्रभोग है इनसे विरक्ति हो जाना ही 'इहामुत्रार्थफलभोगविराग' है। इनसे विरक्ति तभी हो सकती है जब ब्रह्म की नित्यता का बोध हो जाये और ब्रह्म भिन्न वस्तु मे राग न बचे। अत साधक को लौकिक एव पारलौकिक सभी प्रकार की कामनाओ को परित्याग करना चाहिये।

३ **शमदमादि साधन सम्पत्**- साधक को शम, दम, श्रद्धा, समाधान उपरति एव तितिक्षा इन छ साधनो को अपनाना चाहिये। मन का सयम शम, इन्द्रियो का नियत्रण दम, शास्त्रो मे निष्ठा रखना श्रद्धा, विषय वासना से दूर रहना उपरति, शकाओ का समन्वय समाधान तथा सासारिक द्वन्द्वो शीत–उष्ण, हानि लाभ, जीवन–मरण,

मान–अपमान आदि द्वन्दो या दु खो को सहने की क्षमता या सासारिक द्वन्दो के प्रति सहिष्णुता इन छ साधनो से साधक को युक्त होना चाहिये।

४ <u>मुमुक्षुत्व</u> – मुमुक्षा का अर्थ है मोक्ष की इच्छा, मुमुक्षुत्व का अर्थ है माक्ष की इच्छा वाला होना। मूल मे इसका अर्थ मोक्षेच्छा किया गया है, पर अभीप्सित उक्त अर्थ ही है क्योकि यदि मनुष्य को मोक्ष की इच्छा न होगी, तो वह तदुपाय–भूत वेदान्तादि के अध्ययन मे प्रवृत्त न होगा। वस्तुत वह नित्यानित्य वस्तुओ मे विवेक के द्वारा वैराग्य उत्पन्न कर शमादि की सहायता से अन्तिम साधन मोक्ष की इच्छा जागृत करता है और आत्म–ज्ञान का पात्र बनता है। शान्त मन वाले, इन्द्रियो को वश मे रखने वाले, गुरु एव शास्त्रो द्वारा निर्दिष्ट कर्मो को करने वाले, गुणो से युक्त(अपने) आचार्य का अनुगमन करने वाले तथा मोक्ष–प्राप्ति की आकाक्षा वाले मनुष्य को वेदान्त ज्ञान की शिक्षा लेने के लिये एक ऐसे गुरु के चरणो मे उपस्थित होना चाहिये, जिन्हे ब्रह्म ज्ञान की अनुभूति प्राप्त हो गयी हो। गुरु के साथ साधक को श्रवण, मनन एव निदिध्यासन की प्रणाली का सहारा लेना पडता है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन ज्ञान मार्ग के तीन सोपान हैं। श्रवण का अधिकारी वही हो सकता है जो 'साधन चतुष्टय' से सम्पन्न है। गुरु के उपदेशो को सुनना 'श्रवण' कहा जाता है। उपदेशो पर तार्किक दृष्टि से विचार करने को 'मनन' कहा जाता है तथा सत्य पर निरन्तर ध्यान रखना 'निदिध्यासन' कहलाता है। ध्यान ज्यो ज्यो दीर्घकाल तक अभ्यासपूर्वक किया जाएगा, त्यो त्यो आत्माज्ञान का प्रकटीकरण होगा। इस पद्धति से अज्ञान की निवृत्ति तथा ज्ञान की प्राप्ति होती है। साधक 'तत्त्वमसि' एव 'अहम् ब्रह्मास्मि' आदि वाक्यो द्वारा आत्मा एव ब्रह्म की एकता का ध्यान करते हुये परम शक्ति एव परम आनन्द का अनुभव करने लगता है। ब्रह्म एव आत्मा की एकता का ज्ञान प्राप्त करना ही वेदान्त का लक्ष्य है। जीव एव ब्रह्म का भेद हट जाने पर बन्धन का अन्त हो जाता है एव मोक्ष की प्राप्ति होती है।

अत यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि यदि दर्शन का उद्देश्य विश्व की विभिन्नता एव नानात्व मे एकता ढूँढना है तो शकराचार्य का दर्शन जिनके अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है जो समस्त भेदो से यहाँ तक कि स्वगत भेद से भी रहित है मे मानवीय चिन्तन अपनी उत्कृष्टता को प्राप्त कर लेता है। मोक्ष की अवस्था मे स्वय को परमतत्त्व से नितान्त अभिन्न जान लेना ही मानव चिन्तन का सर्वोच्च शिखर है। आचार्य शकर के दर्शन मे जब जीव ब्रह्म ही हो जाता है तब वह इस सर्वोच्च शिखर को प्राप्त कर लेता है।

अब अगले अध्याय मे हम वैष्णव–वेदान्त के मोक्ष विषयक विचारो का अध्ययन करेगे जहाँ ब्रह्म एव आत्मा मे अश एव अशी का भेद स्वीकार करते हुये ज्ञान, कर्म को महत्त्व देते हुये भक्ति मार्ग को मोक्ष प्राप्ति के लिये आवश्यक साधन के रूप मे स्वीकार किया गया है।

सप्तम अध्याय

विशिष्टाद्वैत-वेदान्त

-रामानुजाचार्य

आचार्य शकर के अद्वैत दर्शन का निषेध करके रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत-वेदान्त को प्रतिस्थापित किया। रामानुज के अनुसार तीन तत्त्व है। चित्, अचित् एव ईश्वर। चित् का अर्थ जीव अथवा आत्मा, अचित् का अर्थ जड जगत् तथा सबके अर्न्तयामी तत्त्व को ईश्वर कहते हैं। ईश्वर व्यक्तित्त्वपूर्ण है। रामानुज ने ब्रह्म एव ईश्वर मे भेद नहीं किया है। ब्रह्म ही ईश्वर है। ईश्वर ही एकमात्र सत्ता है वह चित् एव अचित् तत्त्वो से युक्त होता है। वह इन दोनो के भीतर अन्तर्यामी रूप से विद्यमान रहता है। इसी कारण चित् तथा अचित् ब्रह्म के शरीर या प्रकार माने जाते हैं। रामानुज के अनुसार तत्त्व सदैव द्वैत विशिष्ट अद्वैत होता है। अत विशिष्ट रूप मे अद्वैत को स्वीकार करने के कारण रामानुज का दर्शन विशिष्टाद्वैत कहलाता है।

विशिष्टाद्वैत परम्परा का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। पराशर, बोधायन एव नाथमुनि आदि आचार्यो ने विशिष्टाद्वैत के विकास मे महत्वपूर्ण योगदान दिया। नाथमुनि के पौत्र यमुनाचार्य के दो महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'सिद्धित्रय' एव 'गीतार्थ सग्रह' वैष्णव दर्शन के क्षेत्र मे ऐसी प्रारम्भिक रचनाये हैं जो अब भी प्राप्य हैं। यमुनाचार्य ने वैष्णव भक्तो को सगठित किया जिस कारण उन्हे सम्प्रदाय का जनक माना जाता है। दुर्भाग्यवश यमुनाचार्य अपने सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा के लिये ब्रह्मसूत्र पर भाष्य की रचना नहीं कर सके। श्री रामानुजाचार्य ने ब्रह्मसूत्र पर श्रीभाष्य की रचना करके विशिष्टाद्वैत की ख्याति को चतुर्दिक फैलाया। रामानुज (१०७०-११३७) ने अपने १२० वर्षीय जीवन मे वैष्णव वेदान्त की उन्नति के लिये अनेक मन्दिरो के निर्माण के साथ-साथ अनेक लोगो को श्री वैष्णव सम्प्रदाय मे शिक्षित किया। रामानुजाचार्य ने श्रीभाष्य के अतिरिक्त भगवद्गीता पर भाष्य एव वेदार्थसग्रह की भी रचना की। इसके अतिरिक्त सुदर्शन सूरि की श्रीभाष्य

पर श्रुत प्रकाशिका टीका, वेकटनाथ की तत्त्वटीका, तत्त्वत्रय, अर्थपचक, वेदान्तदेशिकाचार्य की न्याय सिद्धाजन, तत्त्व मुक्तालाप एव श्रीभाष्य व गीताभाष्य पर टीकाये तथा श्रीनिवासाचार्य कृत यतीन्द्रमतदीपिका विशिष्टाद्वैत दर्शन के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

आचार्य शकर ने अद्वैत ब्रह्म की सत्ता को माना गया है। उनके अनुसार ब्रह्म से भिन्न किसी अन्य तत्त्व की सत्ता नहीं है, किन्तु रामानुज को शाकर मत स्वीकार्य नही है। वे शकर के ब्रह्म का खण्डन करते हुये कहते है कि ब्रह्म मे कुछ अन्य पदार्थ भी है जो उसी के द्वारा वृहत् होते है। रामानुज मानते हैं कि चित् एव अचित् दोनो ब्रह्म मे विद्यमान है। ब्रह्म चित् एव अचित् से विशिष्ट है। रामानुज का मानना है कि ब्रह्म निर्विशेष नहीं वरन् सविशेष है। जीव और जगत् ही उसे विशिष्ट करते है। जीव एव ईश्वर मे विशिष्ट प्रकार का अद्वैत है। ब्रह्म जगत् मे पूरी तरह व्याप्त है, साथ ही उससे परे भी है। वह इस उद्देश्यपूर्ण जगत् को अपनी इच्छा शक्ति से उत्पन्न करता है। वह धार्मिक साधना का लक्ष्य एव उपासना का विषय है। यही ईश्वर की विलक्षणता है। शकर ने जहाँ ब्रह्म को त्रिविध भेदो से परे माना है वहीं रामानुज के अनुसार ईश्वर मे स्वगत भेद पाया जाता यद्यपि वह सजातीय एव विजातीय भेदो से शून्य है। ईश्वर मे स्वगत भेद है, क्योकि चित् एव अचित् दोनो उससे भिन्न है। ईश्वर सबका धारक एव नियता है। वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, पूर्ण, सर्वान्तर्यामी, परमकारूणिक, पूर्ण एव कृपालु है। वह सच्चिदानन्द है। विशिष्टाद्वैत के अनुसार प्रधान, माया, अविद्या आदि नामो से जानी जाने वाली प्रकृति एव आत्मा ब्रह्म मे ही रहते हैं।

प्रकृति, आत्मा एव ईश्वर मे अभिन्न सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरा नहीं रह सकता है। जो शरीर को धारण करता है उसे आत्मा कहते हैं एव जो शरीर एव आत्मा दोनो को धारण करता है, उसे ईश्वर कहते हैं। अपने विवेक के अनुसार व्यक्ति अपने को या तो शरीर या आत्मा या ईश्वर समझता है। इस दृष्टि से ससार की प्रत्येक वस्तु मे द्वैत भावना विद्यमान है। ससार का कारण रूप ब्रह्म अव्यक्त चेतन, अव्यक्त जड एव ईश्वर इन तीनो की समष्टि है।

रामानुज ने ब्रह्म को स्रष्टा, पालनकर्त्ता एव सहारकर्त्ता कहा है। वह अपने अन्दर निहित अचित् से विश्व का निर्माण करता है। ब्रह्म विश्व का निमित्त एव उपादानकारण दोनो है। विशिष्टाद्वैत के अनुसार कार्य और कारण रूप से ब्रह्म की स्थिति दो प्रकार की होती है। कारणावस्था सृष्टि के पहले की स्थिति होती हे। इस स्थिति मे चित् एव अचित् को धारण करके ब्रह्म सूक्ष्म रूप मे स्थित रहता है। इस सूक्ष्मावस्था मे चित् एव अचित् परस्पर सयुक्त न रहकर अपने अपने स्वरूप मे स्थित होते हैं तथा उनकी सत्ता शुद्ध एव अविकृत रहती है। इस अवस्था को ब्रह्म की प्रलयावस्था कहा जाता है। ब्रह्म की स्थूल अवस्था या कार्यावस्था उसकी कारणावस्था से भिन्न होती है क्योकि इस अवस्था मे ब्रह्म के नियामक अश ईश्वर मे किसी प्रकार का परिवर्तन नही होता है, किन्तु अचित् एव चित् अशो मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन घटित होते है। अचित् एव चित् स्थूल रूप होकर नामरूप धारण कर लेते हैं अव्यक्त प्रकृति व्यक्त होकर जीवात्माओ के सयोग से उन्हे कर्मानुसार फलभोग प्रदान करने हेतु नाम रूपात्मक जगत् मे विकसित होती है। जबकि ब्रह्म का चित् अश शरीर को धारण करके अनेक कर्मो का कर्त्ता एव फलो अथवा सुख–दु ख का भोक्ता बन जाता है। ईश्वर नियामक के रूप मे उनमे प्रविष्ट हो जाता है।

रामानुजाचार्य के दर्शन मे जीवात्मा को ब्रह्म का अश माना गया है। चित् अथवा जीवात्मा ब्रह्म मे निहित है। यह शरीर, मन एव इन्द्रियो से भिन्न, स्वप्रकाश चेतन द्रव्य है। यह नित्य एव ज्ञान स्वरूप है। यह ज्ञान का आश्रय है। यह आनन्दरूप, अणु, निर्विकार, निरवयव एव ईश्वर द्वारा नियम्य है। ईश्वर आत्मा का नियामक है। इसका सारभूत ज्ञान नित्य एव प्रकाश स्वरूप है। यह ज्ञान का आश्रय है। जीवात्मा ज्ञाता है और ज्ञान इसका धर्म है। ज्ञान इसका आवश्यक धर्म होने के साथ–साथ अपृथक् स्वरूप भी है। ज्ञान आत्मा का आवश्यक एव अनिवार्य धर्म होने के साथ ही अपृथक् सिद्ध स्वरूप होने के कारण आत्मा एक साथ ज्ञानस्वरूप एव ज्ञानाश्रय कहलाता है। जीवात्मा का ज्ञान कर्म एव प्रकृति के सयोग से सकुचित होता है।

जीवात्मा ज्ञाता कर्त्ता एव भोक्ता है। जीव अणु है जबकि उसका ज्ञान विभु है। आत्मा स्वप्रकाशक है, किन्तु वह पदार्थो को प्रकाशित कर सकने मे असमर्थ है। ज्ञान स्वय को और पदार्थो दोनो को प्रकाशित करता है, किन्तु अपने लिये नहीं, वरन् आत्मा के लिये ताकि आत्मा उन्हे जान सके। ज्ञातृत्व केवल आत्मा का ही स्वरूप है। आत्मा स्वभाव से ही ज्ञाता है।[1] जीव ससार के भिन्न–भिन्न कर्मो मे भाग लेने के कारण कर्त्ता है तथा वह अपने शुभाशुभ कर्मो के अनुसार सुख एव दुख को प्राप्त करता है। ईश्वर ही जीव को उसके कर्मो के अनुसार फल प्रदान करता है। आत्मा मे कर्तृत्व एव भोक्तृत्व तब तक विद्यमान रहते है जब तक उसका शरीर से पूर्णतया सम्बन्ध–विच्छेद नहीं हो जाता है। स्थूल एव सूक्ष्म दोनो प्रकार की प्राकृतिक देह से सम्बन्ध विच्छेद होते ही आत्मा अपने चित् रूप को पुन प्राप्त कर लेता है।

आचार्य शकर के अद्वैत मत मे यह माना गया है कि जीव स्वभावत एक है, किंतु देहादि उपाधियो के कारण वह अनेक प्रतीत होता है। रामानुजाचार्य को यह स्वीकार नहीं है। उनका मानना है कि जीव अनेक या अनन्त हैं जो एक–दूसरे से भिन्न हैं। जिस प्रकार चिगारी अग्नि का या बूँद जल का अश है, उसी प्रकार जीव भी ब्रह्म का अश है। जीव एव ब्रह्म मे विशेषण–विशेष्य सम्बन्ध है। जीव एव ईश्वर एक नहीं हो सकते हैं। अशी या विशेष्य जीव अपने अश अथवा विशेषण पर निर्भर रहता है। बिना ईश्वर की शरण मे गये जीव का कल्याण नहीं हो सकता है।

जीवात्मा इन्द्रिय, मन, प्राण एव शरीर आदि से भिन्न है। इन्द्रिय, प्राण मन एव शरीर को आत्मा धारण करता है एव अपने प्रयोजन हेतु इनका उपभोग करता है। आत्मा सूक्ष्म होने के कारण भौतिक तत्त्व मे प्रविष्ट हो सकता है। चैतन्य आत्मा का गुण है। जिस प्रकार दीपक पूरे कमरे को प्रकाशित कर देता है ठीक उसी प्रकार आत्मा शरीर के प्रत्येक भाग मे चेतनता या चैतन्य को भर देता है। रामानुज का मानना है कि जीव एव ईश्वर मे भेद है। ईश्वर जीव का शासक है जबकि जीव ईश्वर के द्वारा शासित है। जीव अपूर्ण तथा अणु है

---

[1] अतोज्ञातृत्वमेव जीवात्मन स्वरूपम्। — श्रीभाष्य –२/३/३१

जबकि ईश्वर पूर्ण तथा अनन्त है। ईश्वर स्वतत्र है जबकि जीव ईश्वर पर आश्रित होने के कारण परतन्त्र है। जीव शेष है जबकि ईश्वर विशेष है। जीव ईश्वर का अश है जबकि ईश्वर अशी है। इन भिन्नताओ के बावजूद जीव एव ईश्वर दोनो ही नित्य, स्वप्रकाश एव कर्त्ता है।

जीवात्मा अहमर्थ–प्रत्यय–वाच्य है। रामानुज का मानना है कि जीवात्मा का बोध सदैव 'मैं' के रूप मे होता है। चेतना की सभी अवस्थाओ मे उसके आश्रय–रूप से जो विद्यमान है उसे हम 'मै' के द्वारा प्रकट करते है। यथा– 'मै खाता हूँ', 'मै सोता हूँ', 'मै पढता हूँ', इत्यादि वाक्यो से यह स्पष्ट होता है कि मैं एव जीवात्मा का एक अर्थ मे प्रयोग किया जा सकता है। इसी कारण रामानुजाचार्य चित् को विशिष्ट व्यक्तित्व सम्पन्न सत्ता के रूप मे स्वीकार करते हैं। 'मै' शब्द इस सत्ता का वाचक है। जीवात्मा की वैयक्तिता कभी नष्ट नहीं होती है। यद्यपि ससार की स्थिति मे जीवात्मा ईश्वर से नियन्त्रित है, किन्तु फिर भी उसको कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त है। वह अपने कर्मो का कर्त्ता स्वय है। अपनी इच्छा का उपयोग वह ईश्वरेच्छा से निरपेक्ष होकर करता है। जीवात्मा केवल कर्मफल की प्राप्ति के लिये ही ईश्वर पर निर्भर है।

रामानुज का मानना है कि जीवात्मा चेतन द्रव्य है। चैतन्य इसका गुण है। आत्मा चैतन्य से उसी प्रकार भिन्न है, जिस प्रकार धर्मी अपने धर्म से । आत्मा चेतना का आश्रय द्रव्य है। इसमे चेतना अभिव्यक्त होती है। आत्मा ज्ञान का कर्त्ता है। आत्मा मे वस्तुओ की चेतना उनके स्मरण, प्रत्यक्ष या ऐसे ही किसी अन्य कारण से उत्पन्न होती है। इस प्रकार चैतन्य सदा अपने से भिन्न किसी और सत्ता की अपेक्षा रखता है। आत्मा से पृथक् चैतन्य को नहीं सिद्ध किया जा सकता है। जबकि जीवात्मा स्वय प्रकाश है। मुक्ति की अवस्था मे भी आत्मा चैतन्य से पूर्णतया रहित नहीं होता है।[1] मुक्त पुरुष की चेतना का विषय ईश्वर होता है। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि चैतन्य एव आत्मा के बीच केवल तार्किक ढग से ही भेद किया जा सकता है। तात्त्विक दृष्टि से उनमे पार्थक्य नहीं सिद्ध किया जा सकता है।

---

[1] मुक्तस्य च सर्वज्ञत्वमाविष्कृत हि श्रुत्या। – श्री भाष्य – ४/४/१६

चूँकि रामानुज जीवो की अनेकता के समर्थक है, इसलिये उनका मानना है कि मुक्तावस्था मे भी जीवो मे भिन्नता बनी रहती है। वे मुक्त जीवा म गुणात्मक भेद को न मानकर सख्यात्मक भेद स्वीकार करते है। रामानुज ने जीवों की सख्या अनन्त मानी है। चूँकि विभिन्न 'अहम्' या 'मैं' परस्पर भिन्न है, इसलिये जीव भी अनन्त है। इनकी कोई निश्चित सख्या नहीं है।

रामानुज ने जीव की तीन कोटियाँ स्वीकार की है– बद्ध, मुक्त एव नित्य।

नित्य- नित्य जीव सदैव बैकुण्ठ मे भगवान् के साथ निवास करते है। वे कर्म एव प्रकृति से मुक्त रहते है और सर्वदा ब्रह्मानन्द का उपभोग करते है। ये ससार मे कभी नही जन्म लेते है।[1] इनका ज्ञान कभी क्षीण नहीं होता है। इन्हे भगवान् का 'परिकर' कहा जाता है, विष्वकसेन, गरुड आदि इसी प्रकार के नित्य जीव है।

मुक्त – जो जीव पहले बधन मे थे और जिन्होने अपने प्रयत्न तथा ईश्वर की कृपा से मोक्ष प्राप्त कर लिया है वे मुक्त जीव कहलाते हैं। ये जीव उपासना एव भक्ति के द्वारा ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त कर लेते हैं। मुक्त जीव भगवान् के साथ तदाकार हो जाते हैं।[2]

बद्धजीव– अभी भी बन्धन मे पडे हैं और निरन्तर जन्म–मरण के चक्र मे घूम रहे है। इन जीवो का सासारिक जीवन अभी समाप्त नहीं हुआ है। बद्ध जीवो के भी चार भेद हैं–

१– स्वर्गीय या अतिमानव २– मानव ३– पशु ४– स्थावर।

चूँकि रामानुज आत्मा की अनेकता के सन्दर्भ मे केवल सख्यात्मक भेद स्वीकार करते है, गुणात्मक नहीं, अत उनका मानना हैं कि बद्ध आत्मा के चारो भेद केवल बन्धन की ही अवस्था मे रहते है, मोक्ष की अवस्था मे नहीं। मोक्ष की अवस्था मे जीवात्माये गुणात्मक भेद से रहित होकर समान रूप से ब्रह्मानन्द का उपभोग करते है।

---

[1] न च परमपुरुषस्सत्यसकल्पोऽत्यर्थप्रिय ज्ञानिन लब्ध्वा कदाचिदावर्तयिष्यति। – श्री भाष्य ४/४/२२

[2] अतो मुक्तस्य सत्यसकल्प परमपुरुषसाम्य च जगद्व्यापारवर्जनम्। –श्री भाष्य ४/४/२०

रामानुज का मानना है कि मोक्ष की अवस्था मे जीवात्मा का ब्रह्म मे लोप सभव नही है, क्योकि ब्रह्म एव जीव परस्पर भिन्न सत्ताये है। मुक्त जीव परमात्मा के साथ साधर्म्य प्राप्त करता है न कि परमात्मा हो जाता है। जीव मुक्त होकर परमात्मा की भॉति ही आनन्द का उपभोग करता है।

जड तत्त्व को अचित् कहा गया है। यह तीन प्रकार का होता है– शुद्ध सत्त्व, मिश्र सत्त्व एव सत्त्व शून्य। मिश्र सत्त्व या प्रकृति को भगवान् अपनी देह से प्रकट करते है यह भगवान् की लीला है। इसी कारण सृष्टि को भगवान् की लीला कहा गया । प्रकृति का निर्माण सत्त्व रजस् एव तमस् से हुआ है। रामानुज प्रकृति को अचेतन मानते है। उनके अनुसार सृष्टि ब्रह्म का परिणाम है।

ईश्वर चित् तथा अचित् मे अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध है। ईश्वर चित् एव अचित् से पृथक् नहीं हो सकता है और न ही चित् तथा अचित् ईश्वर से पृथक् हो सकते हैं। किन्तु चित् एव अचित् का सम्बन्ध इस प्रकार का नहीं है। जीव देह से पृथक् रह सकता है। चित् का अचित् से सम्बन्ध ईश्वरेच्छा तथा कर्म के कारण है।

<u>**बन्धन-**</u> रामानुज ने जीव के बधन का कारण उसके शरीर धारण करने को माना है और उसका शरीर धारण स्वय के कर्मो का परिणाम है। अत रामानुज के अनुसार बन्धन का मूल कारण कर्म है। तब यहॉ प्रश्न उपस्थित होता है कि स्वभाव से मुक्त आत्मा कर्मो मे कैसे फॅस जाता है। रामानुज के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर दिया जाना सभव नहीं है। कर्मो का आत्मा के साथ सम्बन्ध अनादिकाल से है। मानवीय बुद्धि मे इतनी सामर्थ्य नही है कि वह जान सके कि सर्वप्रथम कब एव कैसे आत्मा कर्मो से दूषित हुआ ? रामानुज बन्धन को सत्य मानते है। उनका मानना है कि यदि बन्धन सत्य न होता तो कोई उसे दूर कर मोक्ष प्राप्त करने का प्रयत्न ही न करता । व्यवहार मे भी यह नहीं देखने को मिलता है कि कोई चीज मिथ्या हो और व्यक्ति उसे दूर करने का प्रयत्न करे। अत बन्धन सत्य है।

आत्मा का अध पतन कर्म एव अविद्या के कारण होता ह आर इन्ही कारण स उसे शरीर धारण करना पडता है। जीवो का प्रकृति से सम्पर्क होन के कारण उनकी अवनति होती है। कर्म के कारण जीव का देह, प्राण, इन्द्रिय, अन्त करण आदि से सम्बन्ध होता है, जो उसके बन्धन का कारण है। यदि प्रकृति के विकारभूत शरीर, मन, इन्द्रिय, अन्त करण आदि का चित् के साथ एकाकार न किया जाये दूसरे शब्दो मे शरीर को आत्मा न समझा जाये तो ससार से होने वाले अनेको कष्ट स्वत ही नष्ट हो जायेगे। चूँकि देहात्मक–भ्रम बधन का कारण है, इसलिये यदि जगत के वास्तविक स्वरूप को भली–भॉति समझ एव जान लिया जाये तो बन्धन की समाप्ति हो जाती है। जब जीव का शरीर के साथ तादात्म्य स्थापित होता है तब उसमे प्रकृति जन्य अहकार की उत्पत्ति होती है जो उसके ज्ञान–स्वरूप को सकुचित कर देती है और जीव बधन मे पड जाता है। अहकार शून्य जीवात्मा शुद्ध चेतन सत्ता है जो ससार मे लिप्त नहीं होता है।

अविद्या के कारण जीव मे चार प्रकार की भ्रान्ति उत्पन्न होती है– भ्रम, प्रसाद, करूणापाटवत्व और विप्रलिप्सा। यह भ्रान्ति केवल जीव मे ही विद्यमान रहती है और ब्रह्म मे इसका अध्यास नही होता है। जीव मे भ्रम का यह अध्यास तीन प्रकार से है– स्वरूपाध्याय, ससर्गाध्यास एव अन्योन्याध्यास। किसी पदार्थ मे अन्य पदार्थ के ज्ञान को अध्यास कहते है। ये तीनो अध्यास जीव को भ्रष्ट करने वाले हैं। यह भ्रॉति का स्वरूप है। स्वरूपाध्यास मे जीवो मे ब्रह्म की भावना होती है जबकि ससर्गाध्यास से जीव कभी ज्ञानी तो कभी अज्ञानी सा होकर रहता है। अनात्मा में आत्मा का अध्यास तथा आत्मा मे अनात्मा का जो अध्यास होता है उसे अन्योन्याध्यास कहते हैं। यह अध्यास निकृष्टतम है। जीव चेतन, अणुरूप, ज्ञानरूप और तमोरूप है तथा अविद्या जड–रूप, दु खरूप, परिणामी, आवरणात्मक तथा तमोरूप है। अविद्या अपने गुणो से जीव को ढक देती है। जिस प्रकार सूर्य को मेघ आच्छादित कर देते हैं ठीक उसी प्रकार अविद्या भी जीव को अपने गुणो से आच्छादित कर देती है। अविद्या के कारण ही जीव अपने स्वाभाविक गुणो को विस्मृत करके मायिक गुणो को ग्रहण करके स्वय को दु खी–सुखी, कर्त्ता एव भोक्ता

आदि समझने लगता है। इस प्रकार जड का धर्म चतन म ओर चतन का धर्म जड म परिवर्तित हो जाता है, जिससे प्रपच की रचना होती है।[1]

मोक्ष– रामानुज कर्म एव अविद्या को बन्धन का कारण मानते है। अत मोक्ष के लिय जीव को कर्म–मल को सर्वथा नष्ट करना आवश्यक है। कर्म तीन प्रकार के होते है– सचित कर्म, प्रारब्ध कर्म एव क्रियमाण कर्म। पूर्वकाल के वे कर्म जो जमा है सचित कर्म कहलाते हैं। पूर्वकाल के वे कर्म जिनका फलभोग हो रहा है प्रारब्ध कर्म कहलाते है तथा जो नये कर्म इस जन्म मे जमा हो रहे हैं वे क्रियमाण या सन्चीयमान कर्म कहलाते है।

रामानुज का मानना है कि मोक्ष का साधन भक्ति है। इसके अगरूप मे कर्म, ज्ञान एव ध्यान योग हैं। कर्म योग से सत्त्वशुद्धि होती है। सत्त्वशुद्धि से ज्ञानोदय होता है और तदनन्तर भक्ति का उदय होता है। जीव द्वारा अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करते ही, उसके सभी सचित कर्मो का नाश हो जाता है और सन्चीयमान कर्म उसको बॉध नहीं पाते क्योकि जीव को यह ज्ञान हो गया है कि वस्ततु वह कर्त्ता नहीं है बल्कि ईश्वर का केवल एक निमित्त मात्र है और उसके शरीर के माध्यम से वास्तव मे ईश्वर द्वारा कार्य किया जा रहा है। जल मे रहते हुये भी जैसे कमल भीगता नहीं है ठीक उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष कर्मो को करते हुये भी उनमे लिप्त नहीं होता है। ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी प्रारब्ध कर्मो का नाश नहीं होता है। उन्हे केवल भोगकर समाप्त किया जा सकता है। प्रारब्ध कर्मों का नाश एक जन्म मे भी हो सकता है और एक से अधिक जन्मो मे भी। रामानुज का मानना है कि ब्रह्म ज्ञानी जब तक शरीर को धारण किये रहता है तब तक उसे नित्य एव बाध्यकारी कर्मो को करते रहना चाहिये। उन्हे न करने पर वे प्रत्यवाय (आवश्यक कर्मो को न करने के परिणामस्वरूप लगने वाला पाप) को उत्पन्न करेगे। ऐसी स्थिति मे प्रत्ययवाय को भोग द्वारा समाप्त करने के लिए एक और जन्म की आवश्यकता होगी। उस जन्म के प्रत्यवाय को समाप्त करने के लिए पुन एक जन्म की आवश्यकता पडेगी और यह सिलसिला अनन्त जन्मो तक जारी रहने के कारण मोक्ष की प्राप्ति असभव हो जायेगी।

---

[1] भारतीय दर्शन – वाचस्पति गैरोला पृ० ४०२, ४०३ से उद्धृत

रामानुज मोक्ष के साधन के रूप मे कर्म, ज्ञान एव भक्ति तीनो का मूल्य स्वीकार करते है। इनके अतिरिक्त मोक्ष के साधन के रूप मे प्रपत्ति अर्थात ईश्वर को पूर्ण आत्म–समर्पण को भी स्वीकार करते है। रामानुज के अनुसार कर्मयाग (स्वय की शुद्धि), ज्ञान योग(स्वय को जानना अथवा आत्म साक्षात्कार) एव भक्तियोग (सर्वत्र ईश्वर को ही देखना) साधक के क्रमिक आध्यात्मिक विकास के भिन्न–भिन्न सोपान है।

प्रत्येक मोक्ष की इच्छा रखने वाले साधक को वेद मे वर्णित नित्य एव नैमित्तिक कर्मो का पालन करना चाहिये। उसे निष्काम भाव से ही स्वधर्मो का पालन करना चाहिये। सकाम भाव से किये गये कर्म ही आत्मा के बन्धन का कारण होते है जबकि निष्काम भाव से किये गये कर्म आत्मा को बन्धन मे नहीं डालते हैं। साधक निष्कामभाव से कोई कर्म तभी कर सकता है जब वह स्वय को ईश्वर का निमित्त समझकर अपने समस्त कर्मो का फल उन्हे समर्पित कर दे। जहाँ तक इन कर्मो की विधि का सम्बन्ध है, रामानुज मीमासा–दर्शन के अध्ययन का आदेश देते हैं। मुमुक्षु को मीमासा दर्शन का अध्ययन कर लेने के उपरान्त वेदान्त का भी अध्ययन करना चाहिये। रामानुज के अनुसार केवल कर्म मोक्ष प्राप्ति के लिये पर्याप्त नहीं है, फिर भी यदि उन्हे निष्कामभाव से किया जाये तो वे चित्त की शुद्धि करके ज्ञान के उदय के लिये आधार का कार्य करते है। वास्तविक ज्ञान का उदय केवल शुद्ध चित्त मे ही सम्भव होता है। साधक जब सुख–दु ख, जय–पराजय आदि को समान रूप से ग्रहण करता है तब वह कर्मयोगी बन जाता है। कर्मयोगी अपने को ईश्वर का एक विनम्र सेवक समझता है। रामानुज इसे 'कैंकर्य की अवस्था' कहते हैं।

अगला क्रमिक सोपान है ज्ञानयोग। कर्मयोग ही ज्ञानयोग की ओर ले जाता है। ज्ञानयोग अपने सच्चे स्वरूप को जानने या आत्मसाक्षात्कार का मार्ग है। ज्ञानयोग ज्ञानेन्द्रियो और मन को बाह्य पदार्थो से बलपूर्वक खींचकर आत्मा पर केन्द्रित करने का मार्ग है। तत्त्व ज्ञान द्वारा जीवात्मा को अपने शुद्ध स्वरूप का बोध हो जाता है। वह अपने को ईश्वर का अश तथा ईश्वर को अपना अन्तर्यामी नियामक आत्मा मानकर अपने

कर्मो को ईश्वर की आराधना के रूप मे सम्पादित करता है। ज्ञानमार्ग साधक को तत्त्वत्रय एव उनके आपसी सम्बन्ध का वास्तविक ज्ञान कराता है। यह ज्ञान उसके अहकार को समाप्त कर देता है और उसका स्थान 'हरि इच्छा' ले लेती है। उसके सभी कार्य कैंकर्य मे रूपातरित हो जाते है और वह क्रमश यह अनुभव करने लगता है कि वह अपने कर्मो के द्वारा ईश्वर की पूजा कर रहा है। अपने कर्मो को करने मे उसे ईश्वर भक्ति के समान आनन्द आता है।

रामानुज पूर्वमीमासा एव उत्तरमीमासा को अलग–अलग शास्त्रो के रूप मे स्वीकार नहीं करते। उनका मानना है कि वेदो के कर्मकाण्ड एव ज्ञानकाण्ड मे एक शास्त्रिक एकता है। ये दोनो किसी एक ग्रन्थ के दो अध्यायो के समान हैं। रामानुज के अनुसार सम्पूर्ण मीमासा शास्त्र मीमासा सूत्र के प्रथम सूत्र 'अथातो धर्म जिज्ञासा' से प्रारम्भ होता है और उसकी समाप्ति ब्रह्मसूत्र के अन्तिम सूत्र "अनावृत्ति शब्दादनावृत्ति शब्दात्" से होती है। रामानुज का मानना है कि साधक मे ब्रह्म के स्वरूप मे जिज्ञासा निश्चित रूप से केवल तभी आती है जब वह अपने आपको कर्मो मे पूर्ण बना लेता है तथा यह ज्ञान प्राप्त कर लेता है कि कर्मो के फल अनित्य एव सीमित होते हैं, जबकि ब्रह्म ज्ञान का फल नित्य है। अत साधक को कर्मकाण्ड द्वारा निर्धारित नित्य एव बाध्यकारी कर्मो का परित्याग नहीं करना चाहिये बल्कि शरीर के पतन पर्यन्त इन कर्मो को करते रहना चाहिये।

रामानुज के अनुसार ज्ञान योग की अवस्था खतरे से मुक्त नहीं है क्योकि यह एक शान्त अवस्था है। मुमुक्षु के आत्मपरक बनने की सभावना बनी रहती है और हो सकता है कि उसका 'एकान्त के गड्ढे मे पतन हो जाय।' ज्ञान योग नहीं बल्कि भक्ति योग साधना के मार्ग की सर्वोच्च अवस्था है, जो ज्ञान–योग के बाद आती है। रामानुजाचार्य के अनुसार–ब्रह्मलोक की प्राप्ति का साधन ईश्वर की उपासना है। जब अपनी उपासना से ईश्वर प्रसन्न हो जाता है तब वह दया करके प्राणियो को अपना लोक प्रदान करता है। यहाँ पर जीव बन्धनो से रहित होकर परमात्मा के भोगो का उपभोग करता है। उपासना के दो प्रकार है–प्रपत्ति एव भक्ति। प्रपत्ति है पूर्णतया

आत्मसमर्पण। स्वय को पूर्णरूपेण ईश्वर को समर्पित कर देना ही प्रपत्ति मार्ग है। इसे 'शरणागति' मार्ग भी कहते है। सामान्य मनुष्यो के लिए यही मार्ग श्रेयस्कर है। यह मार्ग वर्ण, जाति, लिग आदि की अपेक्षा न रखता हुआ सभी के लिए उन्मुक्त है। इस मार्ग पर चलने के लिये इस बात की आवश्यकता है कि ईश्वर की अगाध करुणा शक्ति म चरम–विश्वास करके अपने आपको ईश्वर के भरोसे छोड देना कि ईश्वर हमारे सभी पापो को क्षमाकर हमे मोक्ष प्रदान कर देगा।

प्रपत्ति के छ अग बताये गये हैं– आनुकूल्य सकल्प (ईश्वरेच्छा का पालन), प्रतिकूल्य वर्जन (ईश्वर को जो अप्रिय हो उसका त्याग), महाविश्वास (ईश्वर मे अटूट विश्वास), कार्पण्य (ज्ञान, कर्म एव भक्ति करने की असमर्थता का भावोदय), गोप्तृत्ववरण (भगवान् को पाना) एव आत्मनिक्षेप (भगवान् के प्रति समर्पण)।[1] इन छ अगो से स्पष्ट है कि भक्ति का बीज वास्तव मे भगवान् की अहैतुकी कृपा है। इस कृपा के बिना भक्ति असभव है। वस्तुत प्रपत्ति ही भक्ति की पराकाष्ठा है। कहीं–कहीं पर भक्ति योग के लिए 'साधन सप्तक' को आवश्यक बताया गया है। वस्तुत साधन सप्तक कर्म योग से पोषित ज्ञान योग है जिससे ईश्वर भक्ति उत्पन्न होती है। साधन सप्तक हैं–

१ विवेक– सात्विक भोजन से कायशुद्धि।

२ विमोक– काम, क्रोधादि से मुक्त होना।

३ अभ्यास– अन्तर्यामी ईश्वर का सतत् अनुशीलन।

४ क्रिया– कर्तव्यपालन।

५ कल्याण– सत्य, अहिंसा और दनादिका पालन।

६ अनवसाद– दु ख निराशादि से रहित होना।

७ अनुद्धर्ष– अतिसन्तोष और असतोष के मध्य की वृत्ति रखना।

---

[1] आनुकूल्यस्य सकल्प प्रातिकूल्यश्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरण तथा।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागति ।।

रामानुज ने भक्ति शब्द का प्रयोग दो प्रकार की भक्ति के लिये किया गया है। जिन्हे हम सुविधा के लिये निम्न एव उच्च भक्ति कह सकते है। निम्न भक्ति उपासना अथवा ध्यान है जबकि उच्चभक्ति ईश्वर के अपरोक्ष स्वरूप का ज्ञान है। ईश्वर का निरन्तर प्रेमपूर्वक ध्यान करना निम्न भक्ति है। इसमे स्नेहपूर्वक बारम्बार ईश्वर का स्मरण किया जाता है। उच्च भक्ति एक विशेष प्रकार का ज्ञान है जिसमे साधक ऐसी सभी वस्तुओ का भूल जाना चाहता है जो प्रियतम ईश्वर के लिये न हो। साधक को ईश्वर और अपने सच्चे सम्बन्ध का ज्ञान अर्थात् ईश्वर के विशाल शरीर मे स्वय की स्थिति का ज्ञान प्राप्त हो जाता है और सच्चा भक्त उच्च कोटि का ज्ञानी भी होता है। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि रामानुज भक्ति के मूल अर्थ जो कि विशुद्ध रूप से एक भाव है, पर स्थिर नहीं रहते। वे भक्ति मे ध्यान एव ज्ञान को भी समाविष्ट कर लेते है। रामानुज के अनुसार यद्यपि समस्त जीवमात्र ही ईश्वर को समान रूप से प्रिय हैं, तथापि सर्वतोभावेन ईश्वर मे शरणागत जीव केवल उसी पर आश्रित होने के कारण उसे अत्याधिक प्रिय होते हैं। अत भक्ति की सिद्धि भी शरणागति के माध्यम से ही हो पाती है।

रामानुज का मानना है कि मोक्ष केवल अपने प्रयत्नो से ही नहीं प्राप्त हो सकता है बल्कि मोक्ष–प्राप्ति के लिये ईश्वर की कृपा भी सहायक होती है। अन्य वेदान्तियो की भाँति रामानुज भी जीव के मोक्ष मे गुरु का महत्त्व स्वीकार करते हैं। गुरु के द्वारा ही जीव ब्रह्म की ओर ले जाया जाता है। गुरु ही साधक को 'तत्त्वमसि' का उपदेश देते है। रामानुज के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति मृत्यु के उपरान्त ही सभव है। उनका मानना है कि जब तक शरीर विद्यमान है जीव मुक्त नहीं हो सकता है। इस प्रकार रामानुज विदेह मुक्ति को स्वीकार करते हैं।

शरीर का पतन होने के साथ ही ब्रह्म ज्ञानी की वाक् शक्ति मन मे लय हो जाती है, फिर क्रमश सभी ज्ञानेन्द्रियो की शक्तियो का लय मन मे हो जाता है। इस अवस्था तक ब्रह्म ज्ञानी और अज्ञानी का शरीर से अपसरण एक समान है। इसके बाद ब्रह्मवेत्ता का आत्मा सुषुम्ना नाडी से होता हुआ शरीर का परित्याग करता है और देवयान मार्ग

को अपनाता है, इसके विपरीत अज्ञानी का आत्मा किसी अन्य नाडी क द्वारा शरीर का परित्याग करता है और पुर्नजन्म को प्राप्त होता है। इसक पश्चात ब्रह्मज्ञानी की ब्रह्मलोक की आध्यात्मिक यात्रा का आरम्भ होता है। देवयान के विभिन्न सोपान जिनसे मुक्त आत्मा यात्रा करता है, इस प्रकार है– वह सर्वप्रथम अर्चि (ज्योति, अग्नि अथवा सूर्य किरण) को प्राप्त होता है। अर्चि से दिन को, दिन से शुक्ल पक्ष को, शुक्ल पक्ष से उत्तरायण के छ महीनो को, छ महीने से सवत्सर को प्राप्त होता है। इसके पश्चात् देवलोक प्रारम्भ होता है। मुक्त पुरुष की आत्मा वायु लोक को, वायुलोक से सूर्य लोक को, सूर्यलोक से चन्द्रमा को, चन्द्रमलोक से द्युलोक को, द्युलोक से वरुण लोक को, वरुण लोक से इन्द्रलोक को, इन्द्रलोक से प्रजापति लोक को और अन्त मे ब्रह्म लोक को प्राप्त होता है।

एक बार ब्रह्म लोक पहुँच जाने पर मुक्त आत्मा को वहॉ से लौटना नहीं पडता है। ब्रह्मलोक मे आत्मा चार प्रकार के भोगो को भोगता है। सालोक्य (भगवद्धाम मे रहना) सामीप्य (ईश्वर के समीप रहना) सारूप्य (भगवान् के समान रूप का भोग) सायुज्य (इस अवस्था मे आत्मा ब्रह्म के शरीर मे प्रवेश कर जाता है और उससे ऐक्य स्थापित करता है।) परन्तु मुक्ति की इस सर्वोच्च अवस्था मे भी मुक्त आत्मा अपनी वैयक्तिक्ता का कायम रखता है। मुक्ति की अवस्था मे जीव स्वय नहीं समाप्त हो जाता बल्कि उसका पृथक्त्व भाव ही समाप्त हो जाता है। रामानुज का मानना है कि यदि भक्त की वैयक्तिकता समाप्त हो गयी तो भक्ति कौन करेगा ? इसी कारण वैष्णव वेदान्तियो का मानना है कि मोक्ष का विरोध वैयक्तिकता से न होकर अहकार से है। मोक्ष द्वारा आत्मा नहीं विनष्ट होता बल्कि ससीमता नष्ट होती है। मोक्ष प्राप्त करके वह ब्रह्म की ओर लौटता है। इस अवस्था मे जीव अपने वास्तविक स्वरूप के ज्ञान के साथ अपने और ब्रह्म के इस वास्तविक सम्बन्ध का भी ज्ञान प्राप्त कर लेता है कि दोनो के बीच विशिष्ट प्रकार का अद्वैत सम्बन्ध है।

अन्य वैष्णव वेदान्त- माध्व, निम्बार्क एवं वल्लभ

(१) माध्व-दर्शन, द्वैतवेदान्त

माध्व–दर्शन द्वैतवादी है। अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप मध्वाचार्य ने द्वैतवाद की स्थापना की। मध्वाचार्य को 'आनन्दतीर्थ' एव 'पूर्णबोध' या 'पूर्णप्रज्ञ' भी कहा जाता है। इन्होने अपने द्वैतमत का प्रचार भारत के प्रमुख तीर्थस्थलो मे घूम–घूम कर किया। इनके लगभग ३७ ग्रन्थ हैं। इन्होने ब्रह्मसूत्र भाष्य, गीताभाष्य, अनुव्याख्यान, भागवत तात्पर्य निर्णय, तत्त्वद्योत तथा छान्दोग्य, कठ व केन आदि उपनिषदो पर भाष्य की रचना की।

आचार्य शकर के अद्वैतवाद के विपरीत मध्वाचार्य का मानना है कि जीव एव जगत् भी सत्य है। माध्व के अनुसार ईश्वर या विष्णु ही परमतत्त्व हैं। जीव एव ईश्वर मे भेद को मानकर मध्वाचार्य द्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं। जीवात्माए ईश्वर की सेवक है एव श्रेष्ठता मे उनमे गुणात्मक भेद है। मध्वाचार्य के अनुसार कुल तीन नित्य द्रव्यो ईश्वर, आत्मा और प्रकृति या जगत् का अस्तित्व है। तीनो द्रव्यों मे से केवल ईश्वर ही स्वतन्त्र सत्य है तथा जगत् एव आत्मा अपनी सत्ता के लिये ईश्वर पर निर्भर हैं। अत आत्मा व जगत् परतन्त्र सत्य हैं।

जीवात्मा ईश्वर एव जड पदार्थो से भिन्न, अणुरूप, अनेक, नित्य, कर्त्ता एव भोक्ता तथा जन्म–मरण वाला होता है, जबकि परमात्मा अनत गुणो से पूर्ण, सर्वशक्तिमान एव स्वतन्त्र है। जीवात्मा अवयव रहित तत्त्व है जो शरीर के सयोग एव वियोग से जन्म तथा मृत्यु को प्राप्त होता है। जीव स्वरूपत ज्ञान सम्पन्न होता है, परन्तु धर्म एव अधर्म के कारण इसका ज्ञान सम्पन्नत्व छिप जाता है। ईश्वर के अधीन होने पर भी धर्म एव अधर्म के सचय मे जीव स्वतन्त्र होता है इस सम्बन्ध मे मध्व वेदान्त के अनुयायियो मे मतभेद है। कुछ मध्व अनुयायियो का मानना है कि यदि कर्तृत्व–भोक्तृत्व,ज्ञातृत्व आदि को जीवात्मा का धर्म मान लिया जाये तो वह अवश्य ही अज्ञान का आश्रय हो जायेगा।

इसी कारण माध्व वेदान्तियो का मानना है कि जीव का कर्म एव उसकी स्वतन्त्रता परमात्मा या ईश्वर के अधीन है। पूर्ण स्वतन्त्र सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान ईश्वर ही जीवो के अर्न्तयामी के रूप मे उनसे सब कुछ करवाता है। अत अविद्या आदि से मुक्ति के लिये ईश्वर की कृपा का होना आवश्यक है। सुख एव दुख का अनुभव करने वाला जीवात्मा ईश्वर की कृपा का होना आवश्यक है। सुख एव दुख का अनुभव करने वाला जीवात्मा ईश्वर से भिन्न होता है, परन्तु होता उसका अश ही है। जीव स्वरूपत चैतन्य गुण से युक्त है एव भूतो से सम्पर्क होने पर प्रकट हो जाता है। वह ज्ञाता, ज्ञान एव आनन्दस्वरूप भी है। जीव के सभी स्वरूपगत गुण अविद्या के द्वारा आच्छन्न रहते हैं। यद्यपि जीव के ये गुण ईश्वर के समान हैं, परन्तु दोनो भिन्न तत्त्व हैं। मध्वाचार्य के अनुसार–उपाधि की उत्पत्ति एव सम्पर्क के कारण जीव एक विशिष्ट रूप मे आविर्भूत होकर सूक्ष्म एव स्थूल शरीर को धारण करता है। जीव की दो उपाधियॉ है। स्वरूपोपाधि[1] एव बाह्योपाधि।[2] स्वरूपोपाधि जीव से भिन्न नहीं है, किन्तु बाह्य उपाधियॉ मनस् एव सूक्ष्म और स्थूल शरीर हैं। स्वरूपोपाधि के कारण ही जीव का ईश्वर से भेद सभव हो पाता है। यह जीव की अपनी निजी विशेषता है। जीव ईश्वर का अश भी है, जिसे मध्व प्रतिबिम्बवाद पर आधारित मानते है। प्रतिबिम्ब दो प्रकार का है– सोपाधिक और अनुपाधिक। जीव ब्रह्म का अनुपाधिक प्रतिबिम्ब है, जो प्रत्येक अवस्था मे जीव एव ईश्वर के भेद को सुनिश्चित रखता है। मध्व के अनुसार जीव एव ईश्वर मे भेद सुनिश्चित है। जीव को अविद्या का आश्रय माना गया है। यह अविद्या ज्ञान का निषेध परन्तु भाव रूप है। अविद्या के चार प्रकार हैं– जीवाच्छादिका, परमाच्छादिका, शैवला एव माया। जीवाच्छादिका अविद्या जीव के चैतन्य एव आनन्द स्वरूप का आवरण करती है।

---

[1] तत्सम्बन्धित्वमेव तदशत्वमितिवक्ष्याम। — मध्वाचार्य तत्त्व प्रकाशिका पृष्ठ–१२१

[2] जीवोपाधिर्द्विविधा स्वरूप ब्राह्य एव च। बाह्योपाधिर्लय याति मुक्तावन्यस्य तु स्थिति। तथोपाधेश्च् नित्यत्वान्नैव जीवो विनश्यति। — वही पृष्ठ–११९

परमाच्छादिका अविद्या जीव को परमात्मा का स्वरूप जानने से रोकती है। शैवला जगत के बन्धन मे जीव को बॉधती है एव माया मायिक कार्यो की सृष्टि करती है।

मध्वाचार्य ने जीव के तीन प्रकार– मुक्ति योग्य, नित्यससारी, और तमोयोग्य माना है। मुक्ति योग्य जीव के पॉच प्रकार देव, ऋषि, पितृ, चक्रवर्ती, मनुष्योत्तम होते है। ये मुक्ति प्राप्त करने के योग्य हैं। चतुर्गुणोपासक तथा एकगुणोपासक के भेद से तमोयोग्य जीव दो प्रकार के हैं। उपासना के द्वारा कोई–कोई इसी शरीर मे रहते ही मुक्ति पाते है। पुन इनके चार प्रकार दैत्य, राक्षस, पिशाच तथा अधम है। ऐसे जीव अनतकाल तक अन्धकार मे पडे रहेगे। नित्य ससारी जीव सदैव सुख एव दुख भोगते हुये अनतकाल तक जीवन चक्र मे फॅसे रहेगे। ये जीव राजसिक प्रकृति के है । इस कोटि के जीव मध्यम मनुष्य कहे जाते है।

मध्व के अनुसार पॉच प्रकार के भेद पाये जाते हैं–

१ ईश्वर एव जीवात्माओ के बीच भेद।

२ ईश्वर एव जड पदार्थो के बीच भेद।

३ जीवात्मा एव जड पदार्थो के बीच भेद।

४ दो आत्माओ के बीच परस्पर आपसी भेद।

५ दो जड पदार्थो के बीच परस्पर आपसी भेद पाया जाता है।

मध्वाचार्य ने जीव को ही कर्त्ता एव भोक्ता माना है। बन्धन की अवस्था मे ही नही अपितु मोक्षावस्था मे भी कर्तृत्व एव भोक्तृत्व विद्यमान रहता है। जीव का यह कर्तृत्व एव भोक्तृत्व ईश्वर की इच्छा पर निर्भर करता है। इस तथ्य को न जानना अविद्या है जिसके कारण मनुष्य बन्धन मे पडता है। कर्म एव प्रकृति आदि गौण रूप से ही बन्धन का कारण है। मध्वाचार्य का मानना है कि कर्म, अविद्या, प्रकृति आदि अचेतन एव सादि होने के कारण बिना ईश्वरेच्छा के जीव को बन्धन मे डालने मे असमर्थ हैं। यह ईश्वरेच्छा ही मानव बन्धन का अन्तिम कारण है।

माध्वाचार्य के अनुसार शास्त्रो मे स्पष्ट रूप से पॅच प्रकार के बन्धना की चर्चा की गयी है– अविद्याबन्ध, लिगदेहबन्ध, परमाच्छादकबन्ध, कर्मबन्ध एव कामबध। मध्व का मत है कि जीवात्मा का बन्धन सत्य है न कि काल्पनिक या मिथ्या, इसलिय यह आवश्यक है कि ब्रह्म के स्वरूप की जिज्ञासा केवल किसी सत्य एव भावात्मक पदार्थ के विनाश के लिये ही की जाए। व्यवहार मे भी यह देखा जाता है कि किसी मिथ्या पदार्थ को नाश करने के लिये प्रयत्न नहीं किया जाता है। अत यदि मनुष्य का बन्धन काल्पनिक होता तो शास्त्रो मे उसे दूर करने या मोक्ष प्राप्ति का आदेश कदापि न दिया जाता।

मोक्ष प्राप्ति के मार्ग-

मध्वाचार्य के अनुसार श्रवण, मनन एव ध्यान के साथ ही साथ तारतम्य परिज्ञान तथा पञ्चभेद का ज्ञान होना आवश्यक है। जगत् के सभी पदार्थ एक–दूसरे से बढकर हैं एव ज्ञान सुखादि का अवसान भगवान् मे ही होता है। यही तारतम्य ज्ञान है। पॉच प्रकार के भेद का वर्णन हम प्रस्तुत अध्याय मे कर चुके हैं। इन पचभेदो का परिज्ञान भी मुक्ति–साधक है। श्रवण, मन, निदिध्यासन के अतिरिक्त भक्ति ज्ञान का विशेष महत्त्व मध्वाचार्य ने स्वीकार किया है।[1] ब्रह्म की अनन्तता तथा उसकी अपेक्षा अपनी लघुता तथा ब्रह्म पर अपनी निर्भरता का ज्ञान–जीव के प्रयत्नो से मोक्ष के सन्दर्भ मे इतना ही प्राप्तव्य है। परन्तु इतने से ही मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। अपरोक्ष ज्ञान के साथ ही साथ ईश्वर की कृपा भी आवश्यक है। मानव बन्धन के मूल मे ईश्वर की इच्छा होने के कारण ईश्वर की कृपा से ही पॉचो प्रकार के बन्धन नष्ट हो जाते हैं और आत्मा शरीर का त्याग करके प्रकाश के मार्ग (देवयान) से ब्रह्म तक पहुँच जाती है।

मध्वाचार्य का मानना है कि ईश्वर के प्रति हृदय की आसक्ति ही भक्ति है, परन्तु यह आसक्ति ज्ञान रहित नहीं है। इसको स्पष्ट करते हुये उनका कहना है कि भक्ति ऐसी आसक्ति है जो पूर्ण ज्ञान एव पक्के विश्वास के बाद ही उत्पन्न होती है, कि इस

---

[1] माहात्म्यज्ञानपूर्वक स्नेहो हि भक्ति – तत्त्वप्रकाशिका, अणु ३/२/१

ससार मे ईश्वर ही सर्वोत्तम वस्तु है।[1] भक्ति ईश्वर के प्रति अचल एव अडिग प्रेम ह जो सासरिक प्रेम के सभी बन्धनो से ऊपर है तथा ईश्वर के महान वैभव एव पूर्ण ज्ञान के दृढ विश्वास पर आधारित है। मध्व का मानना है कि प्रत्येक जीव म भक्ति के विकास की एक विशिष्ट सामर्थ्य होती है और अपनी इस विशिष्ट सामर्थ्य को पूर्ण विकसित कर लेने पर ही जीव मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। हरि का स्मरण, कीर्तन, जप, अर्चन आदि अनेक साधन है, जो भक्ति द्वारा मोक्ष प्राप्ति के हेतु है।

मध्वाचार्य ने दो प्रकार की भक्ति को माना है– निम्न भक्ति एव उच्च भक्ति। निम्न भक्ति मोक्ष प्राप्त करने का सुरक्षित एव सरल साधन है तथा उच्च भक्ति स्वय मे मोक्ष है। जिस क्षण यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि ईश्वर अनन्त है एव उसकी तुलना मे जीव सीमित है। उसी क्षण भक्त का हृदय द्रवित हो जाता है। यही भक्ति का प्रारम्भ है जिस साधक किसी भी कीमत पर नहीं छोडना चाहता है।

मध्वाचार्य का मानना है कि जीवन मुक्ति सभव नहीं है ईश्वर की कृपा मे कुछ विलम्ब के कारण जीव को कुछ समय का तक शरीर धारण किये रहना पडता है। इस प्रकार के तत्त्वज्ञानी की यात्रा का अन्त निकट होने के कारण दिखलाई भी देने लगता है, किन्तु यह अवस्था मोक्षावस्था नहीं है। इस प्रकार की अवस्था को अद्वैत–वेदान्त मे जीवन–मुक्ति की अवस्था कहा गया है, किन्तु मध्व का मानना है कि मोक्ष की प्राप्ति होने मे अभी कुछ विलम्ब है। उनके अनुसार इस अवस्था मे समस्त पापो के नष्ट हो जाने पर केवल प्रारब्धकर्मो के फलो का भोग नष्ट करना शेष रहता है। इस अवस्था के कर्म बन्धन का कारण नही बनते और तब तत्त्वज्ञानी के लिये कुछ भी बाध्यकारी नहीं रहता । इस प्रकार के तत्त्वज्ञानी के मोक्ष मे केवल शरीर त्याग करने तक का विलम्ब शेष रहता है। प्रारब्ध कर्मो के फल का भोग करने के उपरान्त आत्मा शरीर से पृथक् होकर देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक पहुँच जाती है।

---

[1] मध्व मुण्डकोपनिषद् भाष्य –३/१/८

मोक्ष की चार उत्तरोत्तर सीढियॉ है। सर्वप्रथम अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होने पर पुण्य–पाप रूपी कर्मो का विनाश हो जाता है। फिर प्रारब्ध कर्मों का भोग द्वारा क्षय हो जाने पर ब्रह्मनाडी के द्वारा जीव का उत्क्रमण होता है। फिर अर्चिरादि–गमन–रूप तीसरी मुक्ति है तथा अन्त मे ब्रह्म लोक मे भोग भोगना चौथी मुक्ति है।

भोग भी सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य चार प्रकार का होता है।

१ सामीप्य मे जीव भगवद् धाम मे रहते हुये ईश्वर का दर्शन करता रहता है।

२ सामीप्य मे जीव को ईश्वर के सामीप्य का लाभ होता है।

३ सारूप्य मे जीव न केवल ईश्वर के समीप रहता है बल्कि ईश्वर का रूप भी हो जाता है।

४ सायुज्य मे जीव भगवान् के देह मे प्रवेश करके उन्हीं के शरीर द्वारा भोग करता है।

इसी का अवान्तर सार्ष्टि है जिसमे भगवान् के समान ऐश्वर्य का भोग होता है।

भगवान् के साथ एक हो जाने पर भी जीव का ईश्वर से अन्तर्भेद बना ही रहता है। जिस प्रकार एक जल दूसरे जल के साथ एकीभाव का प्राप्त करने मे अन्तर्भेद रखता है उसी प्रकार जीव का ईश्वर से अन्तर्भेद बना रहता है।

(२) निम्बार्क–द्वैताद्वैत

द्वैताद्वैतवाद के सस्थापक निम्बार्क तैलग ब्रह्मण थे। इन्हे निम्बादित्य, निम्बभास्कर नामो से भी जाना जाता है। निम्बार्काचार्य के अनुसार जीवात्मा, परमात्मा या ईश्वर तथा जड प्रकृति ये तीन तत्त्व हैं। जीव तथा प्रकृति ये दोनो परमात्मा के अधीन है एव परमात्मा के बिना इन दोनो की स्थिति नहीं हो सकती है। परमात्मा ओत–प्रोत–भाव से जड एव जीव मे वर्तमान है। ये एक प्रकार से अभेदवादी भी हैं क्योकि इनका मानना है कि परमात्मा से जीव व जगत् का इतना ही अन्तर है जितना कि समुद्र का उसकी तरग से।[1]

[1] वेदातपारिजात सौरभ – १/२/५/६, २/१/१३ से उदधृत

इनके प्रमुख ग्रन्थ है–वेदान्त पारिजात सौरभ, दशश्लोकी, श्रीकृष्णस्तवराज, जिसमे २५ श्लोको मे कृष्ण की स्तुति है। इनके अतिरिक्त वेदान्ततत्त्वबोध, मध्वमुखमर्दन वेदान्तसिद्धान्तप्रदीप अप्रकाशित ग्रन्थ भी इन्हीं की रचना मान जाते है।

निम्बार्क शकर के निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार नहीं करते उनके अनुसार ब्रह्म सगुण, सविशेष ईश्वर या परमात्मा है। उस परमात्मा की सत्ता समस्त जीव एव जगत् मे व्याप्त है। वह परमात्मा ही स्वय को अनन्त जड पदार्थो एव जीवो मे व्यक्त करता है, किन्तु इन रूपो मे स्वय को व्यक्त करता हुआ भी वह अपने आप को इनमे खो नहीं देता। उसकी स्वतत्रता, अखडता, और इन सबसे भिन्नता अक्षुण्ण ही बनी रहती है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार 'प्राण' ज्ञानेन्द्रियो और कर्मेन्द्रियो मे अपने आप को व्यक्त करता हुआ भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाये रखता है। चूँकि ब्रह्म अलौकिक है, इसी कारण उसका स्वरूप ही ऐसा है कि वह एक साथ ही विश्व के जड चेतन पदार्थो के तादात्म्य भी है और भिन्न भी। केवल ब्रह्म के परम सत्य होने के कारण जीव एव जगत् उसके अश तथा स्वरूप के भागी हैं इसीलिए वे अपनी सत्ता एव स्थिति ब्रह्म से ही प्राप्त करते हैं।

निम्बार्क जीव एव जगत् के ब्रह्म से भेदान्वित अभेद को प्रतिपादित करते है। जीव व जगत् के साथ ब्रह्म का भेद होते हुये भी उनमे आधारगत अभेद सम्बन्ध है। निम्बार्क के अनुसार चित् एव अचित् का ब्रह्म से भेद और अभेद समान रूप से सत्य एव स्वाभाविक है। इसी कारण निम्बार्क के वेदान्त को भेदाभेदवाद या स्वाभाविक भेदवाद कहते है। जीव एव ब्रह्म मे भेद एव अभेद दोनो को स्वीकार करने के कारण निम्बार्क भक्त एव ज्ञानी अथवा धर्म और दर्शन दोनो की आवश्यकताओ को पूरा कर सकते हैं। ज्ञानी केवल तभी सतुष्ट होता है, जब वह ब्रह्म से तादात्म्य या ऐक्य स्थापित कर लेता है, किन्तु भक्त ईश्वर की भक्ति मे इतना अधिक आनन्द प्राप्त करता है कि वह इसको (भक्ति) छोडकर ईश्वर से ऐक्य नहीं प्राप्त करना चाहता।

निम्बार्क मत मे चित्, अचित् तथा ईश्वर तीन पदार्थ माने गये हैं। चित् या जीवात्मा ज्ञान–स्वरूप है यह ज्ञानाश्रय भी है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सूर्य–प्रकाश

स्वरूप तथा प्रकाश का आश्रय है। जीव ईश्वर का अश होते हुये भी उससे भिन्न है। उसकी पृथक् सत्ता नही है, किन्तु उसका अपना अस्तित्व है इसलिये निम्बार्क ईश्वर जीव मे भेद तथा अभेद समान रूप से स्वीकार करते है। यह सर्वव्यापी न हाकर अणु है। जीव की व्यजना अह प्रतीति द्वारा होती है। इस विषय मे न किसी प्रमाण की अपेक्षा है और न भ्रान्ति की सभावना है। अह की प्रतीति जीव के द्योतक रूप मे सभी अवस्थाओ मे होती है। सुषुप्ति मे रहने के साथ ही साथ मुक्तावस्था मे भी यह लुप्त नहीं होती। यदि इसका लोप हो जाये तो आत्म–विलयन के रूप मे मोक्ष की कामना कौन करेगा और मोक्ष का परम पुरुषार्थ के रूप मे जो शास्त्रो मे वर्णन प्राप्त होता है, वह व्यर्थ सिद्ध हो जायेगा।

चूँकि अह की प्रतीति प्रति शरीर भिन्न–२ होती है, इसलिये जीवो की सख्या अनत है। जीव कर्त्ता, भोक्ता एव श्रोता है। यह प्रत्येक दशा मे कर्त्ता ही रहता है। ससारी दशा मे तो जीव का कर्तृत्व अनुभवगम्य है, किन्तु मुक्तावस्था मे जीव मे कर्तृत्व का होना श्रुति प्रतिपादित है। जिस प्रकार कमरे के एक कोने मे रखा दीपक सम्पूर्ण कमरे को आलोकित करता है ठीक उसी प्रकार अणु होने पर भी जीव समस्त शरीर के सुख–दु ख का अनुभव करता है। अणु होने पर भी गुणो के कारण जीव 'विभु' भी है, किन्तु इसमे सर्वगतत्व नहीं है। ईश्वर सर्वशक्तिमान होने के कारण अशी है, जबकि जीव उसका अशरूप है। रामानुज के विशिष्टाद्वैत और निम्बार्क के भेदाभेद मे यह अन्तर है कि रामानुज जीव एव जगत् का ब्रह्म से विशिष्ट प्रकार का अद्वैत सम्बन्ध स्वीकार करते हैं, जिसमे भेद गौण एव अभेद प्रमुख है, किन्तु निम्बार्क भेद एव अभेद दोनो को बराबर स्वीकार करते हैं। निम्बार्क के अनुसार अश अपने साकल्य से भिन्न एव अभिन्न दोनो है।

निम्बार्क के अनुसार जीव स्वतन्त्र नहीं है। वह अपने ज्ञान, कर्म, मोक्ष तथा बन्धन सभी के लिये ईश्वर पर निर्भर है। उस परमात्मा के अनुग्रह से सज्जन लोग जीवात्मा का ज्ञान प्राप्त करते हैं।[1] जीव अपने कर्मो का स्वय भोक्ता है।

---

[1] वेदान्त पारिजात सौरभ २/३/२३, २४

निम्बार्क के मत मे ब्रह्म की कल्पना सगुण रूप से की गयी है। वे उपनिषदों के ब्रह्म को कृष्ण या नारायण कहते है, जो कि सभी दिव्य गुणों का आश्रय है। वे इस जगत् का उपादान एव निमित्त कारण हैं। वे विश्व के कण–कण मे व्याप्त, सर्वव्यापी, सर्वनियन्ता व अनन्त शक्तियो से सम्पन्न हैं। इस जगत् की उत्पत्ति के पीछे ईश्वर की कोई अतृप्त इच्छा नही है। सम्पूर्ण जगत् व्यापार उसकी लीला है। ईश्वर और जगत् का सम्बन्ध सर्प एव उसकी कुण्डलावस्था का सम्बन्ध है। सर्प की कुण्डलावस्था न तो सर्प से पूरी तरह भिन्न है और न ही पूरी तरह अभिन्न है। जिस प्रकार कुण्डलावस्था सर्प से पृथक् अपनी सत्ता नही रख सकती ठीक उसी प्रकार जगत की भी ईश्वर से पृथक् सत्ता नही हो सकती।

निम्बार्क मत मे जीव के दो प्रकार हैं– बद्ध जीव एव मुक्त जीव। बद्ध जीव दो प्रकार के है– मुमुक्षु एव बुमुक्षु। मुमुक्षु जीव वे जीव हैं जिन्हे मोक्ष प्राप्ति की कामना है जबकि विषय आनन्द का इच्छुक जीव बुमुक्षु जीव कहलाता है। निम्बार्क का मानना है कि सुखो से विरक्ति एव मोक्ष प्राप्ति की इच्छा भी ईश्वर की कृपा का ही परिणाम है। मुक्त जीव के भी दो प्रकार हैं– नित्यमुक्त एव मुक्त। नित्य मुक्त जीव गरुड, विष्वक्सेन भगवान् के विविध आभूषण एव वशी आदि हैं। इनमे से कुछ निर्जीव हैं, फिर भी भक्त उन्हे जीव भाव से देखता है तथा जो जीव सत्कर्म करते हुये पूर्व–जन्म के कर्मो का भोग सम्पन्न कर ससार के बधन से मुक्त हो जाते है वे केवल मुक्त कहलाते हैं। ये पुन लौटकर इस ससार मे नहीं आते। इनमे से कुछ तो ईश्वर–सादृश्य को प्राप्त करते है और कुछ दूसरे जीव अपने आत्म–ज्ञान से स्वरूपानन्द की प्राप्ति करने वाले होते है।

मोक्ष-

निम्बार्क के अनुसार मोक्ष ब्रह्म के ज्ञान एव ईश्वर की कृपा, दोनो का फल है। केवल अपने पुरुषार्थ से अर्थात् ज्ञान से जीव को मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। इसके लिये ईश्वर की कृपा जरूरी है। ईश्वर की कृपा प्राप्त करने का साधन है- ब्रह्म के स्वरूप का एकाग्र ध्यान या दूसरे शब्दो मे ईश्वर की अनन्य भक्ति। भक्ति द्वारा जब

जीव को अपने और ब्रह्म के अश और अशी रूपी सम्बन्ध का ज्ञान हो जाता है तब उसके सचित, क्रियमाण एव प्रारब्ध तीनो प्रकार के कर्म नष्ट हो जाते है और उसका जन्म, मरण एव शरीर से सम्बन्ध सर्वदा के लिये विच्छिन्न हो जाता है। शरीर त्याग के पश्चात् वह देवायान मार्ग से ब्रह्मलोक पहुँचता है। जिस प्रकार रामानुज ने शरीर से बहिर्गमन एव देवयान के विभिन्न सोपानो से होते हुये ब्रह्मलोक पहुँचने का विवरण दिया है ठीक वही निम्बार्क को भी मान्य है। इसी प्रकार क्रममुक्ति के विभिन्न सोपानो सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य एव सार्ष्टि को निम्बार्क ने माना है। सायुज्य मुक्ति मे जीव अपनी वैयक्तिता खोता नहीं है। जीवात्मा के पूर्ण विकास की अवस्था का नाम मोक्ष है। यही उसका आत्मस्वरूप का लाभ है। परन्तु यहाँ पर यह भ्रम नहीं होना चाहिये कि मोक्ष प्राप्त करने के उपरान्त जीव ब्रह्म के समान बन जाता है। ब्रह्म मे जगत् सम्बन्धी कार्य–व्यापार एव दिव्यकृपा प्रदान करने को अधिकार होता है जबकि जीव मे इन दोनो का अभाव रहता है। ब्रह्म एव जगत् के सम्बन्ध को भी मुक्त आत्मा भली–भाँति जान लेता है और इसी कारण जगत् का नानात्व उसे भ्रमित नहीं करता है।

निम्बार्क भी अन्य वैष्णव वेदान्तियो की भाँति केवल विदेह–मुक्ति को स्वीकार करते है वे जीवन मुक्ति को नहीं मानते हैं। जीव जब तक प्रारब्ध कर्मो का भोग समाप्त करके शरीर का परित्याग नही करता तब तक उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है।

<u>मोक्ष प्राप्ति के मार्ग-</u>

निम्बार्क ने मोक्ष प्राप्ति के साधनो पर भी प्रकाश डाला है। वे ज्ञान कर्म समुच्चय मे विश्वास करते हैं।[1] उनके अनुसार निष्काम भाव से स्वधर्मो के पालन एव उनके फलो को ईश्वर के अर्पण से चित्त की शुद्धि होती है जो मोक्ष के लिये आधार तैयार करता है, क्योकि केवल शुद्ध चित्त मे ही ज्ञान का उदय हो सकता है। जीव केवल ज्ञान की प्राप्ति कर सकता है। ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति, अज्ञान एव उससे उत्पन्न सकाम कर्मो को विनष्ट कर देती

---

[1] कर्मण एव विविदिषोत्पादकत्वेन परम्परया तत्प्राप्तिसाधनीभूत ज्ञानोत्पत्त्युपकारकत्वेन समन्वय इति निश्चीयते। — वेदान्तपारिजात् सौरम १/१/४

जीव को अपने और ब्रह्म के अंश और अंशी रूपी सम्बन्ध का ज्ञान हो जाता है तब उसके संचित, क्रियमाण एव प्रारब्ध तीनो प्रकार के कर्म नष्ट हो जाते हैं और उसका जन्म, मरण एव शरीर से सम्बन्ध सर्वदा के लिये विच्छिन्न हो जाता है। शरीर त्याग के पश्चात् वह देवायान मार्ग से ब्रह्मलोक पहुँचता है। जिस प्रकार रामानुज ने शरीर से बहिर्गमन एव देवयान के विभिन्न सोपानो से होते हुये ब्रह्मलोक पहुँचने का विवरण दिया है ठीक वही निम्बार्क को भी मान्य है। इसी प्रकार क्रममुक्ति के विभिन्न सोपानो सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य एव सार्ष्टि को निम्बार्क ने माना है। सायुज्य मुक्ति मे जीव अपनी वैयक्तिता खोता नहीं है। जीवात्मा के पूर्ण विकास की अवस्था का नाम मोक्ष है। यही उसका आत्मस्वरूप का लाभ है। परन्तु यहाँ पर यह भ्रम नही होना चाहिये कि मोक्ष प्राप्त करने के उपरान्त जीव ब्रह्म के समान बन जाता है। ब्रह्म मे जगत सम्बन्धी कार्य–व्यापार एव दिव्यकृपा प्रदान करने को अधिकार होता है जबकि जीव मे इन दोनो का अभाव रहता है। ब्रह्म एव जगत् के सम्बन्ध को भी मुक्त आत्मा भली–भाँति जान लेता है और इसी कारण जगत् का नानात्व उसे भ्रमित नहीं करता है।

निम्बार्क भी अन्य वैष्णव वेदान्तियो की भाँति केवल विदेह–मुक्ति को स्वीकार करते हैं वे जीवन मुक्ति को नहीं मानते है। जीव जब तक प्रारब्ध कर्मो का भोग समाप्त करके शरीर का परित्याग नही करता तब तक उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है।

मोक्ष प्राप्ति के मार्ग-

निम्बार्क ने मोक्ष प्राप्ति के साधनो पर भी प्रकाश डाला है। वे ज्ञान कर्म समुच्चय मे विश्वास करते हैं।[1] उनके अनुसार निष्काम भाव से स्वधर्मो के पालन एव उनके फलो को ईश्वर के अर्पण से चित्त की शुद्धि होती है जो मोक्ष के लिये आधार तैयार करता है, क्योकि केवल शुद्ध चित्त मे ही ज्ञान का उदय हो सकता है। जीव केवल ज्ञान की प्राप्ति कर सकता है। ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति, अज्ञान एव उससे उत्पन्न सकाम कर्मो को विनष्ट कर देती

---

[1] कर्मण एव विविदिषोत्पादकत्वेन परम्परया तत्प्राप्तिसाधनीभूत ज्ञानोत्पत्त्युपकारकत्वेन समन्वय इति निश्चीयते। — वेदान्तपारिजात् सौरभ १/१/४

है। यही दोनो बन्धन का कारण थे। अपने वास्तविक स्वरूप तथा अपने एव ब्रह्म के वास्तविक सम्बन्ध का ज्ञान जीव ब्रह्म ज्ञान के अन्तर्गत प्राप्त करता है। इस ज्ञान की उत्पत्ति के लिये जीव को वेदो द्वारा निर्धारित धर्मों के निष्काम भाव से पालन के साथ–साथ आत्मनियन्त्रण, सहनशीलता, गहन अध्ययन आदि गुणो की प्राप्ति आवश्यक है।

मुमुक्षु को सर्वोच्च ध्यान 'अभेदोपासना' अर्थात् आत्मा और ईश्वर के अभिन्न सम्बन्ध का निरन्तर मृत्यु या शरीर–त्यागपर्यन्त ध्यान करते रहना चाहिये। जीव का ईश्वर के प्रतिपूर्ण आत्मसमर्पण प्रपत्ति कहलाता हे इसके निम्न छ अग हे। –

१ सबके प्रति सद्भावना रखना।

२ किसी के प्रति दुर्भावना न रखना।

३ ईश्वर हमारी रक्षा करेगा उस पर यह अटल विश्वास रखना।

४ ईश्वर हमारा मुक्तिदाता है अर्थात् अपने मुक्तिदाता के रूप मे ईश्वर को स्वीकार करना।

५ स्वय को असहाय एव तुच्छ महसूस करना।

६ ईश्वर के प्रति पूर्णतया समर्पित हो जाना।

इस प्रकार मोक्ष प्राप्ति के साधन के रूप मे निम्बार्क ज्ञान, कर्म, भक्ति एव प्रपत्ति के साथ–साथ गुरुपसत्ति को भी स्वीकार करते हैं। गुरु के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण को गुरुपसत्ति कहते हैं जीव एव ईश्वर के प्रति मध्यस्थता गुरु ही करता है। निम्बार्क के अनुसार जिस तरह एक मॉ बच्चे के हर आवश्यक कार्य को करती है, उसी तरह गुरु भी मुमुक्षु के लिये मोक्ष प्राप्ति से सम्बद्ध सभी कार्यो को करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि निम्बार्क भक्ति, ज्ञान एव कर्मयोग मे समन्वय स्थापित करने के साथ ही साथ भेदपरक और अभेदपरक श्रुति वचनो तथा चेतन व अचेतन के द्वैत को ब्रह्मायन्त बताकर द्वैतवादी अद्वैतवादी दर्शनो मे समन्वय की स्थापना करते है और भेद एव अभेद दोनो को समान रूप से सत्य स्वीकार कर लेने के कारण वे श्रुति के सभी वचनो के साथ पूर्ण न्याय कर सकते हैं।

(3) वल्लभ – 'शुद्धाद्वैत'

वल्लभ शुद्धाद्वैत–सम्प्रदाय के सस्थापक माने जाते है। वस्तुत इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक विष्णु स्वामी थे तथा वल्लभ पूर्व ज्ञानदेव, नामदेव आदि आचार्य भी हुये जिन्होने शुद्धाद्वैत को स्वीकार किया, किन्तु वल्लभाचार्य ने इसे सुदृढ कर इसका प्रचार एव प्रसार किया। इसी कारण इन्हे इस सम्प्रदाय का सस्थापक माना जाता है।

वल्लभाचार्य ने ब्रह्मसूत्र पर 'अणुभाष्य' की रचना की। इसके अतिरिक्त तत्त्वदीप निबन्ध, भागवत सूक्ष्मटीका, सिद्धान्तमुक्तावली, पूर्वमीमासा भाष्य, पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद सहित कुल १६ ग्रन्थो की इन्होने रचना की।

शुद्धाद्वैत के दो अर्थ किये जाते है। षष्ठी तत्पुरुष समास के अनुसार शुद्धाद्वैत का अर्थ– शुद्धयो अद्वैतम् होता है अर्थात् शुद्ध जगत् एव जीव का ब्रह्म से अद्वैत। जगत् एव जीव शुद्ध ब्रह्म के ही रूप होने के साथ–साथ ब्रह्म से अभिन्न हैं। कर्मधारय समास के अनुसार शुद्धाद्वैत का अर्थ शुद्ध च तत् अद्वैतम् अर्थात् शुद्ध ब्रह्म ही अद्वैत तत्त्व है। शुद्ध अर्थात् माया सम्बन्ध रहित एव अद्वैत का अर्थ है सजातीय, विजातीय एव स्वगत द्वैतवर्जित। इस प्रकार ब्रह्ममायाकलुषित न होकर शुद्ध एव सजातीय आदि त्रिविध भेदो से रहित अद्वैत तत्त्व ही है। ब्रह्म की इस प्रकार व्याख्या करने के कारण ही इनके मत को शुद्धाद्वैत कहा जाता है।

शकर के अद्वैतवाद की आलोचना करते हुये वल्लभाचार्य का मानना है कि ब्रह्म ही एकमात्र अद्वैत–तत्त्व है। अद्वैतवादियो के मतानुसार निधर्मक, निर्विशेष तथा निर्गुण ब्रह्म माया के सम्पर्क से सगुण के समान प्रतीत होता है, लेकिन वल्लभमत के अनुसार यह मानना ठीक नही है। वल्लभ का मानना है कि ब्रह्म ही एकमात्र सत्, अद्वितीय, एक व जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। यह सगुण साकार एव सविशेष है। उसमे विरुद्ध गुणो एव शक्तियो को भी पाया जाता है, वह अनेकरूप होकर भी एक है। ब्रह्म महान् से महत्तर तथा अणु से अणुतर है। स्वतन्त्र होने पर भी वह भक्त पराधीन है। ब्रह्म सर्वधर्म विशिष्ट होने के साथ ही साथ विरुद्ध धर्माश्रय भी है। ब्रह्म मे विरुद्ध धर्मो

की स्थिति मायिक न होकर स्वाभाविक है। वह सच्चिदानन्द है। माया ब्रह्म की शक्ति होने के साथ ही साथ उससे अभिन्न है तथा जीव ब्रह्म का अंश है। वल्लभ ने अखिलरसामृतमूर्ति निखिल लीलाधाम श्रीकृष्ण को ही परब्रह्म माना है।

वल्लभाचार्य का मानना है कि ब्रह्म स्वभाव से ही जगत् का कर्त्ता है। वह स्वय लीलाधाम है। जगत् की सृष्टि मे ब्रह्म की लीला ही एकमात्र कारण होती हे एव अपनी इच्छानुसार ही वे जगत् का सहार या लय कर देते है। प्रलय भी भगवान् की ही लीला है वे प्रलय एव सृष्टि स्वाभाविक रीति से करते हैं। जिस प्रकार कोई योगी अपनी शक्तियो के सहारे वस्तुओ की रचना करके उनसे खेलता है और बाद मे उन्हे नष्ट कर देता है, भगवान् भी इसी तरह विलास मात्र के लिये सृष्टि एव प्रलय करते है भगवान् की महिमा को कोई नही जान सकता है। भगवान् अपनी माया के द्वारा सृष्टि करते है फिर क्रीडोपरान्त अन्त मे पूरी सृष्टि को अपने मे तिरोहित कर लेते है। भगवान् पूर्णकाम है तथा यह जगत् भी ब्रह्म रूप तथा ब्रह्म के समान ही है।

इस प्रकार वे ही आनन्दमय, माया–शक्ति तथा जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं। वे प्रेम–पूजा का विषय अर्थात् ध्येय एव परम उपास्यदेव हैं। वल्लभाचार्य के अनुसार ब्रह्म तीन प्रकार का होता है– आधिदैविक या परब्रह्म, आध्यात्मिक या अक्षर ब्रह्म आधिभौतिक या जगत्। अक्षर ब्रह्म पूर्ण तथा आनन्दरूप है। वल्लभ के मतानुसार श्रीकृष्ण ही ब्रह्म है। सारी सृष्टि उन्हीं की लीला है।

<u>जीव</u>- जीव का आविर्भाव ब्रह्म से ही होता है। जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है। जिस प्रकार चन्द्रमा जल मे प्रतिबिम्बित होता है, परन्तु जलगत कम्पन आदि धर्म चन्द्रमा मे नही आते वरन् जल मे ही रहते है ठीक उसी प्रकार देहादि के धर्म जीव से भिन्न है इसलिये देहादि के धर्म जीव मे नहीं आते।[1] भगवान् को जब रमण करने की इच्छा होती

---

[1] यथाजले चन्द्रमस प्रतिबिम्बितस्य तेन जलेन कृतो गुण कम्पादिधर्म आसन्नो विद्यमानो मिथ्यैव दृश्यते न वस्तुत चन्द्रस्य एव आत्मनो देहादिधर्मो जन्मबन्धदुखादिरूपो द्रष्टु आत्मनो न ।

— सुबोधिनी टीका, बल्लभ–३/७/११,

है, तब वे एक से अनक रूप; अर्थात् स्वय के जीव, जगत् व अर्न्तयामी रूपो म अभिव्यक्त करते है। यह अभिव्यक्ति माया कल्पित न हाकर वास्तविक होती है। ऐश्वर्य के तिरोधान से जीव मे दीनता उत्पन्न होती है और यश के तिरोधान स हीनता। श्री के तिरोधान से वह समस्त विपत्तियो का आस्पद हाता है, ज्ञान के तिरोधान से देहादिको मे आत्म बुद्धि रखता है तथा आनन्द के तिरोधान से दु:ख प्राप्त करता है।[1] भगवान् के तीन अश है– सत्, चित् एव आनन्द। इनमे से कोई भी अश विकार नही प्राप्त करता। ब्रह्म के अविकृत सत् अश से भौतिक पदार्थो का अविर्भाव होता है जब भौतिक पदार्थो की उत्पत्ति होती है तब ब्रह्म के चित्त व आनद अश छिपे रहत है। जबकि जीव के उदयकाल मे आनदाश का तिरोधान रहता है।

वल्लभ के मतानुसार जीव–ज्ञाता, ज्ञान एव अणु रूप है। वह चित्प्रधान ब्रह्माश है। वह अशी नही है। उसमे समग्र चित्त न होने के कारण माया या अविद्या रहती है। जिस प्रकार सूर्य या दीपक से प्रकाश की किरणे निकलती हैं अथवा अग्नि से स्फुलिग निकलते है, उसी प्रकार ब्रह्म से जगत् और जीव निकलते हैं। इस निकलने से (व्युच्चरण से) जीव की नित्यता मे कोई कमी नहीं आती है। वल्लभाचार्य के अनुसार जीव एव जगत् दोनो परब्रह्म के परिणामरूप हैं परन्तु परिणाम होने पर भी ब्रह्म मे किसी प्रकार का विकार नहीं आता है। इसे वल्लभाचार्य ने अविकृत परिणाम कहा है। भगवान् अविकृतभाव से ही जगदादि रूप ग्रहण करते है जिस प्रकार स्वर्ण के आभूषण आदि मे उनका मूल स्वर्ण अविकृत ही रहता है उसी प्रकार जगत् का परिणाम हो जाने पर भी ब्रह्म मे विकार नही आता है इसीलिये इनके मत को 'अविकृत ब्रह्मपरिणामवाद' भी कहा जाता है।

वल्लभ का मानना है कि जीव अनेक हैं, ये तीन प्रकार के ससारी शुद्ध एव मुक्त होते हैं। अविद्या युक्त जीव ससारी हैं, ये दो प्रकार के होते हैं– दैव एव आसुर । इन जीवो मे ईश्वर की इच्छा से ऐश्वर्य आदि गुण तिरोहित हो जाते हैं। सूक्ष्म

---

[1] पराभिध्यानात्तु ब्रह्मसूत्र ३/२/५ पर अणुभाष्य।

सद्वासना–विशिष्ट तथा मुक्ति के अधिकारी जीव को दैव कहते है। असद–वासना युक्त तथा निम्नगामी जीव का आसुर कहते है। अविद्या रहित जीव शुद्ध होते है। शुद्ध जीव मे ईश्वर के छ गुणो का अश रहता है। यह शुद्ध चिदश्व है। जब पुष्टि मार्ग के सेवन से भगवान् का नैसर्गिक अनुग्रह जीवो के ऊपर होता है तब जीव मे तिरोहित आनदाश का आविर्भाव होता है और वह मुक्त होकर भगवान् के साथ आनद का अनुभव करता है। मुक्तावस्था मे जीव आनन्द अशो को प्रकटित कर स्वय सच्चिदानन्द बन जाता है। इसी अद्वैत सत्ता का प्रतिपादन 'तत्त्वमसि' मे हुआ है।

<u>मोक्ष प्राप्ति का मार्ग-</u>

वल्लभमतानुसार मुक्ति का सर्वोत्कृष्ट साधन पुष्टि मार्ग ही है। ब्रह्म के त्रिविध रूपानुसार कर्म, ज्ञान एव भाक्ति तीनो मार्ग मुक्ति के साधन हैं, किन्तु इनमे सर्वोच्च भक्ति मार्ग के द्वारा ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है। यह मार्ग सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वसुगम है। भक्ति दो प्रकार की होती है– 'मर्यादा भक्ति' और 'पुष्टि भक्ति'। वल्लभाचार्य की पुष्टि भक्ति अन्य आचार्यो की मर्यादा भक्ति से भिन्न है। कर्म एव साधनो से प्राप्त होने वाली भक्ति मर्यादा भक्ति है जबकि केवल भगवान् से प्राप्त होने वाली भक्ति पुष्टि भक्ति है। ज्ञानमार्गीय, विशुद्ध ज्ञान स्वरूप अक्षर ब्रह्म को प्राप्त करता है, किन्तु आनन्दरूप पुरुषोत्तम की प्राप्ति पुष्टिमार्गीय भक्तो को होती है। सर्ग एव विसर्ग आदि के समान भक्ति अनुग्रह या पुष्टि भी भगवान् की एक लीला है। मर्यादा मार्ग मे भगवान् साधन परतत्र रहता है, क्योकि इस मार्ग मे भगवान् को अपनी बधी हुई मर्यादाओ की रक्षा करना अभीष्ट होता है जबकि पुष्टि मार्ग मे भगवान् स्वतन्त्र होता है। उसे किसी प्रकार की परतन्त्रता नही रहती हैं। मर्यादा मार्ग मे साधक दास्यभाव से उपासना करता है। इस प्रकार से उपासना करके सिद्धि प्राप्त करते हुये भी वह पूर्ण या अभेद मुक्ति का अधिकारी नहीं होता, बल्कि भगवान् से आत्मीयता न होने के कारण वह केवल सायुज्य मुक्ति का ही अधिकारी होता है, परन्तु पुष्टिमार्ग मे साधक भक्ति विभोर होकर अभेद–बोध मुक्ति को प्राप्त करके सच्चिदानन्द स्वरूप हो जाता है।

पुष्टि भक्ति दो प्रकार की होती है– सामान्य एव विशिष्ट। सामान्य पुष्टि मे चारो प्रकार के फल मिलते है जबकि विशिष्ट पुष्टि मे भगवत्स्वरूप को प्राप्त कराने वाली भक्ति की ही प्राप्ति होती है। अर्थ, धर्म, काम एव मोक्ष के अतिरिक्त यह भक्ति पचम पुरुषार्थ है।

पुष्टि मार्ग तीन रूपो मे विकसित होता है। प्रेम, आसक्ति एव व्यसन। पुष्टि मार्ग की प्रारम्भिक दशा मे भगवान् के प्रति भक्त के हृदय मे प्रेम का उदय होता है तत्पश्चात् वह श्री कृष्ण मे अत्याधिक आसक्त हो जाता है एव तृतीयावस्था मे भक्त केवल और केवल श्री कृष्ण को ही प्रेम करता है और इसके अतिरिक्त ससार एव अन्य सभी वस्तुओ को भूल जाता है। वल्लभ भक्ति को अपरोक्ष ज्ञान मे फलित न मानने के कारण भगवान् से तादात्म्य या सायुज्य भक्ति को चरम लक्ष्य न मानते हुये रसरूप भगवान् की रसमय सेवा को ही भक्ति का चरमोत्कर्ष मानते है।

इसके अतिरिक्त वैष्णव वेदान्ती चैतन्य महाप्रभु भी सगुण ब्रह्म की उपासना पर बल देते हुये अचिन्त्य भेदाभेदवाद को स्वीकार करते हैं तथा ये भी भक्ति को ही मोक्ष प्राप्ति के साधन के रूप मे उद्घोषित करते हैं, परन्तु शोध–प्रबन्ध के विस्तार भय से केवल नाम–सकीर्तन मात्र से ही सतोष करना पड रहा है।

इस प्रकार जिस भक्ति परम्परा का आरम्भ रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद से होता है उसका चरमोत्कर्ष आचार्य वल्लभ के शुद्धाद्वैतवाद मे प्राप्त होता है। यद्यपि विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद एव अचिन्त्यभेदाभेदवाद की दार्शनिक मान्यताओ मे कुछ अन्तर है, तथापि उनके धार्मिक सिद्धान्तो मे समन्वय किया जा सकता है एव इन सभी आचार्यो ने मोक्ष साधन के रूप मे भक्ति को ही प्रधानता दी है। दर्शन एव धर्म का जो समन्वय वैष्णव मत मे प्राप्त होता है, वह वैष्णव मत को श्रेष्ठ धर्म के साथ ही साथ श्रेष्ठ दर्शन के रूप मे भी प्रतिष्ठित करता है।

अष्टम अध्याय

समकालीन दर्शन

प्रस्तुत अध्याय के अर्न्तगत हम समकालीन दार्शनिको के आत्म–तत्त्व सम्बन्धी विचारो पर प्रकाश डालेगे। भारतीय दार्शनिको के आत्म तत्त्व सम्बन्धी विचारो का अध्ययन करते समय यदि हम समकालीन दर्शन पर दृष्टिपात न करे तो हमारा शोध–प्रबन्ध अधूरा सा रह जायेगा। समकालीन भारतीय चिन्तन को नव्य–वदान्त भी कहा जा सकता है, क्योकि इसमे वेदान्त के विचारा को ही कुछ नवीन रूप मे प्रस्तुत किया गया है। समकालीन चिन्तको के चिन्तन पर विज्ञान एव पाश्चात्य दर्शन का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। प्रस्तुत अध्याय मे हम स्वामी विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर एव डा० राधाकृष्णन के आत्म एव मोक्ष सम्बन्धी विचारो को स्पष्ट करेगे।

समकालीन चिन्तको का आत्म–तत्त्व सम्बन्धी विचार मानव केन्द्रित है। अमरता की अवधारणा को स्पष्ट करने के लिये मानव के स्वरूप को समझना आवश्यक है तब यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि मानव है क्या ? क्या जिस शरीरधारी रूप मे वह दिखाई देता है वह रूप मानव है ? या शरीर से भिन्न रूप जिसे आत्मा कहते है उस तत्त्व से मानव सूचित होता है। समकालीन विचारको के मतो का विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि उनके मत मे मनुष्य के दो पक्ष हैं– १ भौतिक या शारीरिक पक्ष एव २ अभौतिक या आध्यात्मिक पक्ष। मानव के इस आध्यात्मिक पक्ष को ही आत्मा के रूप मे स्वीकार किया गया है। अब हम उक्त चिन्तको के मतानुसार मनुष्य के स्वरूप का विवेचन करेगे।

१ स्वामी विवेकानन्द - (१८६३– १९०२)

स्वामी विवेकानन्द कलकत्ता के एक सम्पन्न परिवार से सम्बद्ध एव स्वामी रामकृष्ण परमहस के शिष्य थे। उन्होने भारतीय एव पाश्चात्य दोनो दर्शनो का अध्ययन किया था। विश्वधर्म सम्मेलन मे आपने भारतीय आध्यात्मिकता को विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया। आपके विचार वेदान्त सम्मत होते हुए भी बौद्ध एव पाश्चात्य चिन्तको के चिन्तन से प्रभावित थे।

स्वामी विवेकानन्द क अनुसार ब्रह्म काल स्थान, कारणता आदि से परे अपरिवर्तनशील तथा अनिर्वचनीय है। विवकानन्द अमूर्त एकवाद तथा ईश्वरवाद दोनो का स्वीकार करते है। यद्यपि दर्शन परम्परा म सत को एक तत्त्वमीमासीय तथा ईश्वर को धर्म दर्शन की अवधारणा के रूप मे स्वीकार किया जाता है, लेकिन विवकानन्द इस विभाजन को स्वीकार नही करते है। उनका मानना है कि ये दो धाराये न होकर एक ही सत् को देखने की अलग–अलग दृष्टियॉ है। उनक अनुसार निरपेक्ष सत् पूर्ण इकाई है। एक दृष्टि से देखने पर वह ब्रह्म तथा दूसरी दृष्टि स देखने पर ईश्वर के रूप मे भासित होता है। विवेकानन्द के अनुसार– जो निरपेक्ष सत् है वही हमारी भावना, अराधना एव भक्ति का विषय भी है।

विवेकानन्द का मानना है कि मनुष्य वस्तुत एक प्रकार की केन्द्रित आध्यात्मिक शक्ति है जिसे जीवात्मा कहा जा सकता है। उनका मानना है कि मनुष्य के दो पक्ष है– भौतिक एव आध्यात्मिक। भौतिक पक्ष को शारीरिक पक्ष भी कहा जाता है। इस पक्ष के अन्तर्गत मानव के शारीरिक मनोवैज्ञानिक एव जैविक पक्षो को रखा जाता है, किन्तु हमारे सम्मुख प्राय अनेक ऐसे साक्ष्य आते रहते हैं जो मनुष्य की वास्तविकता के रूप मे आत्मा की सत्ता को स्वीकार करने के लिये विवश करते हैं। इसी कारण विवेकानन्द मानव के आध्यात्मिक पक्ष को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। यह पक्ष भौतिक पक्ष की अपेक्षा श्रेष्ठ या उच्चतर है। उनका मानना है कि मनुष्य केवल भौतिक मनुष्य नहीं है बल्कि उसमे आध्यात्मिकता का भी अश पाया जाता है और मानव के इस आध्यात्मिक रूप को ही वे आत्मा का नाम देते है। आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए विवेकानन्द कहते हैं कि यह आत्मा नित्य, मुक्त, शुद्ध, अविनाशी, अविभाज्य, अनादि, अनन्त व जन्म–मृत्यु से परे है। आत्मा बुद्धि, मन, अहकार, इन्द्रियो आदि से अलग है। ये सभी आत्मा के साधन हैं तथा आत्मा द्वारा शासित होते हैं आत्मा इन सभी का शासक तथा शरीर रूपी सिहासन पर आरूढ राजा है। विवेकानन्द आत्मा व ब्रह्म मे तादात्म्य स्वीकार करते हैं, साथ ही वे

यह भी मानते है कि इस तादात्म्य का मानव का आभास नहीं रहता है, किन्तु कुछ अनुभव व अनुभूतियाँ इस अभेद की ओर सकेत करते है।

तब प्रश्न यह उठता है कि यदि आत्मा एव ब्रह्म एक है तो फिर हमे आत्मा की अनेकता की अनुभूति क्यो होती है? विवेकानन्द का मानना है कि यह अनुभूति प्रतीति मात्र है। वास्तविक आत्मा तो जन्म–मृत्यु से परे है। यह अनेकता की प्रतीति भ्रान्ति मात्र है।

विवेकानन्द का मानना है कि आत्मा की मूल विशिष्टता उसकी स्वतत्रता है। आत्मा का बन्धन होता ही नहीं है। आत्मा का यह बन्धन भ्रान्ति मात्र है। विवेकानन्द यह स्वीकार करते है कि अमरत्व की पूर्णतया निश्चित एव वैज्ञानिक परिभाषा नही दी जा सकती है, फिर भी उनका मानना है कि अमरता के विचार को समझने के लिये इसके विभिन्न पक्षो को देखना आवश्यक है। अमरता का शाब्दिक अर्थ स्पष्ट करने पर हम देखते हैं कि अमरता = 'अ–मर्त्य' या 'अ–मृत्यु' । अत इससे यह स्पष्ट होता है कि मृत्यु आत्मा का अन्त नहीं है। इससे कम से कम यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मृत्यु से आत्मा अछूती है। तब प्रश्न यह उठता है कि मृत्यु के उपरान्त आत्मा का रूप क्या है ? इसके उत्तर मे विवेकानन्द का कथन है कि मृत्यु के बाद आत्मा के अस्तित्व को दो स्तरो मे व्याख्यायित किया जा सकता है– पुनर्जन्म एव अमरत्व की अनुभूति। किन्तु हम देखते है कि पुनर्जन्म बन्धन है, वह आत्मा द्वारा अज्ञानवश किये गये कर्मो का परिणाम है अत पुनर्जन्म अमरता का अन्तिम अर्थ नहीं है। जिन सस्कारो के कारण पुनर्जन्म की प्राप्ति होती है उनके समाप्त हो जाने पर जो स्थिति प्राप्त होती है वही आत्मा का चरम भाग्य या अमरत्व की अनुभूति है।

विवेकानन्द का मानना है कि अमरता की अनुभूति तभी सभव है जब आत्मा को अमर स्वीकार किया जाये। वे आत्मा को अमर मानने के पक्ष मे वे निम्न तर्क प्रस्तुत करते है–

१ विवेकानन्द के अनुसार चूँकि आत्मा सरल है इसलिए वह अमर है। हम देखते है कि जटिल अवयवो से युक्त अवयवी का विनाश सभव है और आत्मा की कोई अवयवी या अश नही है अत आत्मा अमर है।

२ दूसरा तर्क देते हुये विवेकानन्द कहते है कि मुमुक्षुत्व या मोक्ष प्राप्त करने की प्रबल इच्छा भी अमरता के पक्ष मे एक साक्ष्य है, चूँकि हर इच्छा का कोई न कोई विषय या लक्ष्य होता है और इच्छित वस्तु वास्तविक होती है न कि काल्पनिक । इसलिए यदि मुमुक्षुत्व हमारी वास्तविक इच्छा है तो इस इच्छा के अनुरूप इच्छित वस्तु का होना आवश्यक है अत आत्मा अमर है।

अब प्रश्न यह उठता है कि मोक्ष की प्राप्ति कैसे सम्भव है ? इस प्रश्न के उत्तर मे उन्होने योग को स्वीकार किया है। योग शब्द को विवेकानन्द ने व्यापक अर्थ मे स्वीकार किया है। यह वह साधन है जिस पर चलने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। विवेकानन्द गीता मे वर्णित ज्ञान, भक्ति एव कर्म तीनो योगो को मोक्ष प्राप्ति के साधन के रूप मे स्वीकार करते हैं। पूर्व के अध्यायो मे हम इन तीनो योगो का विस्तृत वर्णन कर चुके है अत यहाँ पर साकेतिक रूप मे ही हम इनकी चर्चा करेगे।

विवेकानन्द का मानना है कि बन्धन का मूल कारण अज्ञान है इसलिए असत् सत् के भेद या ब्रह्म ज्ञान के द्वारा ही मुक्ति सभव है, किन्तु यह ज्ञान मात्र पुस्तके पढने अथवा गुरु के वचनो से प्राप्त नहीं होता बल्कि श्रवण, मनन, निदिध्यासन एव ध्यान आदि के द्वारा ही ज्ञान की प्राप्ति समव है। जब असीम समाधि की अवस्था मे आत्मा एव ब्रह्म का भेद समाप्त हो जाता है, तब आत्मा को मोक्ष की प्राप्ति होती है।

विवेकानन्द कर्म को मोक्ष के साधन के रूप मे स्वीकार करते हैं उनका मानना है कि व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर उठकर शास्त्रसम्मत एव नैतिक दृष्टि से शुभ कर्मो को करना ही कर्म मार्ग है। सकाम भाव से किये जाने वाले कर्म बन्धन का तथा निष्काम भाव से किये जाने वाले कर्म मोक्ष का कारण है। कर्म–योगी को सदैव दाता के रूप मे कर्म करना चाहिये। वह इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिए कर्म नहीं करता बल्कि उसके

कर्मो की प्रेरणा का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है। निष्काम एव सहज भाव से कर्म करने के कारण मोक्ष प्राप्ति का इच्छुक 'स्व' एव 'अन्य' के भेद मे ऊपर उटकर अमरत्व को प्राप्त करता है।

विवेकानन्द भक्ति मार्ग को मोक्ष मार्ग स्वीकार करते हुए कहते है कि प्रेम या भक्ति मानव के स्वभाव का सहज अश है ओर भक्ति मार्ग मात्र भक्ति से ईश्वर की प्राप्ति का मार्ग है। इसका प्रथम स्तर जो सर्व सामान्य के लिये सुलभ है– पूजा, प्रार्थना एव अराधना का स्तर है। इसके पश्चात् इस पूजा का रूप मघन हो जाता है एव ईश्वर सम्बन्धी श्लोको के उच्चारण एव कीर्तन, जप आदि जीवन के आवश्यक अग बन जाते है। तृतीय स्तर पर शान्त आन्तरिक प्रार्थना का अविर्भाव हो जाता है तथा इस अन्तिम स्तर पर भक्त एव भगवान् का भाव समाप्त होने पर एकत्त्व की भावनात्मक अनुभूति होती है।

इसके अतिरिक्त विवेकानन्द राजयोग को भी स्वीकार करते हैं । इस मार्ग का मूल महर्षि पतञ्जलि का योग सूत्र है। इस मार्ग का अनुसरण करके मोक्ष प्राप्ति के लिये मन तथा शरीर का पूर्ण नियन्त्रण तथा अनुशासन आवश्यक है। इस योग के अर्न्तगत आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार आदि का कठोर पालन आवश्यक है इससे मोक्ष की प्राप्ति निश्चित व तेजी से होती है ऐसा इस योग के समर्थक मानते हैं, इसी कारण यह राजयोग कहलाता है। ध्यान, धारणा एव समाधि के द्वारा योगी परम तत्त्व का साक्षात्कार करता है।

विवेकानन्द जीवन मुक्ति एव विदेह–मुक्ति दोनो को स्वीकार करते हैं। उनका मानना है कि शरीर मे रहते हुए भी आत्मा को अमरत्व की अनुभूति हो सकती है। जीवन–मुक्ति के कार्य शरीर तथा इन्द्रियो से सचालित नहीं होते। अब कर्मो को करते हुए भी वह उनसे प्रभावित नहीं होता है। जब शरीर को जीवित रखने वाली प्रवृत्तियो या प्रारब्ध कर्मो की समाप्ति हो जाती है, तो शरीर का त्याग करने के उपरान्त साधक 'विदेहमुक्ति' को प्राप्त करता है।

रवीन्द्रनाथ टैगोर- (१८६१–१६४१)

नोबेल पुरस्कार विजेता तथा शन्ति निकेतन क सस्थापक रवीन्द्रनाथ टगोर की अभिव्यक्ति का माध्यम दर्शन शास्त्रीय न होकर कवित्त्नय होन क कारण उनके विचारा का विवेचन करने मे कुछ कठिनाइयॉ आती है, क्याकि कवि दार्शनिक तर्कशास्त्रीय विवेचनो को उतना महत्त्व नही देता वह मात्र एक दृष्टा होता ह।

टैगोर सत् तथा ईश्वर को अलग–अलग नही मानते ह। वे भी आचार्य शकर की भॉति सत् को स्वीकार करते हुए कहते है कि जो कुछ ह वह सब निरपक्ष सत् की ही अभिव्यक्ति है, किन्तु कहीं–कही टैगोर व शाकर मत मे भेद स्पष्टत परिलक्षित होता है। अपने लेख 'Universal man' मे उन्होने अपने व शाकर मत मे वैभिन्नय स्पष्ट किया है। टैगोर के लेखो मे निरपेक्ष सत् शब्द का प्रयोग व्यवहार मे प्राय नहीं किया गया है। उन्होने जीवन देवता, असीम आत्मपुरुष, परमपुरुष आदि शब्दो का प्रयोग किया है। ये शब्द ईश्वर भाव के अधिक निकट प्रतीत होते हैं। टैगोर के विचार मे अर्मूत एकवाद तथा ईश्वरवाद का समन्वय है। टैगोर ने परम पुरुष को अनिर्वचनीय, निर्गुण, सत्य, शिवम्, सुन्दरम्, मानते हुए उसकी कल्पना एक ऐसे सत् के रूप मे की है जो सब कुछ का आधार है।

टैगोर के आत्मा सम्बन्धी विचार विशिष्ट प्रकार के हैं। यद्यपि वे ईश्वर के परमरूप को स्वीकारते हैं, किन्तु इसके बावजूद वे मनुष्य को जगत् मे विशिष्ट स्थान देते हैं। मनुष्य को उनके दर्शन मे केन्द्रीय स्थान प्राप्त है। वे भी मानव आत्मा के दो पक्षो को स्वीकार करते हैं– भौतिक या जैविक एव अभौतिक या आध्यात्मिक। भौतिक पक्ष मानव की शारीरिक, जैविक एव भौतिक मन स्थितियो के रूप मे प्रकट होता है। यह मनुष्य को सीमित करता है जबकि अभौतिक अश उसका असीमित अश कहा जा सकता है। यह पक्ष मनुष्य को विशिष्टता प्रदान करता है। मनुष्य की वे आकॉक्षाये तथा प्रवृत्तियॉ जो भौतिक आधारो से 'परे' प्रतीत होती हैं वे आध्यात्मिक पक्ष की सूचक होती

है। मनुष्य के आध्यात्मिक एव भौतिक दोनो पक्षो को स्वीकार करने के कारण ही टैगोर ने मनुष्य को ससीम–असीम माना है।

व्यवहारवादी केवल मनुष्य के भौतिक पक्ष को ही स्वीकार करते है उनका मानना है कि मनुष्य के स्वरूप का निर्धारण केवल व्यावहारिक रूप से ही सभव है। हम केवल मनुष्य के भौतिक स्तर को देख–सुन व समझ सकते है। वही पलायनवादी विचारक तथा सन्यासी आदि भौतिक पक्ष को बन्धन का कारण मानते है।

किन्तु टैगोर उक्त दोनो मतो को एकागी व दोषपूर्ण मानते है। उनका मानना है कि भौतिक जीवन जीने मे ही आध्यात्मिकता की अनुभूति होती है। यदि हम भौतिक पक्ष की वास्तविकता का निषेध करते है तो आध्यात्मिक पक्ष का तो स्वत ही निषेध हो जाता है। अत रवीन्द्र नाथ टैगोर का मानना है कि मनुष्य के भौतिक पक्ष का निषेध आत्म–व्याघात है। इस प्रकार टैगोर मानव के दोनो पक्षो को स्वीकार करते हुए उसे ससीम–असीम मानते है। मनुष्य के ससीम पक्ष के अर्न्तगत उसका शारीरिक, जैविक एव भौतिक पक्ष आता है। उसके ससीम पक्ष मे असीम पक्ष की जडे विद्यमान रहती हैं और यह सीमित आत्मा विकसित होकर श्रेष्ठतर होता हुआ असीम आत्मा की उपलब्धि कर पाता है। मनुष्य के असीम पक्ष को टैगोर ने कभी मानव मे स्थित ईश्वत्व तो कभी 'मनुष्य मे आधिक्यता का अश' कहा है। मनुष्य के असीम पक्ष का पूर्ण एव निश्चित विवरण देना सभव नही है, किन्तु कुछ विशिष्ट प्रकार की अनुभूतियॉ मानव के इस पक्ष की साक्षी है। यह मानव का विशिष्ट तथा सत् पक्ष है।

मनुष्य के असीम पक्ष के फलस्वरूप ही उसमे मुक्ति की अकॉक्षा या मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा जागृत होती है। यद्यपि मृत्यु जीवन का अनिवार्य सत्य है, किन्तु फिर भी हम देखते हैं कि प्रत्येक मनुष्य मे इस मृत्यु के बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने की इच्छा रहती है और यह असीम पक्ष के कारण ही सभव होता है। टैगोर का मानना है कि मनुष्य के इस असीम स्वरूप की पहचान स्वतत्रता भी है, किन्तु यह स्वतत्रता

भौतिक न होकर आध्यात्मिक है और यह स्वतन्त्रता मनुष्य को शरीर के बधन से पूर्णतया मुक्त करने के मार्ग मे प्रयत्नशील है।

टैगोर के अनुसार मनुष्य का ससीम-पक्ष उसके शरीर रूप मे तथा उसका असीम पक्ष उसके आत्म रूप मे निहित है। उनके अनुसार असीम सच्चिदानन्द अपनी आत्माभिव्यक्ति के लिये ससीम के रूप मे अभिव्यक्त होता है। वस्तुत ससीम एव असीम एक ही है। टैगोर शरीर को ईश्वरीयता का मन्दिर कहते हैं, किन्तु हमे इस मदिर को ही ईश्वर नही समझ लेना चाहिये बल्कि इससे परे ईश्वर पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिये। यदि हम शरीर को ध्यान को केन्द्र बना देते है तो हम आत्मा को बधन मे डाल देते हैं इसलिये हमे ध्यान का केन्द्र ससीम की जगह असीम को बनना चाहिये जिससे आत्मा बन्धन मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर सके।

जीवात्मा का चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। टैगोर का मत है कि हम केवल मृत्यु को निषेधात्मक समझते है, किन्तु वस्तुत मृत्यु जीवन का एक भावात्मक पक्ष है, जो हमारे जीवन को अर्थ एव मूल्य प्रदान करता है। यद्यपि मृत्यु होने पर जीवन की समाप्ति हो जाती है, किन्तु यह अस्तित्व की समाप्ति नहीं है। मृत्यु के पश्चात् भी आत्मा का अस्तित्व अवश्य विद्यमान रहता है। इससे सम्बद्ध अनेक साक्ष्य एव प्रमाण भी है। टैगोर का मानना है कि मानव का चरम भाग्य 'अमरत्व की चेतन अनुभूति' या आत्मा मे निहित स्वतत्रता की पूर्ण अनुभूति है। शरीर के साथ चिपकना ही बन्धन है, एव हमे इससे ऊपर उठकर स्वतत्रता एव अमरता की ओर बढना है। मोक्ष की अवस्था मे सभी प्रकार के भेदो 'मैं' एव 'अन्य' की समाप्ति हो जाने पर आत्मा सुख-दुख एव शुभाशुभ से ऊपर उठकर स्वतत्रता की पूर्ण अनुभूति करता है। टैगोर का मानना है कि सार्वभौम की अनुभूति कर लेने की स्थिति ही मनुष्य का चरम भाग्य है। तब यहॉ हमारे समक्ष यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस चरम भाग्य की प्राप्ति कैसे समव है। टैगोर का मानना है कि हम जीवन मे सामान्यत जिसे 'ज्ञान' कहते हैं वह आत्म-चेतना को विस्तृत करने का मार्ग नही है। सासारिक ज्ञान बौद्धिकता व विवेकशक्ति का अग होने के कारण

आत्म–चेतना का जाग्रत करने क साधन नहीं हो सकते है। य उपयोगी तो अवश्य है, किन्तु इनकी अपनी एक सीमा है इसलिये टगोर का मानना है कि 'प्रेम' के द्वारा ही चेतना को विस्तृत किया जा सकता है। आत्म एक प्रेमी की भॉति है जो अपने 'प्रिय' की खोज मे है किन्तु यह प्रेम अत्यन्त कठिन है वस्तुत यह जितना सरल दिखलाई पडता है उतना सरल है नही। टैगोर प्रेम का 'अवबाध' कहते है जिसका अन्य अर्थ 'व्याप्तार्थ' भी है अर्थात् प्रेम अपने विषय मे व्याप्त होकर उसे पा लेता है। प्रेम म सभी प्रकार के भेद मिट जाते है। प्रेम मिलन हैं। जब आत्मा अपने प्रेम को सघन बनाता जाता है तब वह अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। यह स्वय ही अपना आधार तथा स्वय ही अपना लक्ष्य है।

तब प्रश्न यह उठता है कि इस आदर्श प्रेम का प्रारम्भ किस प्रकार से हो? हम देखते है कि प्रारम्भ मे आत्मा का आत्म–स्वरूप इतना प्रभावशाली नही होता कि वह आत्मोसर्ग के लिए तत्पर हो जाये। अत टैगोर कहते हैं कि यद्यपि प्रारम्भिक चरण मे प्रेम का मार्ग अत्यन्त कठिन है तथापि अनुशासन एव आत्मनियन्त्रण के द्वारा आत्मा को 'स्व' की मॉगो से ऊपर उठना है। प्रेम से आच्छादित कष्ट मे आत्मा की सोई हुई शक्तियॉ या आत्मा का सक्रिय रूप जागता है। सैद्धान्तिक पक्ष के साथ ही प्रेम के व्यावहारिक पक्ष को स्पष्ट करते हुए टैगोर का मानना है कि– प्रेम क्रियात्मक होता है। प्रेम की भावना रिक्त या निष्क्रिय नहीं होती है। प्रारम्भ मे हमे अपने बच्चो, परिवार व सहयोगियो से अपनत्व होता है और इसी प्रवृत्ति को विस्तृत करते हुए हम धीरे–धीरे सभी को जोड सकते हैं। जब प्रेम की व्यापकता एकत्व की अनुभूति मे प्रकट होती है, तब सभी प्रकार के भेद मिट जाते है।

टैगोर अध्यात्मिक योग की भी बात करते हैं, किन्तु वे योग के आसन एव विभिन्न शारीरिक मुद्राओ की बात न करके योग को एक अनुशासन के रूप मे स्वीकारते हैं, जहॉ त्याग एव बलिदान का भाव होता है। अपनी निजी थातियो का त्याग व 'स्व' का बलिदान अपनी चेतना को विस्तृत करने के साधन का नाम है। टैगोर के

अनुसार यह प्रयास प्रेम, भक्ति सेवा तथा उच्चतर कर्म के द्वारा सम्पन्न किया जा सकता है। योग आनन्द का मार्ग है जिस पर चलने से आनन्द की अनुभूति होती है और इसी अनुभूति को टैगोर असीम को आत्मसात करना कहते है।

<u>अरविद घोष</u> (१८७२–१९५०) –

समकालीन भारतीय चिन्तको मे श्री अरविन्द का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आप ईंग्लैण्ड से अध्यनोपरान्त भारत आकर राज्य सेवा मे नियुक्त हुये तथा कुछ समय बाद राजनीति मे प्रवेश किया, किन्तु आपका राजनैतिक जीवन अत्यल्प रहा और आपने पाण्डिचेरी जाकर आश्रम की स्थापना की और वहीं पर अपने दार्शनिक विचारो को स्पष्ट स्वरूप प्रदान किया। आपके चिन्तन पर प्लेटो, अरस्तू, बर्गसॉ, व्हाइटहड जैसे पाश्चात्य दार्शनिको के साथ ही साथ भारतीय अद्वैत–वेदान्त व योग का प्रभाव पडा, किन्तु इन सभी का समन्वय करते हुए भी आपने एक नवीन सत्– दृष्टि स्थापित करने की चेष्टा की है।

श्री अरविद के अनुसार सत् पूर्णतया आध्यात्मिक है, फिर भी सत् मे भौतिकता के लिए स्थान है। उनका मानना है कि वेदान्त के ब्रह्म का स्वरूप पूर्णतया आध्यात्मिक होते हुए भी भौतिकता के लिये स्थान रखता है। श्री अरविद के अनुसार असीम सच्चिदानन्द ही आत्माभिव्यक्ति के लिए ससीम मे अभिव्यक्त होता है। वे परम सत् को सत्, चित् तथा आनन्द स्वरूप स्वीकार करते हैं। सत् चित् होने से वह अपने मे पूर्ण तो है ही, किन्तु आनन्द भी उसी रूप मे पूर्ण तथा अमिट है जैसे– सत् एव चित्। सत्, चित् व आनन्द का निषेध सभव नहीं है।

श्री अरविद मानव सत्ता के तीन स्तरो को स्वीकार करते है– बाह्य स्तर, चैत्य पुरुष व जीवात्मा। बाह्य पक्ष जो हमे दिखाई देता है वह बाह्य चेतना के द्वारा उजागर होता है। चैत्य पुरुष पक्ष जो अन्तर से उसके भौतिक, प्राणरूप तथा मानसिक को आधार प्रदान करता है। किन्तु मानव की इस आन्तरिक सत्ता 'चैत्य पुरुष' मे मानव की केन्द्रीय सत्ता प्रस्फुटित होती है, जिसे आत्मा या जीवात्मा कहा गया है।

श्री अरविद के मत का स्पष्ट करते हुये हम यह भी कह सकते है कि अन्य दार्शनिको की भाँति वे भी केन्द्रीय सत्ता के दो स्तर स्वीकार करते हैं– उच्च एव निम्न। उच्च स्तर के अर्न्तगत जीवात्मा तथा निम्न स्तर के अर्न्तगत चैत्य पुरुष को रखा जा सकता है। उच्चतर पक्ष मानव विकास के पहले की अवस्था है जो विकास प्रक्रिया के परे है किन्तु निम्न स्तर विकसित होते हुए मनुष्य का चित्र है तथा जब हम विकास–प्रक्रिया के मनुष्य के स्वरूप पर विचार करते हे तो उसमे बाह्य एव आन्तरिक पक्ष का भेद आवश्यक हो जाता है और इस स्तर का आन्तरिक पक्ष चैत्य पुरुष है।

चैत्य पुरुष व जीवात्मा मे भेद स्पष्ट करते हुये श्री अरविद का मानना है कि जीवात्मा मानव की हर वैयक्तिक अभिव्यक्ति से ऊपर है, इसे वे ईश्वरीय अश भी कहते हैं जबकि चैत्य पुरुष एक प्रकार से जीवात्मा का प्रतिनिधि है। जो वैयक्तिक जीवन मे व्यक्त होता है। दूसरे भेद को स्पष्ट करते हुए श्री अरविद कहते हैं कि परम सत् तथा 'चैत्य पुरुष' मे भेदान्वित अभेद का सम्बन्ध ही बताया जा सकता है जबकि जीवात्मा एव निरपेक्ष सत् मे पूर्ण अभेद दिखाना सभव है।

इस प्रकार श्री अरविद के विचारो मे मानव स्वरूप के तीन पक्ष स्पष्ट होते है– १ मनुष्य का बाह्य पक्ष २ उसका आन्तरिक पक्ष या चैत्य पुरुष तथा ३ जीवात्मा। प्रथम मे उसका भौतिक तथा द्वितीय व तृतीय पक्ष मे उसका आध्यात्मिक स्वरूप स्पष्ट होता है। मनुष्य भौतिक एव आध्यात्मिक दोनो का मेल है। मानव के जन्म, ह्रास तथा मृत्यु से सम्बन्धित प्रश्न मानव के बाह्य पक्ष से सम्बन्धित हैं। चैत्य पुरुष सूक्ष्म आत्मा होने के कारण जन्म, मरण से परे है। मृत्यु होने पर जब ब्राह्य शरीर विनष्ट हो जाता है तो यह सूक्ष्म आत्मा दूसरे शरीर को धारण करने के लिये अग्रसर होता है। यह सूक्ष्म आत्मा जन्म, पुनर्जन्म से होता हुआ मानव को ईश्वरत्व की प्राप्ति की ओर बढाता है। यही मनुष्य की आध्यात्मिक प्रगति का आधार है।

श्री अरविद का मानना है कि पुनर्जन्म मानव विकास के लिये आवश्यक है। चूँकि मानव विकास एक क्रमिक प्रक्रिया है, इसलिये पुनर्जन्म मानव विकास का अनिवार्य

उपादान है क्योकि एक जन्म मानव–विकास के लिये यथेष्ट नहीं है। श्री अरविद के अनुसार पुनर्जन्म को पूर्णतया निश्चित रूप मे स्पष्ट नहीं किया जा सकता है। आत्मा एक शरीर का त्याग करने के पश्चात अन्य शरीर मे प्रवेश करता है या वह कुछ काल तक ठहरता है यह उसके अपने किये कर्मो के प्रभाव तथा प्रवृत्तियो मे निर्धारित होता है। यहॉ यह कहना व्यर्थ है कि पुनर्जन्म की एक निश्चित विधा है। पुनर्जन्म के सम्बन्ध मे कर्म नियम का बडा महत्त्व है। इन नियमो का हमारे अस्तित्त्व, स्वरूप, क्रिया–व्यवहार एव स्वभाव आदि सभी के लिये महत्त्व है, क्योकि वे सभी इसी नियम से निर्धारित हैं। हम जैसे कर्म करेगे वैसा ही परिणाम हमे भुगतना पडेगा।

प्राय सभी दार्शनिको ने किसी न किसी रूप मे अज्ञान को बन्धन का कारण स्वीकार करते हुये इसे ज्ञान का विपरीतार्थक तथा दुख का कारण माना है। इसी कारण सभी विचारको ने अज्ञान की निवृत्ति से ही मोक्ष प्राप्ति समव बताई है। किन्तु अरविद यह नहीं मानते है कि अज्ञान ज्ञान का विरोधी है। उनका मानना है कि ज्ञान तथा अज्ञान को पृथक् कोटि का स्वीकार करने से ज्ञान का सर्वागी एव अद्वैतरूप खडित हो जायेगा अत जिसे हम अज्ञान कहते हैं वह वस्तुत ज्ञान ही है भले ही वह आशिक अपूर्ण व अयथेष्ट हो। उनका मत है कि कुछ ज्ञान अधिक पूर्ण होता है तो कुछ कम। ज्ञान के हर श्रेष्ठतर स्तर से देखने पर निम्नतर स्तर का ज्ञान अज्ञान है, क्योकि वह आशिक एव अयथेष्ट है। ज्ञान एव अज्ञान का स्वरूप मूलत एक कोटि का ही है। श्री अरविद अज्ञान के सप्तरूप स्वीकार करते हैं।

श्री अरविद अतिमानस की स्थिति को स्वीकार करते हुये कहते हैं कि यह मानस से परे की अवस्था है। इस स्थिति मे मानव अज्ञान क्षेत्र से ऊपर उठकर ज्ञान पुरुष बन जायेगा। श्री अरविद 'दिव्य जीवन' का उल्लेख करते हैं कि यह वह अवस्था है जहॉ सभी मुक्त रहेगे। मानव का चरम भाग्य व्यक्ति की मुक्ति नहीं 'मानव मात्र की मुक्ति' या 'सर्वमुक्ति' है। इनका मानना है कि जब तक मानव–मात्र मुक्त नहीं हो जाता है तब तक कोई व्यक्ति भी मुक्त नहीं है। यह 'दिव्य जीवन' विकास प्रक्रिया का चरम लक्ष्य है।

इस दिव्य जीवन के अवतरण की प्रक्रिया को आध्यात्मिक कर्म के द्वारा तीव्र किया जा सकता है एव इस अवतरण की प्रगति को तीव्र करने का ढग 'योग' है।

श्री अरविद योग का अत्यन्त विस्तृत तथा सूक्ष्म विवचन करते है इसके साथ ही वे योग के अर्न्तगत तन्त्र को भी समाविष्ट करते है। जैसा कि हमने पहले भी देखा है कि योग का अर्थ है– मिलन और अरविद भी योग को इसी अर्थ म स्वीकारते है। उनका मानना है कि योग का लक्ष्य इसी जीवन मे शरीर रूप म ही ईश्वरत्व की पूर्ण चेतना है। योग अनिवार्यत किसी अतिप्राकृतिक जीवन मे प्रवेश नही है। इसका लक्ष्य भौतिक, मानसिक एव जैविक प्रक्रिया मे परिवर्तन लाना है। योग विकास प्रक्रिया मे घिरे आत्म–तत्त्व के उत्थान का प्रयत्न है। यह उच्चतर शक्तियो को मानस पर ही नहीं जडतत्त्व मे भी उतारने का प्रयत्न है। उनके अनुसार योग वह प्रक्रिया है जो चेतना के विस्तृत होने, उच्चतर उठने तथा अन्तत एक रूप होने की प्रक्रिया को रूप देता है। श्रीअरविद का योग आन्तरिक योग है जिसमे ऐसे अनुशासन हैं जिसका पालन सभी के लिये सभव है। श्री अरविद का मत है कि योग आत्म व अनात्म के भेद का स्पष्ट ज्ञान नहीं, बल्कि अनात्म मे भी आत्म–रूप, आध्यात्मिकता की पहचान है। योग का लक्ष्य भौतिक एव शारीरिक का हनन न होकर उनको अति मानसिक प्रकाश मे रूपान्तरित कर देना है। श्री अरविद का मानना है कि एकत्व की प्राप्ति शरीर मे रहते हुए जाग्रतावस्था तथा जगत् से सम्पर्क बिना तोडे सभव है। उनके अनुसार योग का चरम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति नहीं है। व्यक्ति का मोक्ष तो 'चरम लक्ष्य' का अश है योग का लक्ष्य सभी की मुक्ति एव धरती पर दिव्य जीवन को अवतरित करना है।

इस प्रकार श्री अरविद की योग विधि सामान्य योग के ढगो से भिन्न है। इस विधि के सहारे मानस 'उच्चतर मानस', 'प्रदीप्त मानस', 'अर्न्तदृष्टि व्यापक मानस' के सोपानो को पार करता हुआ 'अति मानसिक प्रकाश' को ग्रहण करने के लिये तत्पर हो जाता है। इसके अर्न्तगत तीन प्रक्रियाये आती हैं– आत्मिकता की प्रक्रिया, आध्यत्मिकता की प्रक्रिया तथा अतिमानसिकता की प्रक्रिया। इन तीनो को अद्वैत योग के तीन सोपान

माना गया है। इन सभी का लक्ष्य मानस को उच्चतर रूप में ले जाना है। इसी कारण अरविद योग को 'आतरिक योग' भी कहते है। इस प्रकार अरविंद के अद्वैत–योग मे योग के सभी रूपो का समन्वय है। हठयोग मे जहॉ शारीरिक अनुशासन को, राजयोग मे मन पर ध्यान केन्द्रित करने को, ज्ञान योग मे ज्ञान को, भक्ति योग म भक्ति को तथा कर्मयोग मे कर्म को महत्त्व दिया गया है वही श्री अरविद का मत है कि इन सभी मे योग के कुछ पहलुओ पर बल दिया गया है, किन्तु अन्य पक्षो की उपेक्षा हुई है। श्री अरविद के मतानुसार योग की मूल विशिष्टता है कि यह सर्वाडगी विकास पर बल देता है, आशिक विकास पर नही। यदि हम केवल ज्ञान पर, केवल शारीरिक शक्तियो एव क्षमताओ अथवा गहन भावनात्मक भक्ति पर बल दे तो यह सब आशिक होगा, सर्वाङ्गी नहीं। आवश्यकता है कि आत्मा के सभी पक्षो का उसके भौतिक, जैविक, मानसिक आदि सभी अशो का रूपान्तरण हो जाय। अत पूर्ण योग वही कहा जा सकता है जो इस प्रकार के पूर्ण रूपान्तरण पर बल दे। श्री अरविद का योग सर्वागीण विकास पर बल देता है। इसके अर्न्तगत योग की सभी विधाये समाविष्ट है और इसकी परिणति पूर्ण 'एकत्व' की सहज एव सतत् चेतना मे है।

यहॉ एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या ज्ञान पुरुष की तुलना जीवन मुक्त से की जा सकती है ? यद्यपि ज्ञान पुरुष व जीवन-मुक्त ऊपर से देखने पर प्राय एक समान दिखलाई पडते हैं, किन्तु श्री अरविद के 'ज्ञान पुरुष' की अवधारणा 'जीवन मुक्त' की अवधारणा से अधिक समृद्ध है क्योकि जीवनमुक्त के समान ज्ञान पुरुष का कार्य समाप्त नहीं हुआ है अभी उसे उच्चतर प्रकाश को, अपनी अतिमानसिक चेतना के आधार पर विकास–प्रक्रिया मे अवतरित कराने के लिये योगदान देना है, जबकि जीवनमुक्त प्रारब्ध कर्म–फल की समाप्ति के पश्चात् विदेह मुक्त हो जाता है। किन्तु ज्ञान–पुरुष अतिमानस की सर्जनात्मक शक्ति का अग बन जाता है अब वह अन्य के ज्ञान–पुरुष बनने तथा ब्रह्माण्ड मे दिव्य–जीवन के अवतरण मे अपना योगदान देता है।

सर्वपल्ली राधाकृष्णन् (१८८८– १९७५ ई०) –

भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन भारतीय एव पाश्चात्य दोनो दर्शनो की गहन जानकारी रखते थे इसीलिये उनके दर्शन मे इन दोनो विचारो का समन्वय किया गया है, फिर भी उनके विचारो का मूल वेदान्त ही है। वे अद्वैत वेदान्त मे प्रतिपादित सत् के मूल अद्वैत ऐक्य को केन्द्र बनाते है, साथ ही इसमे निरपेक्ष आध्यात्मवाद के कुछ पक्षो को भी जोड देते हैं। इन्होने भारत मे अनेक विशिष्ट पदो को सभालने के साथ ही विदेशो मे भी अनेक शैक्षणिक पदो पर कार्य किया।

राधाकृष्णन् का मानना है कि जिस मूल तत्त्व के आधार पर जगत् की व्याख्या होती है उसे ही परम् सत् कहा जाता है, क्योकि हर वास्तविक सत् तत्त्व की व्याख्या का आधार वही है। इस परम सत् को सूचित करने के लिये वे 'ब्रह्म' एव 'निरपेक्ष सत्' दोनो नामो का उपयोग करते हैं। उनका ब्रह्म शकर के समान पूर्ण अद्वैत 'एक' तथा हेगल के समान सब कुछ का वास्तविक आधार है। राधाकृष्णन का मत है कि निरपेक्ष मे कोई भी भेद नहीं है। वे निरपेक्ष सत् को शुद्ध चेतना, शुद्ध स्वतत्रता तथा अनत सभावना कहते हैं। इनमे प्रथम दो शकर के ब्रह्म के समान तथा तृतीय हेगल के निरपेक्ष सत् की भॉति विवरण प्रस्तुत करता है। निरपेक्ष सत् को राधाकृष्णन् शुद्ध अध्यात्म रूप कहते है वे इसे स्वतत्र, असीम, अपरिवर्तनशील, शाश्वत, नित्य तथा सर्वरूपेण पूर्ण कहते हैं।

राधाकृष्णन् के आत्मा सम्बन्धी विचारो कों केन्द्रीय रूप अध्यात्म रूप है, अभौतिक है, किन्तु इसके साथ ही वे मानव की भौतिक, जैविक तथा मानसिक प्रवृत्तियो को भी स्वीकारते हैं। उनका मत है कि– मानव एक विचित्र मिश्रण है– भौतिक तथा अभौतिक तत्त्वो का, स्वार्थमूलकता तथा आत्मोत्सर्गता की प्रवृत्तियो का, स्वार्थ और सार्वभौम प्रेम का, किन्तु वे स्वीकारते हैं कि मानव अन्तत आत्मरूप ही है, आध्यात्मिकता उसका स्वरूप है, किन्तु वे यह भी मानते हैं कि मानव का भौतिक तथा जैविक पक्ष अवास्तविक नहीं है। इसकी अपनी सत्ता एव महत्त्व है।

राधाकृष्णन् के अनुसार मानव आत्मा के दो पक्ष है– ससीम तथा असीम। मानव आत्मा के ससीम पक्ष के अन्तर्गत मानव की व प्रवृत्तियाँ आती है जिनका निर्धारण आनुभविक तथा वातावरण सम्बन्धी उपकरणो से सम्भव है। इस रूप मे निर्धारित मानव को वे शारीरिक, भौतिक, मनोवैज्ञानिक, प्राकृतिक तथा आनुभविक मानव आदि नाम देते है। इसके साथ ही वे मानव के भौतिक पक्ष को स्वीकार करते है। उनका मत है कि यदि इस पक्ष को आत्मा से सर्वथा भिन्न माना जाये तो आत्मा का आत्म–सगठन खण्डित हो जाता है, किन्तु साथ ही वे यह भी कहते है कि यद्यपि इस स्तर को जानना तो आवश्यक है परन्तु इस पर चिपके रहना अपूर्णता का द्योतक है, क्याकि ससीम पक्ष की अनुभूति निम्न स्तर की अनुभूति है। इसलिये हमे इससे आगे तो बढना है, किन्तु यह इसका निषेध नहीं है। मानव को इस स्तर मे भी परे की चेतना रहती है। राधाकृष्णन् कहते हैं कि यह चेतना ही उसे प्रेरित करती है कि वह आगे बढे और शारीरिक स्तर से ऊपर उठे। मानव मे ऊपर उठने की जो शक्ति छिपी है उसके विश्लेषण से आत्मा का वास्तविक स्वरूप प्रकाश मे आ जायेगा।

यद्यपि शारीरिक स्तर की प्रवृत्तियो को प्राकृतिक आधारो पर निर्धारित किया जा सकता है, किन्तु अपने से ऊपर उठने की शक्ति की प्राकृतिक व्याख्या सभव नही है क्योकि यह शक्ति भौतिक, शारीरिक व आनुभविक शक्ति से उच्चतर शक्ति है। इसी को राधाकृष्णन् मानव स्थित 'आत्मा' कहते हैं। यह अशरीरी आत्मा ही मानव का अध्यात्म रूप है। मानव का यह आध्यात्मिक रूप आनुभविक स्तर से कुछ उच्च है। आनुभाविक स्तर मे ज्ञाता तथा ज्ञेय या विषय तथा विषयी का अन्तर किया जाता है। तो इससे उच्च क्षेत्र वह है जहाँ यह भेद मिट जाता है। यह अवस्था है– 'आत्म-चेतना।' आत्म–चेतना मे आत्मा को स्वय अपनी चेतना रहती है अथवा विषयी स्वय का विषय होता है। आत्म–चेतना ही वह डोर है जो व्यक्ति के जीवन के विभिन्न क्षणो तथा अनुभूतियो को एक सूत्र मे बॉधकर रखता है। व्यक्ति की वैयक्तिकता या विशिष्टता का मूल आधार उसकी आत्म–चेतना ही है। राधाकृष्णन् मानव के इस पक्ष का विवरण देते हुये इसे

'ईश्वरीय' कहते है। उनका कहना है कि हममे जो सदैव उच्चतर ज्ञान की प्रेरणा है, वह एक प्रकार से हममे स्थित ईश्वरीय रूप है। मानव का यह असीम लक्ष्य उसके उस स्वरूप का द्योतक है जिसमे उसे अपने मे निहित ईश्वरीय सभावनाओं को व्यक्त करने की क्षमता होती है। राधाकृष्णन् का मत है कि तत्वत आत्मा स्वतन्त्र है यह किसी बाह्य उपदान से निर्धारित नही होती है। इसके साथ वे कर्म सिद्धान्त को स्वीकारते हुये यह मानते है कि– स्वतत्रता एव कर्म एक दूसरे के साथ असगत नहीं हैं। वे कर्मो के दो प्रकार स्वीकारते हैं– भूतलक्षी कर्म एव विषयोन्मुख कर्म। भूतलक्षी कर्म भूतकाल से सम्बन्धित हैं जबकि विषयोन्मुख कर्मो का प्रभाव उस भविष्य मे भोगना पडता है। भूतलक्षी कर्मो से मानव की प्रवृत्तियॉ आदि निर्धारित होती है जबकि विषयोन्मुख कर्मो को करने के लिये वह स्वतत्र है।

पुनर्जन्म को स्वीकारते हुये राधाकृष्णन् का मानना है कि मृत्यु जीवन का अन्त नहीं है। मृत्यु के बाद भी आत्मा की सत्ता है। तब प्रश्न यह उठता है– मृत्यु के उपरान्त वह किस रूप मे जीवित रहता है ? तब राधाकृष्णन् का मत है कि व्यक्ति पुनर्जन्म लेता है। हम देखते हैं कि आत्मा मे निहित समावनाये, अनेको इच्छाये, प्रेरणाये, कार्य आदि प्रवृत्तियॉ अतृप्त रह जाती हैं और इन इच्छाओ की पूर्ति के लिये पुनर्जन्म का विचार अनर्गल नहीं है। नवजात शिशु की क्रियाये एव व्यक्ति की व्यवहार मे प्राप्त भिन्नताये आदि के आधार पर पुनर्जन्म के विचार को आधार मिलता है।

इस प्रकार मानव आत्मा सतत् पूर्ण आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर है। इसका स्वरूप ससीम–असीम है। अपने ससीम रूप मे वह उच्चतर उठने की प्रवृत्ति रखता है जिसका कोई न कोई लक्ष्य अवश्य है जिसकी ओर वह उन्मुख है और यह लक्ष्य है उसका– चरम भाग्य या मोक्ष। प्राचीन भारतीय परम्परा मे मानव जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष को माना गया है जहॉ आत्मा के दुखो की निवृत्ति होने पर उसे निजस्वरूप की प्राप्ति होती है किन्तु राधाकृष्णन् का विचार प्राचीन परम्परा के अनुरूप होते हुये भी सर्वथा मौलिक व नवीन है।

राधाकृष्णन् के अनुसार आत्मा का चरम भाग्य उसकी शारीरिक सत्ता से परे है। मनुष्य का शारीरिक भौतिक पक्ष वास्तविकता है, किन्तु इसकी विशिष्टता इसके आध्यात्मिक रूप मे है। व्यक्ति का मोक्ष मनुष्य के चरम भाग्य का अन्तिम रूप नहीं है बल्कि यह वह अवस्था है जिसे राधाकृष्णन ने सर्वमुक्ति कहा है। पूर्ण आध्यात्मिकता की प्राप्ति ईश्वरत्व की प्राप्ति है। इसी से राधाकृष्णन् का मानना है कि– The distiny of the human soul is to realise its oneness with the supreme जीवन का लक्ष्य ईश्वरत्त्व की प्राप्ति है। इसे आत्मज्ञान भी कहा जा सकता है। यह अवस्था पूर्ण एकत्व की अनुभूति है।

मोक्षावस्था मे भौतिक या शारीरिक अवस्था मे प्राप्त होने वाले सभी दु खो की निवृत्ति हो जाती है। व्यक्ति अब पूर्ण आन्तरिक सगठन के साथ ही बाह्य जगत् के साथ पूर्ण अभियोजन स्थापित करते हुये सब कुछ मे एकत्व को ही देखता है। राधाकृष्णन् का मानना है कि ऐसा जीवन शरीर मे रहते हुये भी प्राप्त हो सकता है और इस अवस्था को वे जीवन मुक्त कहते हैं जीवन मुक्त के सभी कार्य 'स्व' से ऊपर उठे होने के कारण वह जगत् के ढगो से प्रभावित न होने के साथ ही अन्य को शुभ मार्ग के निर्देश के लिये कार्यरत रहता है। राधाकृष्णन् परम्परावादी दार्शनिको के विपरीत विदेह मुक्ति को मोक्ष की अन्तिम अवस्था नहीं स्वीकार करते हैं उनका कहना है कि वयैक्तिक मोक्ष 'पूर्ण सार्वभौमता का रूप' नहीं होने के कारण मोक्ष की अन्तिम अवस्था नहीं हो सकता है। मोक्षानुभूति के पश्चात् व्यक्ति के कार्यो की समाप्ति नहीं होती क्योकि अभी उसे अन्य को मोक्ष प्राप्ति मे सहायता प्रदान करनी है।

इस प्रकार राधाकृष्णन् का मत है कि जगत्–प्रक्रिया में अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति तभी हो सकती है जब सभी आत्माये मुक्त हो जाये, सभी ईश्वरत्व को प्राप्त कर ले। अत राधाकृष्णन् मानव का चरम भाग्य 'सर्वमुक्ति' को मानते हैं न कि 'वैयक्तिक मोक्ष' को। राधाकृष्णन् का मत है कि धार्मिक अनुभूति के द्वारा मोक्ष मार्ग पर अग्रसर होना समव है, किन्तु इस अनुभूति की प्राप्ति के लिये कडे आत्म–सघर्ष की आवश्यकता होती है। इस अनुभूति मे विषयी एव विषय का भेद समाप्त हो जाता है तथा पूर्ण एकत्व की प्राप्ति होती है।

उपसंहार

इस प्रकार भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायो मे आत्मा एव मोक्ष सम्बन्धी विचारो के अध्यनोपरान्त हम देखत है कि भारतीय दर्शनो मे आत्मा की अवधारणा महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। आत्मा की सत्ता एव अमरता स सम्बन्धित विश्वास की व्याख्या सभी भारतीय दर्शनो मे पायी जाती है। अमरता एक नैतिक मान्यता है। विश्व के अनेको धर्मो मे आत्मा के अस्तित्त्व एव उसकी अमरता स सम्बन्धित विश्वास को किसी न किसी रूप मे स्वीकार किया गया है। इस्लाम, हिन्दू, यहूदी, इसाई, जैन आदि धर्मो मे शरीर से भिन्न नित्य आत्मा की सत्ता को स्वीकार किया गया है। आत्मा नित्य है, जबकि शरीर अनित्य तथा नश्वर है। अनेक दर्शनो मे यह माना गया है कि मृत्यु के पश्चात् शरीर का विनाश हो जाता है, आत्मा का नहीं।

भारतीय दार्शनिको ने किसी न किसी रूप मे आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया है। वेदो मे यद्यपि आत्मा सम्बन्धी विचार स्पष्ट रूप से नहीं परिलक्षित होते हैं तथापि उनमे यत्र–तत्र आत्मा सम्बन्धी विचारो का उल्लेख प्राप्त होता है। उपनिषदो मे आत्मा का स्वरूप पूर्णरूपेण स्पष्ट किया गया है। उपनिषदो मे हमे आत्मा की सत्ता एव उसकी अमरता के विषय मे विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। उपनिषदो मे अनेक उदाहरणो के द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि आत्मा शरीर, मन, बुद्धि तथा प्राण से सम्बद्ध होते हुये भी इन सबसे भिन्न तथा स्वतत्र है। आत्मा की सत्ता शरीर तथा मन के नष्ट हो जाने के बाद भी बनी रहती है, इसी कारण इसे अविनाशी तथा अमर कहा गया है। चैतन्य आत्मा का आवश्यक गुण है। यद्यपि कुछ दार्शनिको ने चैतन्य को आत्मा का आगन्तुक धर्म माना है तो कुछ चिन्तको ने चैतन्य को आत्मा का स्वरूप माना है। आत्मा ही सभी मनुष्यो को सुख, दुःख, इच्छा आदि का अनुभव करने वाला चैतन्य युक्त प्राणी बनाता है साथ ही साथ उसे समस्त निर्जीव भौतिक वस्तुओ से पृथक् करता है।

गीता मे आत्मा सम्बन्धी विचार का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है। जब अर्जुन युद्ध करने से इकार कर देते है तब श्रीकृष्ण उन्हे आत्मा के स्वरूप एव अमरता के विषय मे बताते है। आत्मा के स्वरूप का विवेचन करते हुये श्रीकृष्ण अर्जुन को बताते है कि—आत्मा न तो कभी मरता है और न ही उत्पन्न होता है। यह तो नित्य, षड्विकारो से रहित है। शरीर के नष्ट हो जाने के उपरान्त भी आत्मा का विनाश नही होता है। जिस प्रकार पुराने वस्त्र का परित्याग करके हम नवीन वस्त्रा को धारण कर लेते है उसी प्रकार आत्मा भी जीर्ण व जर्जर शरीर का परित्याग करके नवीन शरीर को धारण करता है। अत मृत्यु के पश्चात् आत्मा का अन्त नहीं होता है, केवल शरीर का विनाश होता है। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि आत्मा को न तो शस्त्र काट सकते है, न अग्नि इसे जला सकती है, न वायु इसे सुखा सकती है और न ही जल इसे गीला कर सकता है। आत्मा की अमरता का गीता मे विशद् विवेचन करते हुये ज्ञान कर्म एव भक्ति तीनो का समन्वय करते हुये मोक्ष की प्राप्ति सभव बतायी गयी है।

चार्वाक दर्शन मे नित्य, अमर एव शाश्वत आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार न करते हुये मृत्यु को ही मोक्ष माना गया है। बौद्ध दर्शन भी अनात्मवादी है। यद्यपि आत्मा सम्बन्धी प्रश्न का भगवान् बुद्ध उत्तर नहीं देते थे। आत्मा व जगत् सम्बन्धी प्रश्नो को बुद्ध ने अव्याकृत प्रश्न कहा है। तथापि आत्मा को नित्य न मानते हुये भी भगवान् बुद्ध ने पुनर्जन्म एव कर्मवाद की व्याख्या की है। बौद्ध दर्शन मे पच स्कन्धो के समूह को ही आत्मा कहा गया है। इन दोनो दर्शनो के अतिरिक्त शेष सभी दार्शनिको ने किसी न किसी रूप मे आत्मा के स्वरूप, अमरता एव मोक्ष सम्बन्धी विचारो के सन्दर्भ मे गीता के मत को स्वीकार किया है। वेदान्त दर्शन मे आत्मा सम्बन्धी विचार का सर्वोत्कृष्ट रूप परिलक्षित होता है। समकालीन भारतीय विचारको ने भी आत्मा की सत्ता स्वीकार की है। समकालीन भारतीय चिन्तन वेदान्त का ही नवीन रूप है, किन्तु इस चिन्तन पर पाश्चात्य दर्शन एव विज्ञान का प्रभाव स्पष्टत देखा जा सकता है, यद्यपि इसका आधार वेदान्त ही है। समकालीन भारतीय चिन्तक जगत् एव शारीरिक जीवन दोनो की

वास्तविकता स्वीकार कर अग्रसर होता है। प्राचीन भारतीय चिन्तन मे जहाँ इन्द्रिय मन एव शरीर पर पूर्ण नियन्त्रण को आध्यात्मिक विकास के लिये अनिवार्य माना गया है। वहीं समकालीन चिन्तन मे इस नियत्रण का अर्थ उन्मूलन न होकर उन प्रवृत्तियो का परिमार्जन एव उन्हे ऊँचा उठाना है। ये लोग जगत को कार्यस्थल तथा शरीर को ईश्वरीय मन्दिर कहते है। इस प्रकार आधुनिक दार्शनिक, तत्त्वो की वास्तविकता पर बल देने एव शारीरिक प्रवृत्तियो के लिये आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया मे एक स्थान बना सकने के कारण अपने को आनुभाविकता तथा आधुनिकता की दृष्टि के अनुरूप बना पाते हैं।

भारतीय दर्शन के अनुसार आत्मा की सत्ता स्वत सिद्ध है। 'जानामि अत अस्मि' 'मै जानता हूँ अत मैं हूँ' इस प्रकार जानने अथवा सोचन मात्र से ही आत्मा की सत्ता सिद्ध है। आत्मा ज्ञान का स्रोत, सरल, अविभाज्य, असग एव नित्य है। ज्ञान स्वभावत दिक्कालातीत होने के कारण नित्य आत्मा मे ही निवास करता है। ज्ञान प्रत्ययो के माध्यम से प्राप्त होता है। प्रत्यय जन्मजात होते हैं और आत्मा मे निहित होते है। प्रत्ययो के माध्यम से आत्मा अपने मे अन्तर्निहित ज्ञान का स्मरण करती है।

चार्वाक मत को छोडकर सभी भारतीय दर्शनिको का मानना है कि बन्धन का कारण अज्ञान है। इस बात पर भी सभी चिन्तको मे ऐक्य है कि जीव का बन्धन अनादि है। उस समय का निर्धारण करना अत्यन्त कठिन या असभव है जब जीव बन्धन मे पडा। यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि जब आत्मा ने ब्रह्म से पृथक् होकर जीवात्मा का रूप ग्रहण किया तो वह बन्धन मे पड गया। ब्रह्म से स्वतन्त्र सत्ता होने के साथ ही जीव शरीर, इन्द्रियो तथा बुद्धि आदि से सम्बन्ध स्थापित करके बन्धन मे पड गया। बन्धन मे पडे हुये आत्मा का अन्त तो है परन्तु उसका आदि नहीं है। जीव के बन्धन का मुख्य कारण उसके द्वारा अपने वास्तविक स्वरूप को न जानना है। अत अज्ञान ही बन्धन का कारण है। कतिपय पश्चिमी दर्शनिको का मत है कि सर्वप्रथम शुद्ध आत्मा ने कोई पाप किया है, जिसके कारण वह अशुद्ध होकर ससार चक्र मे फॅस गया। उनके

अनुसार आत्मा की इस अशुद्धता को दूर कर उसे शुद्ध करना है किन्तु भारतीय दर्शनिक इस मत से सहमत नहीं है उनके अनुसार हमारे पापात्मक कर्म का कारण अज्ञान है और जीव का जब अपने स्वरूप के प्रति अज्ञान समाप्त हो जाता है, तब वह परम तत्त्व के स्वरूप और उसके साथ अपने सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

भारतीय दर्शन मे मोक्ष का इतिहास जितना प्राचीन है, उतना ही रोचक है। मोक्ष चिन्तन अपने स्वरूप को धीरे–धीरे स्पष्ट करते हुये भारतीय जीवन दर्शन का अभिन्न अग बन गया। भारतीय दर्शन के अनुसार मोक्ष जीवन का अन्त नहीं बल्कि उसका चरम विकास है। यह शून्य की अवस्था न होकर पूर्णता की स्थिति है जिसम सब कुछ घटा देने पर भी पूर्ण ही शेष बचता है। ईशावास्योपनिषद् मे कहा गया है–

पूर्णमद पूर्णमिद पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

मोक्ष की अवस्था मे जीव ब्रह्म के साथ सम्बन्ध स्थापित करके तदाकार हो जाता है।

अधिकॉश दार्शनिक मानते हैं कि मोक्ष की अवस्था मे दुखो की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। किन्तु कुछ भारतीय चिन्तको ने जहॉ मोक्ष को आनन्दस्वरूप माना है, वहीं कुछ चिन्तको का मानना है कि मोक्षावस्था आनन्द से शून्य है। मोक्ष सम्बन्धी चिन्तन भारतीय दर्शन मे अपेक्षाकृत कुछ विलम्ब से हुआ है। ऋग्वेद मे जगत् के प्रारम्भ और उसके विकास का वर्णन करते हुये कहा गया है कि मृत्यु के पश्चात् जीव स्वर्ग बिहार करता है (विष्णो पदे परमे मध्व उत्स) यजुर्वेद मे अमृतत्व की ओर सकेत किया गया है (उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्) परन्तु यहॉ अमृतत्व क्या आशय है यह स्पष्ट नहीं किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक लोग समवत मोक्ष मे विश्वास नहीं करते थे। मोक्ष का सर्वप्रथम चिन्तन हमे साख्य दर्शन मे प्राप्त होता है। यद्यपि उपनिषदो के पूर्व का कोई साख्य ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता है तथापि यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि साख्य विचारधारा उपनिषदो के पूर्व ही प्रतिष्ठित थी।

जब हम सभी भारतीय चिन्तको के मोक्ष सम्बन्धी विचारो का अध्ययन करते है तो हम देखते है कि विभिन्न सम्प्रदायो के मोक्ष सम्बन्धी चिन्तन मे एक तार्किक सम्बन्ध है। इस तार्किक विकास के विभिन्न सोपानो का आरोही क्रम निम्नलिखित है—

विकास क्रम के निम्नतम सोपान पर चार्वाक—दर्शन को रखा जा सकता है। चार्वाक—दर्शन के मोक्ष सम्बन्धी विचार को अपरिपक्व कहा जा सकता है। चार्वाक का मोक्ष सम्बन्धी विचार इसलिये अपरिपक्व है, क्योकि मृत्यु को जीवन का सर्वोच्च पुरुषार्थ नहीं माना जा सकता है। मृत्यु तो अन्तत होनी ही है। वस्तुत 'चार्वाक—मोक्ष' को मोक्ष माना ही नहीं जा सकता है। वैशेषिक एव मीमासा दर्शन मे मोक्ष की अवधारणा चार्वाक मोक्ष से श्रेष्ठ है। इन दर्शनो मे मोक्ष को 'अपवर्ग' एव 'नि श्रेयस' कहा गया है। इन दर्शनो मे मोक्ष की निषेधात्मक व्याख्या प्रस्तुत करते हुये यह माना गया है कि मोक्ष की अवस्था मे आत्मा सभी प्रकार के धर्मो से मुक्त हो जाती है। मोक्षावस्था मे आत्मा आनन्द से भी शून्य होकर केवल अपने मूल स्वरूप मे स्थित रहती है। न्याय—दर्शन मे कहा गया है कि मोक्षावस्था मे आत्मा जड पाषाणवत् हो जाती है। वहीं मीमासा मे यह माना गया है कि धर्म एव अधर्म के नि शेष विनाश के कारण शरीर का आत्यन्तिक नाश ही मोक्ष है। इन दर्शनो आनन्द एव चित् को आत्मा का स्वाभाविक धर्म न मानकर आगन्तुक धर्म मानने के कारण यह कहा गया है कि मोक्ष की अवस्था मे आत्मा चित् एव आनन्द से युक्त होकर केवल सत्ता मे स्थित रहती है।

मोक्ष के इस क्रमिक सोपान मे अगली अवस्था के अर्न्तगत साख्य एव योग दर्शन के मोक्ष सम्बन्धी चिन्तन को रखा जा सकता है। इन दर्शनो मे मोक्ष को कैवल्य की सज्ञा से विभूषित किया गया है। कैवल्य की दशा मे आत्मा जिसे साख्य दर्शन मे 'पुरुष' कहा गया है अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेता है जिसके कारण उसका प्रकृति तथा उसके सभी विकारो के साथ दोषपूर्ण तादात्म्य समाप्त हो जाता है। कैवल्य की दशा मे आत्मा साक्षी बनकर प्रकृति के विकास को देखता है, किन्तु वह सुख एव दु ख के अनुभव से परे हो जाता है। इस अवस्था आनद भी नहीं रहता है, क्योकि

आनन्द प्रकृति के सत्त्वगुण का विकार है। मोक्ष की अवस्था मे पुरुष अपनी स्वाभाविक चेतना मे स्थिर होकर प्रकृति का दृष्टा बन जाता है। कैवल्य प्राप्त कर लेने पर पुरुष के लिग शरीर का, जो अनादि काल से उससे सम्बद्ध रहा है, का विनाश हो जाता है।

क्रमिक रूप मे साख्य से उच्चतर अवस्था मे जैन दर्शन का मोक्ष सिद्धान्त आता है। जैन दर्शन मे यह माना गया है कि मोक्ष की अवस्था मे जीव 'अनन्त चतुष्टय' से सम्पन्न होकर सिद्ध शिला पर निवास करता है। जैन दर्शन मे माना गया है कि मुक्ति की अवस्था सर्वागीण पूर्णता, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख एव अनन्त वीर्य की अवस्था है। जैन दर्शन मे ईश्वर पर विश्वास नही करने के कारण यह माना गया है कि जीव के अपने प्रयत्नो के द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति सभव है।

श्रेष्ठता के अग्रिम सोपान पर वैष्णव वेदान्तियो के मोक्ष सम्बन्धी विचारो को रखा जा सकता है। वैष्णव वेदान्त मे यह माना गया है कि मुक्तावस्था मे अशी (आत्मा) अपने अश (ईश्वर) के समान होकर उनके शरीर मे प्रवेश करके उनके साथ ऐक्य का अनुभव करता है, किन्तु इसके बावजूद भी उसकी व्यैक्तिकता कायम रहती है। ब्रह्म लोक मे आत्मा अनेक प्रकार के भोगो (सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य एव सायुज्य तथा सार्ष्टि) का भोग करता है। वैष्णव वेदान्त मे यह माना गया है कि मुक्त आत्मा ईश्वर की तरह जगत् की उत्पत्ति, सहार एव पालन करने की शक्ति नही प्राप्त करता, वह केवल ईश्वर की भॉति ज्ञान एव आनन्द का उपभोग कर सकता है।

मोक्ष सम्बन्धी विचारो की जो धारा चार्वाक आदि दर्शनो से होते हुये अविरल प्रवाहित होती आ रही थी उस धारा का तीव्रतम प्रवाह हमे शकराचार्य के दर्शन मे समुपलब्ध होता है। इनके दर्शन मे मोक्ष की विचारधारा अपनी सर्वोत्तम अवस्था को प्राप्त करती है। अद्वैत–वेदान्त एव महायान बौद्ध दर्शन के अनुसार मुक्त जीव का परमतत्त्व के साथ पूर्ण तादात्म्य एव पूर्णरूपेण अद्वैत सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इन दोनो दर्शनो मे यह माना गया है कि ब्रह्म, आलयविज्ञान अथवा तथता तर्क से परे है और उसे मानवीय बुद्धि के द्वारा नही समझा जा सकता। जब अज्ञान की समाप्ति हो जाती है तो

आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप मे स्थित हो ब्रह्म से एकाकार स्थापित कर लेता है। पारमार्थिक दृष्टिकोण से आत्मा बन्धन–मोक्ष के प्रश्न से परे है। वस्तुत आत्मा एव ब्रह्म मे अभेद है।

भारतीय चिन्तन परम्परा मे अमरत्व के दो रूप दिखलाई पडते है 'जीवनमुक्ति' एव 'विदेह मुक्ति।' जीवन मुक्ति को 'सदेह अमरता' भी कहा जाता है। जब राग एव द्वेष पर विजय प्राप्त करके मनुष्य निष्काम भाव से अपने कर्मो को करता है तब वह सासारिक बन्धनो से मुक्त हो जाता है। जीवनमुक्त का शरीर के प्रति मोह समाप्त हो जाता है। जिस प्रकार सर्प बिना मोह के केचुली को छोड देता है उसी प्रकार जीवन–मुक्त भी मोह रहित होकर कामनाओ का परित्याग कर देता है। वह शरीर मे रहते हुये भी विदेह जैसा आचरण करता है। जीवन–मुक्त कर्मो के फल से मुक्त हो जाता है और पुनर्जन्म के चक्र मे नही पडता है। प्रारब्ध कर्मो के कारण ही उसका शरीर रहता है। प्रारब्ध कर्मो के फल को भोगने के उपरान्त वह अपने शरीर का भी परित्याग कर देता है। यही विदेह मुक्ति की अवस्था है।

आत्मा की अमरता को शारीरिक एव अशारीरिक दो वर्गो मे विभाजित किया गया है। अशारीरिक अमरता सम्बन्धी विचार के अन्तर्गत यह माना जाता है कि मृत्यु के पश्चात् मनुष्य के शरीर का अस्तित्व समाप्त हो जाता है, किन्तु आध्यात्मिक द्रव्य के रूप मे उसकी आत्मा का अस्तित्व बना रहता है। भारतीय दर्शन मे इसी प्रकार की अमरता को स्वीकार किया गया है, क्योकि इसमे माना गया है कि शरीर के विनष्ट हो जाने के उपरान्त भी मनुष्य अपनी आत्मा के रूप मे अमर रहता है। यह अमरता व्यक्तित्वपूर्ण एव व्यक्तित्वरहित दो प्रकार की होती है। यदि मनुष्य की मृत्यु के पश्चात् उसकी शरीर रहित आत्मा का स्वतत्र अस्तित्व बना रहता है तो वह व्यक्तित्वपूर्ण होगी और यदि उसका अस्तित्व किसी परम सत्ता मे विलीन हो जाता है तो इस अवस्था को व्यक्तित्वरहित अमरता कहा जायेगा। इस्लाम, इसाई व यहूदी धर्मो मे शारीरिक अमरता मे विश्वास किया गया है। इन धर्मो के अनुसार मृत्यु के उपरान्त शरीर का नाश नही

होता। उसे 'अतिम निर्णय' के लिये ईश्वर के समक्ष सशरीर उपस्थित होना पडता है। इन धर्मो मे व्यक्तित्वपूर्ण अमरता को स्वीकार किया गया है।

सामान्यत सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय कर्म, ज्ञान, भक्ति और महर्षि पतञ्जलि के योग को कम या अधिक परिमाण मे मोक्ष का साधन स्वीकार करते है। मीमासा–दर्शन मे जहॉ मोक्ष–प्राप्ति के साधन के रूप मे कर्म को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है, वही साख्य एव योग दर्शन मे योगाभ्यास को मोक्ष प्राप्ति के साधन के रूप मे स्वीकार किया गया है। वैष्णव वेदान्त मे जहॉ भक्ति को मोक्ष प्राप्ति मे सहायक बताया गया है। वही शकर वेदान्त मे मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान के द्वारा सभव बतायी गयी है। किन्तु यदि हम ध्यान से देखे तो पाते है कि ज्ञान, कर्म एव भक्ति एक दूसरे के विरोधी न होकर परस्पर एक दूसरे के पूरक है। वस्तुत मोक्ष की प्राप्ति मे ज्ञान, कर्म एव भक्ति मार्गो का एक निश्चित मूल्य है। कर्म को प्रारम्भिक साधन माना जा सकता है क्योकि शरीर एव मन की शुद्धि कर्म–मार्ग का सहारा लेकर की जा सकती है। कर्ममार्ग ही साधक को भक्ति–मार्ग की ओर ले जाता है और साधक अपने आराध्य के निकट पहुँचता जाता है और ये मार्ग साधक को ज्ञानमार्ग की ओर ले जाते है। ज्ञान द्वारा ही ससीम का असीम मे लय हो जाता है और जीव तथा ब्रह्म मे ऐक्य स्थापित हो जाता है और यही मोक्षावस्था है।

इस प्रकार मैने भारतीय दर्शन मे आत्मा के अमरता के सन्दर्भ मे मोक्ष की अवधारणा के सम्बन्ध मे वैदिककाल से लेकर समकालीन दार्शनिको के मतो पर शोधपरक–प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है।

धन्यवाद।

Kanchan
कंचन गुप्ता

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

१	भारतीय दर्शन भाग–१	डा० राधाकृष्णन अनु० नन्द किशोर गोभिल प्रकाशक – राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली सस्करण –१६८६
२	भारतीय दर्शन भाग–२	डा० राधाकृष्णन अनु० नन्द किशोर गोभिल प्रकाशक – राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली सस्करण –१६८६
३	भारतीय दर्शन का इतिहास भाग–१	एस०एन०दास गुप्ता अनु० कलानाथ शास्त्री प्रकाशक– राजस्थान हिन्दी ग्रथ अकादमी, जयपुर सस्करण –१६७८
४	भारतीय दर्शन का इतिहास भाग–२	एस०एन०दास गुप्ता अनु० कलानाथ शास्त्री प्रकाशक– राजस्थान हिन्दी ग्रथ अकादमी, जयपुर सस्करण –१६७८
५	भारतीय दर्शन का इतिहास भाग–३	एस०एन०दास गुप्ता अनु० ए० यू० वसावडा प्रकाशक– राजस्थान हिन्दी ग्रथ अकादमी, जयपुर सस्करण –१६७४
६	भारतीय दर्शन का इतिहास भाग–४	एस०एन०दास गुप्ता अनु० डा० मोहनलाल शर्मा प्रकाशक– राजस्थान हिन्दी ग्रथ अकादमी, जयपुर सस्करण –१६७२
७	षड्दर्शन समुच्चय	हरिभद्र सूरि विरचित श्री मणिभद्र कृत लघुवृत्ति सहित प्रकाशक–चौखम्भा सस्कृत सीरिज आफ वाराणसी।
८	षड्दर्शन समुच्चय	हरिभद्र सूरि विरचित श्री गुणरत्न टीका सहित प्रकाशक– भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी सस्करण –२०००
६	भारतीय दर्शन मे मोक्ष चिन्तन एक तुलनात्मक अध्ययन	डा० अशोक कुमार लाड प्रकाशक–म०प्र० हिन्दी ग्रथ अकादमी म०प्र० सस्करण–१६७३
१०	छान्दोग्योपनिषद् शाकरभाष्य	प्रकाशक – गीता प्रेस गोरखपुर सस्करण – प्रथम १६६४
११	ईशोपनिषद्	प० रामनारायण अवस्थी ऐग्लो अरबिक प्रेस लखनऊ

१२ माण्डूक्योपनिषद्	यमुना प्रसाद त्रिपाठी भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी सस्करण १६६६
१३ कठोपनिषद्	डा० आद्या प्रसाद मिश्र अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद सस्करण—१६८६
१४ ईशावास्योपनिषद्	डा० वाचस्पति पाण्डेय साहित्य भण्डार मेरठ।
१५ केनोपनिषद्	यमुना प्रसाद त्रिपाठी मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली
१६ उपनिषदो की भूमिका	डा० राधाकृष्णन् राजपाल एण्ड सस, दिल्ली चतुर्थ सस्करण
१७ छान्दोग्योपनिषद्	गीता प्रेस गोरखपुर
१८ मुण्डकोपनिषद् भाष्य	गीता प्रेस गोरखपुर
१६ बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य	गीता प्रेस गोरखपुर
२० ऋग्वेद सहिता	गीता प्रेस गोरखपुर
२१ सामवेद सहिता	गीता प्रेस गोरखपुर
२२ मैत्रायणी सहिता	गीता प्रेस गोरखपुर
२३ वाजनेय सहिता	गीता प्रेस गोरखपुर
२४ शतपथ ब्राह्मण	गीता प्रेस गोरखपुर
२५ ऐतरेय ब्राह्मण	गीता प्रेस गोरखपुर
२६ चार्वाक दर्शन	डा० आनन्द झा हिन्दी समिति लखनऊ द्वितीय सस्करण
२७ सर्वदर्शन-सग्रह	मध्वाचार्य प्रो० उमाशकर ऋषि चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी सस्करण —१६६७
२८ उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण	रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे अनु० रामानन्द तिवारी राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर सस्करण—प्रथम
२६ भारतीय दर्शन की भूमिका	रामचन्द्र पाण्डेय मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली सस्करण— प्रथम

३० प्रबोध चन्द्रोदयम्	श्री कृष्ण मिश्र, टीकाकार श्री रामचन्द्र मिश्र चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी सस्करण– १६६८ द्वितीय
३१ भारतीय दर्शन एक नई दृष्टि	डा० जगदीश चन्द्र जैन चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी सस्करण – १६८५
३२ भारतीय दर्शन मे चेतना का स्वरूप	डा० श्रीकृष्ण सक्सेना चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी सस्करण–१६६६
३३ धर्म–दर्शन का सर्वेक्षण	डा० दुर्गादत्त पाण्डेय प्रामनिक पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद प्रथम सस्करण–१६६०
३४ धर्म–दर्शन की मूल समस्याये	डा० वेद प्रकाश वर्मा हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय प्रथम सस्करण–१६६१
३५ बौद्ध दर्शन	डा० राहुल सास्कृत्यायन किताब महल, इलाहाबाद सप्तम सस्करण
३६ बौद्ध दर्शन एव वेदान्त	डा० चन्द्रधर शर्मा विजन विभूति प्रकाशन, इलाहाबाद तृतीय सस्करण
३७ भारतीय दार्शनिक निबन्ध	डा० डी० डी० वदिष्टे, डा० रमाशकर शर्मा मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रथ अकादमी, भोपाल सस्करण तृतीय १६६५
३८ भारतीय दर्शन	डा० नन्द किशोर देवराज उ०प्र० हिन्दी सस्थान, लखनऊ सस्करण–चतुर्थ १६८३
३६ भारतीय दर्शन	चन्द्रधर शर्मा मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली सस्करण– द्वितीय १६६५
४० भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण	प्रो० सगम लाल पाण्डेय सेन्ट्रल पब्लिशिग हाउस, इलाहाबाद सस्करण – तृतीय १६६७
४१ श्रीमद्भगवत गीता (साधक सजीवनी)	स्वामी रामसुखदास गीता प्रेस गोरखपुर सस्करण– इकतालीस

४२ श्रीमद्भगवद्-गीता (प्रथम खण्ड) — योगिराज श्री श्यामाचरण लाहिडी
अनु० भूपेन्द्रनाथ सन्याल
द्वितीय सस्करण सवत् २०१६
हिन्दी प्रकाशन समिति, बौसी,भागलपुर

४३ श्रीमद्भगवद्-गीता — श्री श्रीमद् ए० सी० भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद
प्रकाशन भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट, मुबई

४४ साख्यतत्त्व-कौमुदी — डा० गजानन शास्त्री मुसलगावकर
चौखम्भा सस्कृत सस्थान, वाराणसी
षष्ठ सस्करण – सवत् २०५४

४५ साख्यकारिका भाष्य — गौडपाद गीता प्रेस गोरखपुर

४६ भारतीय दर्शन की रूपरेखा — एम० हिरियन्ना अनु० डा० गोवर्धन भट्ट
प्र० राजकमल प्रकाशन , नई दिल्ली
सस्करण छठॉ १६६७

४७ भारतीय दर्शन — डा० बी० एन० सिह
स्टूडेण्ट्स फ्रेण्ड्स एण्ड कम्पनी
लका, वाराणसी
षष्ठ सस्करण १६६०

४८ भारतीय दर्शन की रूपरेखा — प्रो० हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा
मोती लाल बनारसी दास, दिल्ली
सस्करण चतुर्थ १६६१

४६ ब्राह्मण एव बौद्ध विचारधारा का तुलनात्मक अध्ययन — डा० जगदीश दत्त दीक्षित
भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली
प्रथम सस्करण–१६७६

५० न्यायकुसुमाञ्जली — उदयनाचार्य अनु० श्री नारायण मिश्र
प्र० भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी

५१ ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्यम् (चतु सूत्री) — डा० रमाकान्त त्रिपाठी
उत्तरप्रदेश हिन्दी सस्थान लखनऊ
चतुर्थ सस्करण –१६६१

५२ जैन, बौद्ध, गीता के अचार दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन भाग–१ — जैन सागरमल
प्र० – राजस्थान, प्राकृत भारतीय सस्थान
सस्करण– प्रथम

५३ भारतीय दर्शन — आचार्य बलदेव उपाध्याय
चौखम्भा ओरिन्टालिया, वाराणसी
सस्करण तृतीय – १६८४

५४ साख्यकारिका — ईश्वर-कृष्ण
चौखम्भा सस्कृत सीरीज , वाराणसी

५५ भारतीय दर्शन	डा० उमेश मिश्र उ० प्र० हिन्दी सस्थान, लखनऊ सस्करण १९६०
५६ भारतीय दर्शन परम्परा और आदि ग्रथ	डा० हरवश लाल शर्मा नेशनल पब्लिशिग हाउस, नई दिल्ली
५७ धर्म– दर्शन की रूपरेखा	डा० हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा प्रकाशन– मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली सस्करण– १९९४
५८ भारतीय दर्शन के मूलतत्त्व	एम० हिरियन्ना अनु० प्रकाश नारायण शर्मा सेन्ट्रल बुक डिपो इलाहाबाद
५९ भारतीय चिन्तन परम्परा	के० दामोदरन प्रकाशन– पीपुल्स पब्लिशिग हाउस, नई दिल्ली
६० धर्म दर्शन का परिचय	एच० एन० मिश्रा प्रकाशन– शेखर प्रकाशन, इलाहाबाद सस्करण– १९९०
६१ पातञ्जल योग दर्शन	उदयवीर शास्त्री प्रकाशन– विरजानद वैदिक सस्थान, गाजियाबाद
६२ वेदान्त तत्त्व विवेक एक अध्ययन	डा० चञ्चल मिश्रा प्रकाशन– डिप्टी पब्लिकेशन दिल्ली सस्करण– १९८७
६३ वेदान्तसार	आचार्य बदरीनाथ शुक्ल प्रकाशन– मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली सस्करण–१९९९
६४ अद्वैत–वेदान्त की तार्किक भूमिका	डा० जगदीश सहाय श्रीवास्तव प्रकाशन– किताब महल, सरोजनी नायडू मार्ग इलाहाबाद सस्करण–१९९७
६५ समकालीन भारतीय दर्शन	बसन्त कुमार लाल प्रकाशन– मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली पुनर्मुद्रण १९९८
६६ मीमासा दर्शन	श्री राम शर्मा आचार्य सस्करण– सस्कृति सस्थान बरेली, उ०प्र०
६७ श्लोक वार्तिकम्	कुमारिल भट्ट प्रकाशन–पार्थसारथि द्वारा विरचित न्याय रत्नाकर व्याख्या सहित।
६८ समकालीन धर्म दर्शन	डा० याकूब मसीह प्रकाशन–बिहार हिन्दी ग्रथ अकादमी, पटना।

६६ भारतीय दर्शन	डा० वाचस्पति गैरोला प्रकाशन— लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद सस्करण— चतुर्थ
७० दर्शन का परिचय	डा० राजेन्द्र स्वरूप भटनागर प्रकाशन— राजस्थान हिन्दी ग्रथ अकादमी, जयपुर
७१ दर्शन की मूल धाराये	डा० अर्जुन मिश्र मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रथ अकादमी, भोपाल
७२ भारतीय दर्शन (मूलान्वेषण)	डा० विष्णुदेव उपाध्याय प्रकाशन— साहित्य सगम, इलाहाबाद
७३ षड्दर्शन रहस्य	प० रगनाथ पाठक बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना द्वितीय सस्करण—१६८६
७४ भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास	डा० नरेन्द्र देवशास्त्री एव डा० हरिदत्त शास्त्री प्रकाशन—साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ तृतीय सस्करण— १६७७
७५ योगसूत्रम्	पतन्जलि गीता प्रेस, गोरखपुर
७६ प्रदीपिका(योगसूत्र पर टीका)	भावागणेश चौखम्भा ओरियण्टालिया, वाराणसी
७७ न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका	वाचस्पति मिश्र प्रका० चौखम्भा ओरियण्टालिया, वाराणसी
७८ न्याय मन्जरी	जयन्त भट्ट चौखम्भा ओरियण्टालिया, वाराणसी
७६ वेदान्त दर्शन	डॉ० पॉल डायसन उ०प्र० हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ प्रथम सस्करण
८० वैशेषिक सूत्र (श्री नारायण मिश्र की प्रकाश टीका सहित)	कणाद्, चौखम्भा ओरियण्टालिया, वाराणसी
८१ वेदान्त ज्ञान मीमासा	घनश्यामदास रत्तनमल मलकानी मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल सस्करण —१६७३
८२ श्रीभाष्य	रामानुज गीता प्रेस गोरखपुर
८३ जैमिनी सूत्र	जैमिनि गीता प्रेस गोरखपुर

८४ पातञ्जल योगसूत्र	डा० पवन कुमारी गुप्ता ईस्टर्न बुक लिकर्स, दिल्ली प्रथम सस्करण
८५ न्यायभाष्य	स्वामी द्वारकादास शास्त्री सुधी प्रकाशन, वाराणसी प्रथम सस्करण।
८६ साख्य प्रवचन भाष्य(टीकासहित)	विज्ञान भिक्षु प्रकाशन– गीता प्रेस गोरखपुर
८७ भारतीय न्यायशास्त्र	डा० चक्रधर बिजल्वान उत्तर प्रदेश हिन्दी सस्थान, लखनऊ
८८ पूर्णप्रज्ञभाष्य	मध्वाचार्य चौखम्भा ओरियण्टालिया, वाराणसी
८९ वेदान्त पारिजातम्	निम्बार्काचार्य – गीताप्रेस, गोरखपुर
९० भागवत् तात्पर्य	मध्वाचार्य– गीताप्रेस, गोरखपुर
९१ अणुभाष्य	वल्लभाचार्य– गीताप्रेस, गोरखपुर
९२ नैष्कर्म्यसिद्धि	सुरेश्वराचार्य– गीताप्रेस, गोरखपुर
९३ माण्डूक्यकारिका	गौडपादाचार्य– गीताप्रेस, गोरखपुर
९४ शारीरक भाष्य	शकराचार्य– गीताप्रेस, गोरखपुर
९५ श्रीभाष्य	रामानुजाचार्य– गीताप्रेस, गोरखपुर
९६ सक्षेपशारीरकम्	सर्वज्ञात्ममुनि, चौखम्भा ओरियण्टालिया, वाराणसी
९७ वैशेषिक सूत्र	श्रीनारायण मिश्र की प्रकाशटीका सहित(चौखम्भा ओरियण्टालिया, वाराणसी)
९८ न्यायसूत्र	गौतम/वात्स्यायन भाष्य सहित(चौखम्भा ओरियण्टालिया, वाराणसी)
९९ प्राचीन भारत मे भौतिकवाद	डा० देवी प्रसाद, चट्टोपाध्याय पीपुल्स पब्लिशिग हाउस, नयी दिल्ली सस्करण – १९९०
१०० साख्य प्रवचन भाष्य कपिलकृत साख्यदर्शन	विज्ञान भिक्षु चौखम्भा ओरियण्टालिया, वाराणसी
१०१ तत्त्वार्थ सूत्र	'उमास्वाति' 'श्रुत सागरकृत' तत्त्वार्थवृत्ति सहित ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी।
१०२ न्यायभाष्यवार्तिक	उद्योतकर, काशी सस्कृत सीरीज बनारस सस्करण –१९१५
१०३ साख्यतत्त्वकौमुदी	डा० ओम प्रकाश पाण्डेय कृष्णदास सस्कृत सीरीज–८ चौखम्बा, वाराणसी

१०४	योगदर्शन समीक्षा	श्री कृष्णमणि त्रिपाठी कृष्णदास सस्कृत सीरीज–१५४ चौखम्बा, वाराणसी
१०५	मीमासा श्लोक–वार्तिक	कुमारिल भट्ट विरचित व्याख्याकार प० दुर्गाधर झा चौखम्बा सस्कृत सीरीज, वाराणसी
१०६	बौद्ध दर्शन मीमासा	आचार्य बलदेव उपाध्याय विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला चौखम्बा – दिल्ली
१०७	चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा	डा० सर्वानन्द पाठक विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला चौखम्बा – दिल्ली

इसके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थो से भी शोध प्रबन्ध को पूर्ण करने मे सहायता मिली है।